शिवानन्द

जीवन और सुख

जीवन और सुख

(सरस्वती-परिषद् द्वारा पुरस्कृत)

सादर भेंट

सम्मत्यर्थ

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
Head of the Hindi Deptt
वर्द्धमान कालिज
Vardhaman College
बिजनौर
Bijnor

शिवानन्द
प्रधानाचार्य निवास, (विजय नगर) मेरठ
(देवनागरी इन्टर कालिज, मेरठ)

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

मोतीलाल बनारसीदास
भारतीय संस्कृति के प्रमुख प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता
प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : (१) चौक, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना-४ (बिहार)

प्रथम संस्करण : फरवरी १९७२
द्वितीय संस्करण : मार्च १९७२
तृतीय संस्करण : जनवरी १९७३
चतुर्थ संस्करण : अगस्त १९७७

मूल्य : रु० २०.००

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५, फेस-१,
इण्डस्ट्रियल एरिया, नारायणा, दिल्ली-२८ द्वारा मुद्रित।

समर्पण

एवं

प्रणाम

विचार की गंगोत्री

जिज्ञासा

को

जिसने मन में एक अद्भुत उद्रेक उत्पन्न कर
जीवन और सुख की खोज में
साधना पथ पर आरूढ़ कर दिया,
जो गहन विचार-मन्थन के द्वारा वाणी के रूप में
प्रस्फुटित होकर सहसा प्रवाहित हो गई,
जिसने कृतार्थता का भाव जगाकर
स्वान्त:सुख के रूप में मधुर प्रसाद दे दिया
और जीवन में रस बन गई।

शिवानन्द

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य: (वेद)
मैं इस वाणी को मनुष्यमात्र के लिए दे दूँ।

उद्देश्य एवं अनुनय

जीवन एक अटपटी पहेली है। हम सब जीवित हैं; किन्तु प्राय: जीवन के उद्गम, रहस्य और उद्देश्य को नहीं समझते। कोई दु:खों में डूबा हुआ है, कोई सुखों में अपने को भूला हुआ है। आखिर, यह जीवन कहाँ से आया है, क्या इसका कोई उद्देश्य है और क्या हम इसे पूरा कर रहे हैं? ये कुछ मौलिक प्रश्न हैं जो युगों से पूछे जाते रहे हैं तथा जिनके विविध उत्तर भी दिये जाते रहे हैं। क्या मेरे पास इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर है? इसका निर्णय पाठकगण करें। किन्तु जहाँ तक मेरी अपनी बात है, मैं ऐसा कोई दावा नहीं कर सकता। निश्चय ही, मैं कोई विद्वान्, विचारक अथवा सन्त नहीं हूँ, न मेरे पास कोई असाधारण अथवा दैवी शक्तियाँ ही हैं। मैं साधारण मानवों की श्रेणी में भी एक नगण्य मानव हूँ। मेरे पिपीलिका-प्रयास का मेरे लिये तो महत्त्व है; किन्तु इस प्रयास के द्वारा कितनी मात्रा में मैं सत्य के समीप पहुँच सका हूँ, मैं नहीं जानता।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव, शिक्षा-दीक्षा, परिस्थितियों तथा युग की विशेषताओं से प्रभावित होता है। मैं भी अपवाद नहीं हूँ। यद्यपि मैंने पूर्वाग्रह, पक्षपात, मतों और वादों से ऊपर उठकर गवेषणा एवं भावाभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है तथापि मुझ पर भारतीय संस्कृति की एक गहरी छाप अवश्य है। कदाचित् उसके मूल तत्त्व मुझे रुचिकर प्रतीत हुए हैं तथा भारत के लिए उनका विशेष महत्त्व भी है। भारतीय विचारधारा गंगा की भाँति एक विशाल प्रवाह है जिसके स्रोत असंख्य ग्रंथ एवं अगणित महापुरुष हैं। प्रस्तुत पुस्तक कदाचित् एक लघु गंगाजली की भाँति है जिसे उस पवित्र प्रवाह में से भरने का प्रयास किया गया है। विविध वाटिकाओं से चुने हुए सुरभित सुमनों से (क्वचिन्दयतोऽपि) इसे अलंकृत करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

मैं कोई मौलिक विचारक नहीं हूं। अत: मौलिकता का दम्भ भी क्यों करूँ? उपदेश करने का दम्भ भी कैसे करूं? मैं उस दिक्सूचकस्तम्भ की भाँति हूँ जो अन्य सबको दिशा का संकेत करता है, किन्तु स्वयं तो किंचित् मात्र भी नहीं चलता है। मैं पाठकों से क्षमायाचनापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे विचार एवं

अनुभव की कसौटी पर कसकर ही इस पुस्तक में से जो ग्राह्य लगे उसे ग्रहण करें। इसमें जो अच्छा है, वह विद्वानों एवं सन्तों का है तथा जो बुरा है, वह निश्चय ही मेरा है। यह पुस्तक मेरे पूर्वप्रकाशित लेखों का संकलन है। मैं भावप्रकाशन से कृतकृत्य नहीं हो गया हूँ। मेरा उद्देश्य है सद्विचार का प्रचार। अतः जो सज्जन इसका रसास्वादन करें और प्रचार में सक्रिय योगदान कर सकें, मैं उनका कृतज्ञ हूंगा। मैं उन बन्धुओं का भी आभारी हूंगा जो अपने सुझाव एवं सम्मति भेजकर अगले संस्करण में मुझे भूल-सुधार करने में सहायता प्रदान करेंगे अथवा अन्य भाषाओं में इस पुस्तक का अनुवाद करने की कृपा करेंगे। अन्त में, मैं अपने सहृदय प्रकाशकों के प्रति भी आभार प्रदर्शन करता हूँ जिनसे मुझे मिशनरी प्रचार-कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है।

८ फरवरी १९७२

शिवानन्द
विजयनगर, मेरठ

द्वितीय संस्करण

पूर्वनिवेदित उद्देश्य एवं अनुनय की प्रबल पुनरावृत्ति करते हुए सहयोगी बन्धुओं के प्रति सादर कृतज्ञता प्रकाशन कर रहा हूँ। उन सज्जनों को जिन्हें यह पुस्तक वास्तव में उपयोगी प्रतीत हुई हो, उनके इस नैतिक कर्त्तव्य के प्रति जागरूक करना चाहता हूँ कि वे इस पुस्तक के प्रचार एवं सद्विचार के प्रसार में सक्रिय योगदान देकर मुझे कृतार्थ करें।

रामनवमी,
२३ मार्च १९७२

शिवानन्द

तृतीय संस्करण

मैं मैसर्ज मोतीलाल बनारसीदास का कृतज्ञ हूं कि इस पुस्तक के तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन उनके द्वारा हो रहा है। दो निबन्ध (राम की संघर्षशीलता तथा व्यक्तित्व का विकास) जोड़ दिये गये हैं। पुस्तक की लोकप्रियता मेरे लिये सन्तोष का विषय है।

मार्गशीर्ष, सं २०२९
दिसम्बर १९७२

शिवानन्द

चतुर्थ संस्करण

पुस्तक की वस्तु-सामग्री, आकार और स्वरूप का क्रमिक विकास हो रहा है। चतुर्थ संस्करण में विशेष संशोधन एवं परिवर्द्धन हुआ है। पुस्तक में आधुनिकतम ज्ञान का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक को १२ जून १९७४ को सप्रू हाउस दिल्ली में डा० सरोजिनी महिषी की अध्यक्षता में सरस्वती परिषद् द्वारा पुरस्कृत किया गया था। इसके अतिरिक्त केरल विश्वविद्यालय आदि ने इस पुस्तक अथवा इसके अंशों को पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है जिससे पुस्तक की गौरव-वृद्धि हुई है।

कुछ व्यक्तियों ने पुस्तक की सामग्री को ज्यों का त्यों अपने नाम से प्रकाशित कर दिया। विनम्र निवेदन है कि यदि पुस्तक के किसी अंश का उद्धरण देना है तो यथानियम उद्धरण चिह्न का प्रयोग करते हुए पुस्तक और लेखक का नाम दे देना चाहिए। यह सौजन्य है, औचित्य की मांग है।

यह पुस्तक मेरे जीवन के मिशन की पूर्ति का माध्यम है, अतः सभी से सहयोग की अपेक्षा है। अभी अन्य भाषाओं में अनुवाद होने का सुयोग नहीं हुआ है यद्यपि यह नितान्त अभीष्ट एवं आवश्यक है। सहृदय महानुभाव आगे बढ़कर सहयोग करेंगे, ऐसा विश्वास है। जीवन के उपासक को सत्य का संदर्शन तथा सुख की प्राप्ति हो, ऐसी कामना करता हूँ।

प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण प्रकाशित होने पर इस पुस्तक के समान ही एक अन्य लेख-संग्रह "जीवन और अभय" प्रकाशित हो रहा है जो इस का पूरक ही है।

—शिवानन्द

पवित्र संकल्प

व्रतानाँ व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् ।
तेनर्ध्यासम् इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।। (वेद)

हे व्रतपति परमात्मन्! मैं ग्राज से ग्रसत्य से सत्य की ग्रोर चलने का व्रत ग्रापके समक्ष ले रहा हूँ। ग्राप व्रतपति हैं, व्रतों का निर्वाह करते हैं। ग्रापसे निवेदन कर रहा हूँ। ग्रापका ऐसा ग्राशीर्वाद हो कि मैं सत्य के मार्ग पर ग्रागे बढ़ने के व्रत का पालन कर सकूँ।

सम्मति-सरित्

श्री शिवानन्द जी की पुस्तक 'जीवन और सुख' में वे सभी उच्च कोटि के गुण वर्तमान हैं जो कि हमारी सन्त परम्परा में महान् सन्तों की वाणी में देखने को मिलते हैं। इसके शब्द-शब्द में गम्भीर आस्था का बल, सात्त्विक सौन्दर्य का प्रकाश तथा उच्चतम प्रेरणाओं का ऐश्वर्य बिखरा पड़ा है। परम सन्त श्री शिवानन्द जी ने इसमें जिन विषयों का समावेश किया है, उनकी उपयोगिता आज के युग के लिए असंदिग्ध है। इस युगीन उपयोगिता के अतिरिक्त उसमें ऐसे शाश्वत चिन्तन के दर्शन होते हैं जो अपनी अनिर्वचनीयता के कारण मर्म को अनजाने ही बहुत गहरे स्पर्श करता है। कुछ ही पृष्ठों को पढ़ने के बाद मन ऐसे लोक में विचरण करने लगता है जहाँ दिव्य सौन्दर्य, आनन्द और प्रकाश की तर्कातीत अनुभूतियाँ हृदय को तन्मय कर देती हैं। कोई भी परिच्छेद ले लें, उसकी विशेषता लेखक की गहनतम अनुभूतियों की प्रामाणिक साक्षी के रूप में मन में घर कर लेती है। मुझे इसमें 'ध्यानदीप', 'राम की विनयशीलता', 'मानव और मानवता', 'अमर ज्योति—महात्मा गाँधी' विशेष आकर्षक लगे हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसके और परिच्छेद इनसे कम आकर्षक हैं।

मैं श्री शिवानन्द जी को उनकी इस अद्भुत सृजन क्षमता के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ। उनका प्रत्येक कथन इतना सरल, स्पष्ट तथा अन्तर्तम अनुभूति से पूर्ण है कि उसे मन स्वतः ही ग्रहण कर लेता है। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ को श्रद्धापूर्वक पढ़ने से युगजीवन की अनेक व्याधियों से मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। शुभमस्तु

के० जी० मार्ग, —**सुमित्रानन्दन पन्त**
इलाहाबाद, १६-३-७२ (महाकवि)

मैंने 'जीवन और सुख' पुस्तक का अध्ययन किया, बहुत प्रभावित हुआ और लाभ उठाया। यह पुस्तक अपने ढंग की हिन्दी भाषा में अनूठी है। चरित्र निर्माण के लिए इस पुस्तक का अध्ययन हर मनुष्य के लिये आवश्यक है। शुद्ध और सरल भाषा में इतने गूढ़ और उच्च विचार इतने रुचिर और स्पष्ट ढंग से लिखे गये हैं कि सहज ही चित्त को थाम लेते हैं। महात्मा शिवानन्द जी को, जिनके ये उद्गार हैं, मेरा शत-शत प्रणाम।

जबलपुर, २६-२-७२ —**विश्वम्भर दयाल**
मुख्य न्यायमूर्त्ति, उच्च न्यायालय
(मध्य प्रदेश)

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भांडार की श्रीवृद्धि यों तो अनेक साहित्य मनीषी कर रहे हैं और आए दिन इतनी पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं कि साधारण पाठक के लिये यह समस्या हो जाती है कि किसे वह पढ़े, किसे नहीं। चुने हुए मित्रों के समान ही चुनी हुई पुस्तकें भी हमारे लिए अच्छी जीवनसाथी बन सकती हैं, जो केवल आनन्द प्रदान ही न करें, किन्तु हमारा कल्याण भी करें।

बंधुवर शिवानन्द जी लिखित 'जीवन और सुख' कृति मुझे ऐसी ही कृति लगी, जिसे हम अपने अन्तरंग मित्र के समान संजो सकते हैं। यह मेरी अपनी राय है। बहुत दिनों पहले मैंने स्वेट मार्डेन की कृतियाँ पढ़ी थीं, जिनसे बड़ी उदात्त प्रेरणा मिली थी। इसी प्रकार की जीवन-निर्माण करने वाली कृतियाँ हमारी भाषा में भी लिखी जायें, बड़ी अभिलाषा थी। उक्त कृति को पढ़कर लगा कि उस अभाव की पूर्ति की दिशा में यह उचित चिन्तन है, और प्रकाशन भी। मैं लेखक तथा प्रकाशक दोनों को ही बधाई देता हूँ—इस सत्साहित्य के सृजन एवं प्रकाशन के लिए। अधिक से अधिक पाठक उनकी कृतियाँ पढ़कर अपने जीवन को संवार सकें तो एक बड़ी बात होगी।

'जीवन और सुख' के लेखक को मेरी हार्दिक बधाइयाँ। जिन्हें अपने जीवन के निर्माण में रुचि होगी, वे पाठक लेखक के प्रति आभारी होंगे, इसमें दो मत नहीं।

'जीवन और सुख' के विचारों से मैं अक्षरशः सहमत हूं और आज के कलियुग में, इस सतयुग की कृति को पाठकों के हाथ में देने के लिये लेखक का बारम्बार अभिनन्दन करता हूँ।

बिन्दकी, उत्तर प्रदेश **सोहनलाल द्विवेदी**

१६-३-७२ (राष्ट्रकवि)

मैंने श्री शिवानन्द जी की 'जीवन और सुख' शीर्षक पुस्तक देखी। लेखक ने भारतीय चिन्तन के विशेष तत्त्वों का ध्यान रखते हुए उनकी आधुनिक बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है। गम्भीर आध्यात्मिक विषयों की विवेचना के साथ उन्होंने 'मानसिक तनाव से मुक्ति' जैसे मनो-वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक विषय पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं।

विश्वास है, पुस्तक विद्वान् तथा सामान्य जनों को समान रूप से उपयोगी जान पड़ेगी।

—महादेवी वर्मा

(कवयित्री)

६-५-७२ उपकुलपति, प्रयाग महिला विद्यापीठ

१०६/१५३, हीवेट रोड,

इलाहाबाद

स्वाध्याय और अनुभव के आधार पर जो आध्यात्मिक सत्य आपने लिखे हैं, उनसे मेरे जैसे बहुतों को दिशा निर्देश मिलेगा। मैं आपकी कृति का प्रचार चाहता हूँ।

१३, विलिंगडन क्रीसेन्ट, नई दिल्ली —डा० **हरिवंशराय बच्चन**

७-४-७२

अध्यात्म साहित्य के मनीषी तत्त्वचिंतक भाई शिवानन्द जी की 'जीवन और सुख' पुस्तक देखी। मेरा भी यही विषय है, अतः पुस्तक पढ़कर आनन्द मिला। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? जीवन क्या है? कितने दिन जीना है, कैसे जीना है? इत्यादि प्रश्न प्रायः सहज ही लोगों के मन में उठते रहते हैं। इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिये हम भटकते हैं, विज्ञ और संतजनों के पास दौड़ते हैं और सद्साहित्य का अध्ययन करते हैं।

हमारी इन जिज्ञासाओं का बखूबी समाधान इस पुस्तक में हुआ है। संक्षेप में यह कृति षोडश दल कमल की भाँति हमारे सामने प्रस्तुत है। इसके सोलह लेख विभिन्न जीवन विधाओं से एक दूसरे से सम्बद्ध हमारा मार्ग दर्शन करते हैं।

मुझे आशा ही नहीं विश्वास है जीवन-सत्यों को समझने और शांतिमय जीवन यापन के इच्छुक पाठकों को यह कृति एक परम हितैषी मित्र के रूप में सहायक होगी। मैं इसके प्रचार का आकांक्षी हूँ।

२४-६-७२ —**डा० (सेठ) गोविन्ददास**

एम. पी. नई दिल्ली

आप जैसे संत-स्वभाव विद्वान ही ऐसी अनूठी वस्तु जनता को दे सकते हैं। धन्य हैं आप। जो इसका पठन-पाठन करेंगे, भवसागर से तरेंगे। मैं तो यह भी कहूँगा—

जिज्ञासा हो शान्ति की, सच्चे सुख की चाह,
इधर-उधर क्यों भटकते, पकड़ो सीधी राह।
पकड़ो सीधी राह, मोह-माया दुखदाई,
मानव जीवन क्या है? इसको समझो भाई।
आध्यात्मिक गुण-ज्ञान प्राप्त कर आगे बढ़िये,
'जीवन और सुख' पुस्तक शिवानन्द की पढ़िये।

—**काका हाथरसी**

२५-२-७२

आपकी पुस्तक 'जीवन और सुख' का मैंने आद्यंत पारायण किया। वास्तव में आपने इसमें मानव जीवन के विविध पक्षों को उत्कर्ष के उत्तुंग शिखर पर अधिष्ठित करने के लिये ऐसी विचार संजीवनी भरी है जो आज के भौतिक-वादी युग में नितान्त उपादेय हैं। जीवन के शाश्वत मूल्यों का इतना गहन और विशद चित्रण अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में आपके विचारों की उपादेयता सर्वथा असंदिग्ध है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

दिल्ली —**क्षेमचन्द्र 'सुमन'**

१-३-७२

पुस्तक के सभी निबंधों को मैं देख गया। बड़ी प्रसन्नता अनुभव हुई। सभी निबन्ध जीवन को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देते हैं। उनमें जीवन की जटिल समस्याओं पर विचार किया गया है, पर विचारों में कहीं भी अस्पष्टता नहीं है।

अपने ढंग का यह एक सुन्दर सुरुचिपूर्ण तथा विचार-प्रेरक संग्रह है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका सभी वर्गों तथा क्षेत्रों में स्वागत होगा और जो भी इसे पढ़ेंगे, उन्हें अवश्य लाभ पहुँचेगा।

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली —**यशपाल जैन**

१-३-७२

कुछ लेख पढ़ गया और कह सकता हूँ कि बहुत कुछ सीखा। यह ऐसी पुस्तक है जिसे मैं अपने समीप ही रखना चाहूँगा। चिन्तन के लिए यथेष्ट सामग्री है। मान्य ज्ञान ही नहीं, चिन्तन की प्रेरणा भी मिलती है।

दिल्ली —**विष्णु प्रभाकर**

१८-२-७२

अध्यात्मपरक, नैतिक सदुपदेश के अनूठे निबन्ध हैं। आशा करता हूँ जो जीवन में रुचि लेते हैं, उन्हें रुचेंगे।

दिल्ली —**प्रभाकर माचवे**

९-३-७२

आपकी 'जीवन और सुख' नामक पुस्तक पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। इसमें आपने जीवन की सात्विकता पर जो बल दिया है, वह उचित ही है। अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

१०-३-७२ **आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी**

निदेशक ऐतिहासिक हिन्दी व्याकरण कार्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्री शिवानन्द द्वारा लिखित 'जीवन और सुख' नामक पुस्तक आद्यन्त पढ़ गया। जीवन के विविध संदर्भों में तत्त्व चिंतन का यह रूप वास्तव में लेखक के 'ध्यानदीप' की ही शीतल और उज्ज्वल किरणें हैं। सोलह विषयों पर इतना सहज और स्वाभाविक अन्तर्दर्शन साधना के सोम की सोलह कलाएँ हैं।

मैंने यह पुस्तक बड़े मनोयोग से पढ़ी और मुझे सुख और सन्तोष के अनेक मनोरम क्षण प्राप्त हुए। शिवानन्द के नाम के अनुरूप इस पुस्तक में 'शिव' और 'आनन्द' दोनों ही की उपलब्धि होती है। विशेषतः 'ध्यानदीप', 'मानव में आध्यात्मिक संप्रेरण', 'मानव और मानवता', 'जीवन की परम साधना' तथा 'सुख की चाह और उसकी सच्ची राह' लेख वास्तव में जीवन में स्वस्थ दृष्टि प्रदान करते हैं। यदि इस पुस्तक में संचित विचारों को आचरण में उतारा जाये तो जीवन में सच्चे सुख के दर्शन हो सकते हैं।

मैं श्री शिवानन्द जी को इतनी सुन्दर पुस्तक लिखने पर हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि इस क्षेत्र में उनकी विचारधारा जीवन में सुख के अन्य क्षेत्रों में भी प्रवाहित होगी।

साकेत,
४, प्रयाग स्ट्रीट, इलाहाबाद-२
४-९-७२

—**डा० रामकुमार वर्मा**
एम.ए पीएच डी., साहित्य वाचस्पति,
पूर्व हिन्दी प्रोफेसर,
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, मास्को यूनिवर्सिटी
और पैरेदेनिया यूनिवर्सिटी
(श्रीलंका)

आपकी पुस्तक आपके गंभीर अध्ययन-मनन एवं आस्था-विश्वास की सूचना देती है। भाषा और शैली विशेष प्रशंसा के योग्य हैं। आप अपने पवित्र संकल्प की पूर्ति में निरन्तर अग्रसर रहें, इस हार्दिक शुभकामना के साथ,

दिल्ली
५-३-७२

—**डा० रमानाथ त्रिपाठी**
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

पुस्तक 'जीवन और सुख' में जिस प्रकार के आध्यात्मिक निबंधों का संग्रह है, वे आपके अपने अनुरूप और ज्ञान के आधार पर लिखे गये हैं। अतः विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। आज के भौतिक युग में इन विषयों पर ऐसे ढंग से ही विचार किया जाना चाहिये जो आज के सन्दर्भ में सुमान्य है। प्रसन्नता एवं गौरव की बात है कि आपको इस दृष्टि से सफलता मिली है। मैं इस पुस्तक के प्रचार का पूर्ण समर्थक हूँ।

कानपुर
८-३-७२

—**डा० विश्वनाथ गौड़**
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सनातन धर्म कालिज,
कानपुर

'जीवन और सुख' शीर्षक संग्रह ग्रंथ के कुछ निबंध मैंने पढ़े। इन रचनाओं में लेखक की विचारप्रणाली की आनुभूतिक मौलिकता एवं उसकी प्रकाशन पद्धति से मैं प्रभावित हुआ हूँ। व्यवहारवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय में लेखक का दृष्टिकोण प्रेरणाप्रदायक होगा—ऐसा मेरा विश्वास है। अवश्य ही सद्विचार के प्रचार में इन रचनाओं से योग मिलेगा। मैं इस स्वान्त:सुखाय ग्रथित कृति का हृदय से स्वागत करता हूँ।

२५-३-७२

—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
भू. पू. अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय,
औरंगाबाद, वाराणसी

इसकी सामग्री जीवन के लिये परम उपयोगी तथा प्रेरणादायक है। शैली प्रवाहपूर्ण और भाषा प्राञ्जल है। भारतीय विचारधारा की झलक दिखाना और सद्विचार का प्रचार करना इस पुस्तक का उद्देश्य है जिसमें लेखक को अद्भुत सफलता मिली है। हार्दिक बधाई।

कानपुर
७-३-७२

—पं० अयोध्यानाथ शर्मा
साहित्य वाचस्पति
भू. पू. अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
सनातन धर्म कालिज, कानपुर

आपका भेजा हुआ अमूल्य ग्रन्थ 'जीवन और सुख' वस्तुत: ज्ञान-वर्धक तथा लोक-हित-साधक है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ गया। इसमें आपने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों ही ज्ञान एवं भाव की निधियों को एकत्र कर दिया है। आपकी शैली भी प्राञ्जल है। जो भी इस ग्रन्थ को पढ़ेगा वह निश्चित रूप से लाभान्वित होगा। ऐसे अनुपम ग्रन्थ के प्रकाशन पर आपको भूरि-भूरि बधाइयाँ। आशा है आप सानन्द हैं।

११-११-७२

—डा० मुन्शी राम शर्मा
साहित्य वाचस्पति
भू. पू. अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
डी. ए. वी. कालेज, कानपुर,
८/७० आर्य नगर, कानपुर

श्री शिवानन्द जी शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'जीवन और सुख' को मैंने देखा। पुस्तक आदि से अन्त तक पवित्र विचारों से ओत-प्रोत है और पुस्तक के नाम के अनुरूप ही उसमें मानव-जीवन के स्वरूप और यथार्थ सुख की विवेचना, व्याख्या, शास्त्रीय दृष्टि से एवं रोचक शैली से की गयी है, जो लेखक महोदय की गहन चिन्तनशीलता और प्रगाढ़ विद्वत्ता की परिचायक है।

मानसिक तनाव से मुक्ति—यह अध्याय सभी कोटि के पाठकों के लिये दैनन्दिन जीवन की एक ज्वलन्त समस्या का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करता है।

मैं चाहता हूँ ऐसे जीवनोपयोगी साहित्य का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो और मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि यह पुस्तक अनुपम है।

देहरादून —**आचार्य वृहस्पति**, वेदशिरोमणि
२४-२-७२

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु (अ. १ ३१ ४)
हमारा संसार सुसम्पन्न और सुमतियुक्त हो।

मैं एक व्यस्ततम व्यक्ति हूँ। वेद-साध में इतना निरत हूँ कि भेंट किये प्रकाशनों का पारायण बहुत विलंब से कर पाता हूँ। पर, 'जीवन और सुख' का पारायण मैंने इसलिए शीघ्र किया कि उसके लेखक प्रिय श्री शिवानन्द ने मेरे हृदय में एक विशेष स्थान पाया है।

'जीवन और सुख' में लेखक की अपनी जीवन शैली की छटा तो है ही, जीवनसागर की गहन गहराइयों में गोते लगाकर बटोरे गये कुछ अमूल्य और मनोहर गौहर भी उसमें संजोये हुए हैं। 'सृष्टि की उत्पत्ति' लेख का अनुवाद तो संसार की सभी भाषाओं में किया जाना चाहिए और सभी नास्तिकों को उसे पढ़वाया जाना चाहिये।

वेद संस्थान, राजौरी गार्डन, —**विद्यानन्द विदेह**
नई दिल्ली १५-१०-७२

लेखक ने गहन अध्ययन, गम्भीर चिन्तन तथा आत्मानुभूति के पश्चात् ही लेखनी उठाई है। गहन विषय की भाषा प्राय: दुरूह हो जाती है, किंतु 'जीवन और सुख' में गम्भीर विषय प्रतिपादित हुआ है और भाषा स्पष्ट और सरल है।

६-८-७२ —**प्रो० परमात्मा शरण दुबे**
रामपुर गार्डन, बरेली

'जीवन और सुख' से बड़ा ही प्रभावित हुआ। 'सृष्टि की उत्पत्ति, मानव और ईश्वर तत्त्व' तो ज्ञान से भरा है। मनुष्य के लिए जो आज के भौतिकवाद में फँसा है जिसमें न वह रह पाता है और न निकल पाता है, बहुत ही उपयोगी है। समस्त पुस्तक विद्वत्तापूर्ण है तथा गहन अध्ययन एवं शान्त मनन की परिचायिका है। छोटे-छोटे निष्कर्षपूर्ण वाक्य ऐसे बन पड़े हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इतनी सरल भाषा में इतने कठिन विषय का निरूपण अनुत्तम है। मन को शत्रु न मानकर स्वान्तःसुखाय ही मानवीय वृत्तियों एवं शक्तियों का पोषण द्वन्द्वयुक्त गहन संसार की तमाम परेशानियों का निराकरण करने में सक्षम है। पुस्तक के समस्त अनुच्छेदों के पढ़ने के उपरान्त, किसी के भी ऐसे कष्ट जो कल्पनाप्रसूत अथवा चिंताजन्य हैं दूर हो जाते हैं और उन तमाम तनावों से मुक्ति मिल जाती है जिन्होंने मनुष्य का जीना दूभर कर रखा है। पुस्तक मनुष्य के जीवन में बहुत ही उपयोगी है। इसे लोग अधिकतम मात्रा में पढ़कर और अपनाकर लाभ उठायें। आपके स्तुत्य प्रयासों की सफलता इसी में है। परम सुन्दर ग्रन्थ के लेखन हेतु हार्दिक बधाई।

कानपुर

१९-७-७२

—सद्‌गुरु शरण

आदरणीय श्री शिवानन्द जी की अनुपम कृति 'जीवन और सुख' को बड़ी रुचि एवं ध्यान से पढ़ा है। मनोविज्ञान एवं दर्शन शास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मुझे यह स्वाध्याय बड़ा हृदयग्राह्य लगा है। मैं आजकल, भारतीय दर्शन की पाश्चात्य मनोविज्ञान को क्या देन है—इस दृष्टि से कुछ लिख रहा हूँ। इस संबंध में भी काफी ठोस सामग्री जो वास्तव में माननीय है मिली है। आपका चिन्तन बहुत गहन है।

इलाहाबाद

१६-८-७२

—डा० इन्द्रपाल सचदेव

एम.ए.,पीएच डी.

मनोविज्ञान प्रवक्ता

'जीवन और सुख' पढ़कर मैंने जीवन का सच्चा सुख पाया है। ऐसी पुस्तकें आज परम दुर्लभ हैं। यह पुस्तक मानव सुख और समृद्धि के लिए अमोघ उपाय एवं पथप्रदर्शक है।

२०-७-७२

—डा० परमेश्वर दयाल

एम.ए.,पीएच.डी.

न्यायाधीश,

पूज्य स्वामी श्री शिवानन्द जी को मेरा धन्यवाद । निस्संदेह पुस्तक श्रेष्ठ है और जीवन की दिशा बताने वाली है । हमारे आधारभूत जीवन के मूल्यों का इससे दिग्दर्शन होता है । मुझे पूर्ण आशा है कि पढ़ने वालों पर इसका बहुत अच्छा संस्कार पड़ेगा । पूज्य स्वामी जी को मेरा नमस्कार ।

केदारनाथ साहनी, महापौर

दिल्ली ५-८-७२ दिल्ली नगर निगम, दिल्ली

अनुपम भेंट, 'जीवन और सुख' प्राप्त हुई । धन्यवाद । पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ गया । यद्यपि मुझ जैसे अकिंचन, अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति के लिये आध्यात्मिक ज्ञान जैसे गहन विषय को समझ पाना कठिन ही है परन्तु सचाई के साथ इतना अवश्य कह सकता हूँ कि अल्पकाल के लिए तो मैंने अपने मन को एक विचित्र परमानन्द में विचरण करते हुए अवश्य अनुभव किया ।

मैं भारतीय जीवन दर्शन का पुजारी हूँ । मेरे लहू के कण-कण में सन्तों की वाणी व्याप्त है । आपके 'जीवन और सुख' को पढ़कर वह वाणी मानो अगणित स्वरों से गूँज उठी हो ।

आपने यह पुस्तक लिखकर मानव जीवन पर बड़ा उपकार किया है । आप सचमुच बधाई के पात्र हैं । पुस्तक अद्‌भुत है ।

मेरी शुभ कामनाएँ सदैव आपके साथ हैं ।

मानसिंह वर्मा

४-५-७२ संसद् सदस्य (राज्य सभा)

आपकी पुस्तक 'जीवन और सुख' साहित्य में ऊँचा स्थान रखेगी, विशेषतः विचारशील पुस्तकों में । आप जीवनमुक्त हो गये हैं, इस कारण आपको आध्यात्मिक विषय सहज और सरल हो गये हैं ।

२१-६-७२ —**जे. डी. शुक्ला,** आई.सी.एस.

अध्यक्ष, राजस्व परिषद्

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

यों तो जीवन में सुख की चाह में मानव अनादि काल से प्रयत्नशील है तथा सदा से ही सन्त, सुधारक एवं लेखक इस विषय पर विश्व का मार्ग दर्शन भी करते हैं, परन्तु भौतिकवाद से पीड़ित आज की मानवता को सुख शांति की सर्वोपरि आवश्यकता है । मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि वर्तमान के एक संत प्रोफेसर शिवानन्द ने पुनः ऐसा ही प्रयास किया है । शिवानन्द जी सन्त

होने के साथ-साथ एक धुरन्धर विद्वान् और अध्यात्मवादी तथा एक यशस्वी लेखक भी हैं। इस पुस्तक (जीवन और सुख) का संकलन कर उन्होंने मानव समाज की सराहनीय सेवा की है। प्रस्तुत विषय बड़ा ही गम्भीर है, विवादग्रस्त भी है; परन्तु लेखक की शैली तथा सरल वाणी ने इसे मधुरतम बना दिया है। सृष्टि की उत्पत्ति, ईश्वर तत्व, अध्यात्म जैसे गहन विषयों का विवेचन तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम एवं युग पुरुष महात्मा गाँधी के आदर्शों का सजीव चित्रण बड़ा ही रोचक है। स्वास्थ्य प्राप्ति के सात्विक उपाय तथा मानसिक तनाव से मुक्ति के साधनों पर लेखक के विचार सच्चे सुख की ओर सहज ही प्रेरित करते हैं।

ऐसी अनूठी हृदयग्राही एवं लाभप्रद कृति के लिए श्री शिवानन्द जी बधाई के पात्र हैं। मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि उनकी लेखनी इसी प्रकार मानवता के हित में सतत संलग्न रहेगी।

६-५-७२ —**प्राणनाथ कपूर**, आई ए एस.
आयुक्त, मेरठ मण्डल, मेरठ

मैंने पश्चिम के समग्र साहित्य में अभी तक ऐसी पुस्तक नहीं देखी जिसमें मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों एव आदर्शों की यथार्थ के धरातल पर ऐसी प्रबल प्रस्थापना की गई हो। 'सृष्टि की उत्पत्ति' जो समस्त नास्तिक जगत् के लिए एक खुली चुनौती है, निश्चित रूप से विश्व के साहित्य में अनुपम है। 'ध्यानदीप' में आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त करने का रहस्य ही खोलकर रख दिया गया है। मौलिक ढंग से कहीं हिंसा-अहिंसा की विवेचना की है, कहीं इच्छा और संकल्प के भेद को बताया है, कहीं प्रेम और मोह का अन्तर स्पष्ट किया है। ऐसा लगता है कि वेद, उपनिषद्, गीता आदि भारतीय सद्ग्रन्थों के सार को आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में सुग्राह्य एवं सुपाच्य बना कर रख दिया गया है। आध्यात्मिकता की ऐसी प्रबुद्ध किन्तु सरल एवं स्पष्ट व्याख्या अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती है। केवलमात्र भारतीय संस्कृति का ही नहीं, बल्कि मानवीय सिद्धान्तों का भी ऐसा प्रेरणादायक निरूपण कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं है। इस अमर रचना का संसार की सभी भाषाओं में अनुवाद होना चाहिये तथा घर-घर प्रत्येक नर-नारी को इसका अध्ययन करना चाहिये। लेखक के ज्ञान एवं अनुभूतियों की गहनता को देखकर आश्चर्य होता है। यह छोटी सी पुस्तक 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ कर रही है। भाषा और शैली में सात्त्विकता का ओज है तथा वह विषय सामग्री के अनुरूप है। पुस्तक मानव मात्र

के लिये उपयोगी सिद्ध होगी । मैं सन्त लेखक के प्रयास की असीम सफलता के लिये हार्दिक कामना करता हूँ ।

बाल्टीमोर यूनीवर्सिटी पार्क,
यू. एस ए.

—जे० डावरे

यह संसार क्या है ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? जितने दिन जीना है, कैसे जीना है ? लेखक ने इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया है । लेखक अध्ययनशील है । स्थान-स्थान पर दिये गये उद्धरण इस बात के साक्षी हैं । 'मानव और मानवता', 'जीवनयात्रा की परम साधना', 'सुख की चाह और उसकी सच्ची राह' और 'मानसिक तनाव से मुक्ति' शीर्षक लेख विशेष रूप से विचारोत्तेजक हैं ।

विचारों की स्वतन्त्रता की बात करने वाले अनेक लोग बहके हुए हैं । जो कुछ अपना है उसकी निन्दा और जो कुछ पराया है, उसकी प्रशंसा मानो यही उनका विचार सूत्र हो । इस स्थिति पर लेखक का यह कथन सही बैठता है कि हम विदेशियों के प्रमाणित करने पर ही अपने गौरव को पहचानते हैं ।

पुस्तक आधुनिकता की चकाचौंध से चुंधियाये हुए लोगों को मार्ग दिखा सकती है ।

—**"हिन्दुस्तान"** (रविवासरीय)

नई दिल्ली
२८ मई १९७२

तृतीय संस्करण पर सम्मतियाँ भेजने वाले महानुभाव

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली
२. श्री चन्द्रा जी राव इंगले, भोपाल
३. डा० एन०पी० कुट्टन पिल्लै, हैदराबाद
४. डा० पुष्प पाल सिंह, पटियाला
५. साप्ताहिक भारती, झांसी
६. श्री वियोगी हरि, दिल्ली
७. डा० अम्बा प्रसाद 'सुमन', अलीगढ़
८. डा० एन० चन्द्रशेखरन नायर, त्रिवेन्द्रम
९. डा० एन०ई० विश्वनाथ अय्यर, कोचीन
१०. डा० विशम्भर सिंह, यू० पी०
११. न्यायमूर्ति कृष्ण चन्द्र अग्रवाल, इलाहाबाद
१२. डा० मोती लाल जोतवाणी, दिल्ली
१३. श्री दुर्गा दत्त दुर्गेश, राजस्थान
१४. डा० राजमल बोरा, औरंगाबाद
१५. आचार्य शिव प्रसाद सिंह, जबलपुर
१६. डा० भीमसेन निर्मल, हैदराबाद
१७. डा० तपेश्वर नाथ, भागलपुर
१८. डा० शम्भुनाथ चतुर्वेदी, लखनऊ
१९. डा० शिवनाथ, शान्तिनिकेतन
२०. श्री रवि वर्मा, सं. युगप्रभात
२१. प्रो० कल्याण मल लोढ़ा, कलकत्ता
२२. श्री हरिहर दुरैस्वामी, तामिलनाडू
२३. डा० शंकर दयाल सिंह, पटना
२४. श्री ललित प्रसाद शर्मा, सं० संसारचक्र
२५. शिक्षा निदेशक (मा०) उ० प्र०, इलाहाबाद
२६. श्री जोगेन्द्र सक्सेना, नई दिल्ली
२७. डा० एन० रमन नैय्यर, कोचीन
२८. डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पूना
२९. न्यायमूर्ति महेश नारायण शुक्ला, इलाहाबाद
३०. श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, इलाहाबाद
३१. श्री पृथ्वी नाथ चतुर्वेदी, लखनऊ
३२. डा० निजामउद्दीन, श्रीनगर
३३. श्री कन्हैया लाल, मथुरा
३४. डा० उदय नारायण तिवारी, इलाहाबाद
३५. डा० सु० शंकर रामू नायडू, मद्रास
३६. प्रो० प्रेम स्वरूप गुप्त, गुजरात
३७. श्री प्रकाशवीर शास्त्री, नई दिल्ली
३८. डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, आगरा
३९. डा० स्टुअर्ट मैग्रेगर, कैम्ब्र०यूनी०
४०. डा० ओदोलेन स्मेकाल, जैकोस्लोवाकीया
४१. प्रो० क्राइस्टोफर आरकिंग, कैनाडा
४२. श्री शिवगुलाम, मारिशस
४३. श्री एस० एम० भगत, मारिशस

४४. श्री दयानन्द लाल बसन्त राय, मारिशस
४५. श्री प्रताप सिंह, फिजी
४६. श्री शालिग्राम सिंह, फिजी
४७. श्री आर०आई० कपाडिया, फिजी
४८. श्री पारगू, रंगून
४९. श्री हरबंस लाल सचदेव, बैंकाक
५०. प्रो० वेद प्रकाश बटुक, यू० एस० ए०
५१. प्रो० पीटर हुक, अमेरिका
५२. प्रो० एस० सी० आर० वेटमैन, लंदन
५३. 'अंग माधुरी' मासिक, पटना
५४. मासिक 'एकान्त', बरेली

"तृतीय संस्करण पर सम्मति भेजने के लिये हम इन महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करते हैं। स्थानाभाव के कारण उन्हें न छाप सकने के लिये क्षमा याचना करते हैं।"

—शिवानन्द

विषय सूची

१

मानसिक तनाव से मुक्ति

(कुछ व्यावहारिक तथ्य)

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सुख चाहता है तथा सुख प्राप्ति की दिशा में दिन-रात प्रयत्न करता है। किन्तु कभी-कभी मानसिक तनाव मनुष्य को सुख से दूर हटा देता है। क्या हम इस तनाव से मुक्ति पा सकते हैं? अवश्य ही। क्या हम खोये हुये आत्मविश्वास को भी पुनः पा सकते हैं? हां, निश्चय ही।

आप जीवन के अस्तित्व और सुख की चाह को तो स्वीकार करते ही हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष अनुभव आपको होता है। पुनर्जन्म आदि के कुछ सिद्धान्त तो विवादास्पद हो सकते हैं, वे सर्वमान्य नहीं हैं, किन्तु वर्तमान को सुखमय बनाने की मनुष्य की लालसा एवं क्षमता तो निर्विवाद है। सर्वप्रथम चिन्तन और अवधारणा की इकाइयों के रूप में परस्पर जुड़ी हुई लगभग बारह अरब कोशिकाओं से युक्त अत्यन्त संवेदनशील मानव-मस्तिष्क को व्यर्थ बोझ और तनाव से मुक्त रखने के उपाय करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक मस्तिष्क-कोशिका (न्यूरोन) एक अत्यन्त सूक्ष्म इकाई होती है जो जटिलताओं के कारण विराटतम संकलक (कम्प्यूटर) की अपेक्षा अनन्तगुणा विलक्षण होती है। कोई भी दो न्यूरोन समान नहीं होते हैं तथा प्रत्येक न्यूरोन में लगभग दो करोड़ आर. एन. ए. अणु होते हैं जिनमें से प्रत्येक जीव रसायन के चमत्कार से एक लाख प्रकार के प्रोटीन बना सकता है। चिन्ता और भय मानव के मस्तिष्क को, बोझ डाल कर, सतत क्षीण बनाते रहते हैं। आज की सभ्यता इस दिशा में मानव के लिये एक अभिशाप बन गई है। यदि आप निश्चय कर लें कि आप को चिन्ता एवं भय से मुक्त हो कर सुखी रहना है तो आप का जीवन सुखमय हो जायेगा। आप

विश्वास करें कि प्रकृति के सब से बड़े चमत्कार, मानव-मस्तिष्क, में समस्याओं को चुनौती देने और संकटों से जूझने की अद्भुत क्षमता है किन्तु आप का संकल्प करना आवश्यक है। अतः आप आज ही और अभी संकल्प कर लें कि आपको सुखी होना है और आप निश्चित रूप से सुखी हो सकते हैं। बस, अपने विचारों एवं सोचने के तरीकों में परिवर्तन लाने तथा जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल डालने की आवश्यकता है। धैर्य से काम लें और इस संकल्प को पूरा करके छोड़ें। कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर। समय पाय तरुवर फरै, केतिक सीचौ नीर। धैर्य रक्खो। धैर्य की महिमा अनन्त है। धैर्य के साथ विश्वास एवं आशा को भी दृढ़ रखना सीखें। धैर्य धारण करना कठिन होता है किन्तु उसके फल मीठे होते हैं।

जीवन का सार और सुख का रहस्य दो आंसुओं में निहित है—दूसरों के गम के आंसू पोंछकर प्रसन्नता का एक आंसू अर्जित करना तथा दूसरा आंसू एकान्त में भाव विभोर होकर प्रभु के प्रति कृतज्ञतापूर्वक बहाना कि उसने आपको सेवा करने का अवसर तथा उसके लिये क्षमता प्रदान की। बस इतना ही समस्त धर्मों का सन्देश है।

आज 'प्रोग्रेसिव' के नाम पर ईश्वरतत्त्व को नकारना एक फैशन हो गया है। ज्यों-ज्यों भौतिक प्रगति हो रही है, मानव की मानवता विलुप्त होती जा रही है। कलह और अशांति व्यापक रोग की भांति फैलते जा रहे हैं। अतएव आध्यात्मिकता की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। अशांति का उपाय आध्यात्मिकता है। धर्मों के नाम पर परस्पर घृणा का प्रचार करने वाले तथा युद्ध भड़काने वाले धर्म के तत्त्व एवं उद्देश्य को नहीं समझते हैं। सन्त किसी एक धर्म के खूंटे से नहीं बंधते हैं और सत्य का सत्कार करते हैं, वह चाहे जहां भी प्राप्त हो। एक सच्चा मानव मन्दिर, गिरजा, गुरुद्वारा, मस्जिद को समान रूप से पवित्र मानता है और यह स्वीकार करता है कि परमात्मा को अनेक रूपों में देखा जा सकता है तथा उसे अनेक मार्गों (धर्मों) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर ईश्वरतत्त्व को पहचानना तथा अपने स्वभाव के अनुसार उसके साथ एक व्यक्तिगत नाता स्थापित करना ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। देश, भाषा और ग्रन्थ में बाह्य पवित्रता खोजने वाले जरा आन्तरिक भावनाओं की पवित्रता का भी तो महत्व समझें। ईश्वर का सम्बन्ध भावना से ही है, भाषा आदि से नहीं। धर्म के नाम पर घृणा-प्रचार एक हास्यास्पद विडम्बना है।

ईश्वर सच्चिदानन्द है, असीम शक्ति का भंडार है। ईश्वर हमारे लिये एक अनन्त एवं अक्षय शक्तिस्रोत है। यदि आपका आत्मविश्वास विलुप्त हो चुका है, आप प्रभु भक्ति के द्वारा उसे पुनः प्राप्त कर सकते हैं। भावपूर्ण प्रार्थना

करना एक विचित्र संबल देता है। हम मंत्रबल को भी विस्मृत कर चुके हैं। मंत्रजप से अद्भुत शक्तियां जाग जाती हैं। दो चार दिन एक मन्त्र का जप करके ही हमें इसका अनुभव हो सकता है। मन्त्रजप के सहारे सारी भीतरी कुण्ठाएं परिसमाप्त हो सकती हैं तथा नूतन शक्तियों का प्रादुर्भाव हो सकता है। खेद, हम ईश्वरीय शक्तियों को भुला बैठे हैं। जरा मन के द्वार खोलें। शक्ति का एक असीम, अथाह भण्डार हमारे भीतर सुरक्षित है। हमें उससे सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर असीम शक्ति का अक्षय स्रोत है। हमें प्रभु की दयामयता में दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। प्रभु की सजीव उपस्थिति को अपने चारों ओर देखना और अनुभव करना चाहिये। ईश्वरीय शक्ति में आस्था रखना कठिन है किन्तु उसके लाभ अकल्पनीय होते हैं। हम उसके साथ सम्बन्ध जोड़कर शक्ति एवं शान्ति पाने के अधिकारी हैं। पिता की विरासत पुत्रों को सुलभ हो सकती है; किन्तु हम नाता तो जोड़ें।

जीवन में पल-पल नव-निर्माण हो रहा है। उत्साह की तरंगों से मन को तरंगित एवं आप्लावित कर दें। निराशा हमारे स्वभाव का अंग नहीं है, विजातीय है। निराशा को भगाओ, आशा को जगाओ, आज और अभी जगाओ। जीवन का यही संदेश है। हमारे मन में कोई पुकार-पुकार कर कह रहा है कि मानव को जीवन सुख से रहने के लिये मिला है, सुख मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह सृष्टि सुखप्रधान है, दुःखप्रधान नहीं है और मानव न केवल स्वभाव से सुख चाहता है, वह सुख पाने में सक्षम है। सुखवृत्ति को ठीक प्रकार से जगाकर वह खोये हुए सुख को पुनः पा सकता है।

जीवन एक सुनहला वरदान है। मानव को स्वस्थ एवं सुखी रहने के लिये ही यह स्वर्णिम अवसर मिला है। जीवन से बढ़कर अधिक मूल्यवान कुछ भी नहीं है। यदि आपका सारा धन लुट गया और जीवन शेष बचा है तो कुछ भी नहीं लुटा और सब कुछ शेष रह गया। जीवन का महत्व समझना चाहिये। जीवन में रुचि लेना आद्य एवं सर्वप्रथम आवश्यकता है। धर्म, कर्म, ज्ञान, योग, भोग, त्याग, मुक्ति इत्यादि सब कुछ बाद में हैं। जो जीवन में रुचि नहीं लेता है उसे जीने का अधिकार नहीं है तथा वह तो जिन्दगी के बोझ को ढोने वाला दयनीय पशु है। अपने जीवन को जैसा भी है, स्वीकार कर लेना चाहिये तथा अपनी परिस्थितियों को कोस कर अपने लिये नरक बना लेना नासमझी है। जीवन का पुजारी अवश्य ही सुख को प्राप्त कर लेता है। जीवेष्णा (जीवन की इच्छा) निराशा के लिये महौषधि होती है। जीवन के सौन्दर्य एवं आकर्षण को न जानने वाले मूढ़ जीवन से ऊब जाते हैं। अधिक से अधिक लोगों के लिये, विशेषतः अधिक से अधिक दीन-दुःखी जन के लिये, अधिक से अधिक उपयोगी बनने पर आपके जीवन में एक विचित्र माधुर्य उत्पन्न हो जायेगा और आपका जीवन

एक मधुर संगीत बन जायेगा। जीवन की सरगम पर कोई बेसुरा राग न अलापें, एक मधुर संगीत गायें। मानव भ्रांत विचारों तथा मूर्खतापूर्ण कर्मों के कारण इधर-उधर भटकता ही रहता है। ईश्वरतत्त्व हमें सुख का रास्ता दिखा रहा है, किन्तु हम तो जानबूझकर आंखें बन्द किये हुए बैठे हैं। उठो, जागो, आगे बढ़ो!

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठोपनिषद् ३:१४

हमारे विचारों, आशाओं, निराशाओं, भय, घृणा, क्रोध आदि मनोवेगों का प्रभाव हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग पर पड़ रहा है, हमारे स्वास्थ्य और मनोदशा पर पड़ रहा है, शरीर के एक-एक सैल पर पड़ रहा है, हृदय और मस्तिष्क पर पड़ रहा है, रक्त पर पड़ रहा है, स्नायु तन्त्र (नर्वस सिस्टम) पर पड़ रहा है। हमारे विचारों का प्रभाव हमारे व्यक्तित्व में झलक रहा है। जितनी बार भी हम चिन्ता में घबरा उठते हैं अथवा उत्तेजित होकर व्यर्थ ही घृणापूर्ण क्रोध में भड़क उठते हैं, उतनी बार हम मानो अपने ही शरीर से, मस्तिष्क से तथा प्रत्येक सैल से ही लड़ बैठते हैं। प्रत्येक चिन्ता और भय हमारे मन और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव छोड़कर जाते हैं। चिन्ता और भय हमारे स्नायु तन्त्र में कम्पन तथा रक्त में एक विषैला तत्व उत्पन्न कर देते हैं जो हमें जर्जर कर देते हैं। मानसिक तनाव से वृहदांत्र शोथ (कोलाइटिस), उदरव्रण, सिरदर्द, कमरदर्द, हृदयाघात आदि महारोग उत्पन्न हो जाते हैं। मानसिक तनाव का उपाय आत्मविश्वास ही तो है। आत्मविश्वास जगाकर आगे बढ़ें। सब लोग आत्मविश्वास से ही आगे बढ़ते हैं, अतएव किसी का खोया हुआ आत्मविश्वास लौटा देना उसकी सबसे बड़ी सेवा एवं सहायता है। हताश होना अथवा हताश करना अक्षम्य अपराध है। जहां आत्मविश्वास है तथा प्रभु पर विश्वास है, वहां चिन्ता और भय न रह सकेंगे। भक्ति भाव से ओत प्रोत हो कर कबीर कहते हैं:—

उस समरथ को दास हौं, कदै न होय अकाज।
पतिवरता नांगी रहै, वाही पुरुस को लाज॥

ईश्वरभक्त का विश्वास है कि उसका अकाज नहीं हो सकता है क्योंकि ईश्वर सर्व समर्थ है किन्तु यदि कुछ हानि हो भी जाये तो वह ईश्वर का ही प्रसाद है। विश्वास के प्रकाश में चिन्ता का अन्धकार लुप्त हो जाता है।

मानव जीवन में जो सफलताएं प्राप्त होती हैं वे ईश्वर की कृपा का फल हैं और जो असफलताएं प्राप्त होती हैं, वे ईश्वर की इच्छा का परिणाम हैं। —रामकृष्ण परमहंस

धीरे धीरे मस्ती को स्वभाव का अंग बना लें, मस्ती की आदत डाल लें। मस्त स्वभाव के बिना आप छोटी-छोटी बातों पर बड़ी चिन्ता करने लगेंगे, चिड़चिड़े हो कर लड़ने लगेंगे, दुःखी रहने लगेंगे और रक्तचाप आदि के शिकार हो जायेंगे। कुछ लोग छोटी सी मिट्टी की बमी पर ऐसे चढ़ते हैं जैसे पर्वत पर चढ़ रहे हों, छोटी सी बात पर ऐसी चिन्ता करते हैं जैसे घोर संकट आगया हो। मस्ती प्रभु के प्रति भक्ति और मनुष्यों के प्रति अथाह प्रेम जगाने से स्वयं आविर्भूत हो जाती है।

व्यर्थ ही निरन्तर गम्भीरता, गरिमा का भारी बोझ सिर पर उठाये हुए हम खिलखिलाकर हँसना भूल गये तथा बात-बात पर चिढ़ने लगे। चिढ़ाने वाला व्यक्ति दुष्ट और चिढ़ने वाला मूर्ख होता है। छोड़ो, छोड़ो चिढ़ना और चिढ़ाना। अपना लो हँसना और हँसाना। हास्य और विनोद को स्वभाव का अंग बना लो। कटुता का उत्तर मधुर भाषा में देना सीख लो।

सदा रोते रहने का स्वभाव मनुष्य को दयनीय बना देता है। ऐसे व्यक्ति के साथ कौन बैठना पसन्द करेगा जो दुःख की गाथा ही सुनाता रहता है तथा रोता ही रहता है। यदि कभी रोना भी पड़े तो प्रभु के समक्ष अकेले रो लेना चाहिये। कभी कभी रोना ठीक हो सकता है किन्तु सदा रोते ही रहना तो जीवन को बोझ बना देता है।

अपमान का भय, रोग का भय, मृत्यु का भय, अनेक प्रकार के भय हमें घेरे ही रहते हैं तथा सारा जीवन यों ही रोते, डरते बीत जाता है। भय बार-बार मन को विचलित कर देता है। भय भूखे भेड़िये की भांति मनुष्य के स्वास्थ्य और सुख को खा जाता है। चिन्ता हमें पंगु बनाये रखती है। काल्पनिक चिन्ताओं में हम अपनी जीवन शक्ति का क्षय करते ही रहते हैं। भय के कारण अपशकुन, भूत-प्रेत के भ्रम में पड़कर कभी किसी तिथि को, कभी किसी समय को, कभी किसी संख्या को, कभी किसी पशु को अशुभ कह देते हैं तथा बच्चों के कोमल मन पर भी कुप्रभाव डाल देते हैं। संसार में असंख्य ज्योतिषी और हस्त-रेखा-विशारद कहलाने वाले चतुर व्यक्ति दुःखीजन के दुःख का अनुचित लाभ उठाकर, उन्हें भयभीत कर उनका शोषण कर रहे हैं। जिन्हें अपने भविष्य का ज्ञान नहीं है, वे दूसरों के भविष्य का कथन करते हैं। मनुष्य का भविष्य हाथ की रेखाओं और ग्रहों द्वारा कदापि बांधा नहीं जा सकता है। मनुष्य की इच्छा शक्ति और पुरुषार्थ मनुष्य का भविष्य बनाती हैं, न कि उसके हाथ की रेखा और ग्रह। समझदार व्यक्ति ग्रह के चक्र से छूट कर ग्रहपति परमात्मा से नाता जोड़ता है। परमात्मा सर्वसमर्थ है। अज्ञात (ग्रहों और रेखाओं) के कुचक्र से छूट कर कर्म की ओर बढ़ना विवेक है। अनिश्चित का भरोसा करने से मन दुर्बल होता है। समस्या का उपाय तो पुरुषार्थ है। प्रारब्ध, नियति अथवा दैव अपना काम करे और हम अपना काम करें। हमारा श्रेष्ठ पथप्रदर्शक हमारा अपना उत्साह है। भविष्य वक्ताओं के कुचक्र में फंसना अविवेक (भटकना) है। अन्धविश्वास में पड़ना बुद्धि का अपमान है। बृहस्पति स्मृति में लिखा है कि शास्त्र की बातों को भी बुद्धिरहित होकर मानने से धर्म हानि होती है।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥

अर्थात् केवल शास्त्र का आश्रय ले कर कोई निर्णय नहीं लेना चाहिये। बिना युक्ति सोचे हुए विचार करने पर तो धर्म हानि हो जाती है। इसी प्रकार की एक अन्य उक्ति है:

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।।

अर्थात् जिसके पास प्रज्ञा (विवेक, विचार) नहीं है, शास्त्र उसका क्या उपकार कर सकता है? नेत्रों से विहीन व्यक्ति का दर्पण भी क्या उपकार करेगा? नेत्रों को बन्द करके मनुष्य प्रकाशित लैम्पपोस्ट से भी टकरा जाता है, दिन में भी भटक जाता है। सच्चा बुद्धि-जीवी कभी प्रज्ञा-नेत्र को मूंद कर नहीं बैठता है।

विवेक (सत्य का निर्धारण करना, ठीक और गलत का विचार पूर्वक भेद करने की शक्ति, गहरी समझदारी) का मूल्य पुस्तकीय ज्ञान से बढ़कर होता है। नियम-संयम मनुष्य के द्वारा ही मनुष्य के हित में बनाये गये हैं। बाधक हो जाने पर उनका संशोधन एवं परित्याग भी आवश्यक हो सकता है। नियम मनुष्य को जकड़ने और कुचलने के लिये नहीं हैं, विकास के लिये हैं। व्यक्तित्व का विकास होने पर अतिसंयम असंयम बन जाता है और अवरोधक हो जाता है। भीषण ज्वर में स्नान का आग्रह करना दुराग्रह ही है यद्यपि स्नान करना लाभकारी होता है। साधारणतः वचनपालन धर्म्य है किन्तु अज्ञान एवं अबोधता में दिये गये वचन का पालन घातक तथा मूर्खता का परिचायक हो सकता है (महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा गाण्डीव धनुष को निकृष्ट कहते ही अर्जुन ने प्रतिज्ञापालन हेतु उन्हें मारने के लिये धनुष उठा लिया किन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें ऐसा करने से यह समझा कर रोका कि वह प्रतिज्ञा ही अज्ञतापूर्ण थी।) विवेक को त्याग कर धर्म भी धर्म नहीं रहता है। बदली हुई परिस्थिति में, अवसर के अनुरूप, दुराग्रह छोड़कर अपने निर्णय एवं निश्चय को बदल देना व्यावहारिक होता है। "प्राण जांहि पर वचन न जांही" सब स्थानों पर लागू नहीं होता है। जीवन के अनेक क्षेत्रों में, विशेषतः राजनीति में, कोई निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं होता है। अनेक बार राष्ट्र के हित में युद्ध और संधि की जाती है जो पूर्व निर्णय के विपरीत होती है।

मनुष्य में जीने की इच्छा मृत्यु की लालसा से अधिक बलवती होती है। जीवन एक उल्लास है। तूफानी खुशी का दूसरा नाम जिन्दगी है। जीवन का गहरा, सच्चा और स्थायी सुख कब मिलता है? दूसरों के सुख के लिये जीने से। दूसरों को सुख देने वाला व्यक्ति कभी दुःखी नहीं हो सकता है। "न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" (गीता) अर्थात् दूसरों के सुख के लिए जीने वाला व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होता है। अपना अपमान करने वालों के भी दुःख में सुख ढूंढने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। जीवन का सत्कार करने

वाला सबसे प्रेम करता है, सबको यथाशक्ति, यथासम्भव सुख देने का प्रयत्न करता है। मानवमात्र के लिये प्रेम करना ही मानव का सबसे बड़ा बल है। जीवन दीर्घ हो या लघु, महान् होना चाहिये। सबसे प्रेम करने वाला, सबको सुख पहुंचाने वाला व्यक्ति सबसे बड़ा है। अच्छी प्रकार जिया हुआ लघु जीवन निरर्थक दीर्घ जीवन की अपेक्षा अधिक अच्छा है। जब तक जीवन रहे समस्त भय छोड़कर सबको सुख देते रहें। प्रभु से अपने लिये नहीं, दूसरों के लिये प्रार्थना करें। सबके लिये जीने वाला व्यक्ति मरकर भी अमर रहता है। दूसरों के लिये जीना, दूसरों के लिये प्रार्थना करना, दूसरों के सुख के लिये स्वयं दुःख उठाना, सच्चे सुख की सच्ची राह है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ समय के लिए अकारण ही मानसिक उदासी और उत्फुल्लता का दौर आता रहता है। उदासी के दौर में निराशा को घर करने न देना चाहिये तथा समझ लेना चाहिये कि यह दौर स्वयमेव निकल जायेगा।

सब प्रकार के पश्चात्ताप छोड़ दें। भूलों पर पछतावा करते रहने से शक्ति कुण्ठित होती है। हाँ, सत्पुरुष अपनी भूल को स्वीकार करने में नहीं हिचकता है क्योंकि भूल स्वीकार करने से मन हल्का होता है तथा सुधार प्रारंभ हो जाता है। भूल मानते ही गलत पग को पीछे हटा लेना तथा भूल करते न रहना शूरवीर का काम है। आगे संभलकर चलें और आगे बढ़ें। पूर्ण कौन है? किससे कभी भूल नहीं होती? कौन सदैव सफल होता है? भूल अथवा विफलता हो गयी तो आत्मग्लानि की क्या बात है? बीति ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि ले। सच्चा पछतावा वह है जो दोष को भस्म करके शीघ्र ही स्वयं भी विलुप्त हो जाये तथा आप भविष्य के लिये संकल्प ले कर शांत एवं शीतल हो जायें और तत्पश्चात् बार-बार भूलों को न याद करें, न दुःख मानें। विश्वास कीजिये प्रभु उन जघन्य अपराधों को भी क्षमा कर देते हैं जिन्हें मानव अक्षम्य समझता है, यदि आप सच्चे भाव से शरण में आकर पवित्र हो गये हैं। सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥ प्रभु शरणागत-भयहारी हैं। कोटि विप्र वध लागहिं जाहू। आये सरन तजउं नहिं ताहू॥ सनमुख होहि जीव मोहि जबही, जन्म कोटि अघ नासहिं तबही॥ जो व्यक्ति दूसरों को क्षमा कर देता है, वह भूल होने पर अपने को भी क्षमा कर सकता है। जो दूसरों को क्षमा नहीं कर सकता है, वह अपने को भी क्षमा नहीं करता है और वह जीवन को नरक बना लेता है। शोक, विषाद में पड़े रहना अविवेक का परिचायक है। विषाद की काली चादर को आपने स्वयं ही ओढ़ा है। इसे आप उतारकर फेंक सकते हैं। यदि सन्तों का भूतकाल दिव्य है तो तथाकथित पापी का भविष्य भी दिव्य हो सकता है। पुराने अपराधों की स्मृति का शमन (दमन नहीं) करने से आप अतीत से मुक्त हो सकते हैं। सच्चा पछतावा वह है जिससे निर्मल जीवन का उदय हो।

रोग होने पर रोग की चिन्ता करना उसे द्विगुणित कर देता है। रोग का उपाय अवश्य करना चाहिये किन्तु रोग का चिन्तन, उसकी बार-बार चर्चा करना और रोग से भयभीत होकर जीवन को सड़ा देना मूर्खता ही है। रोग के "मूड" में रहने से रोग बढ़ता ही है। होम्योपैथी, ऐलोपैथी आदि से बढ़ कर लाभकारी एपेथी (रोग की परवाह न करना) है। राम कृपा नार्सहिं सब रोगा। कुछ लोग नाजुक मिजाजी में रोगी बना रहना चाहते हैं। यह उनके लिये एक शान की बात होती है। ऐसे लोगों से सदा बचते रहें। उनके सम्पर्क से काल्पनिक रोग लगते हैं। मेरे एक पूर्वज इसी रोग से मर गये थे--ऐसा तर्क मूर्खतापूर्ण होता है। अमुक व्यक्ति जैसे रोग के लक्षण कहीं मुझ में तो नहीं हैं, कहीं मुझ में भी वह रोग तो नहीं आने लगा है, इस प्रकार अपने को दूसरे रोगियों के समान रोगी समझने लगना अथवा रोग के लक्षणों की मिथ्या कल्पना करना एक भयंकर भूल है। यदि आप चिकित्सक नहीं हैं तो व्यर्थ ही रोगों की सविस्तार जानकारी करने का प्रयत्न न करें, क्योंकि रोगों की जानकारी करते हुए आप अपने भीतर भी रोगों की मिथ्या कल्पना कर सकते हैं। ऐसे चिकित्सक को दूर रक्खें जो रोग को भयंकर कह कर उसे असाध्य बना देता है। "आप बहुत सोचते हैं, मन में ताना बाना करते रहते हैं, आप को भारी हृदय रोग है, आप की चिकित्सा करना कठिन है" इत्यादि अविवेकी चिकित्सक कहते हैं। किसी रोगी से अपनी तुलना न करें, स्वस्थ व्यक्तियों से प्रेरणा लें। प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति अलग अलग होती है। विश्वास रखने से भयंकर रोग भी ठीक हो जाते हैं। अतः ऋणात्मक चिन्तन करना सर्वथा त्याज्य है। अपने स्वस्थ हो जाने में, स्वस्थ रहने में, अनन्त और अखण्ड विश्वास रखें।

अपच और अनिद्रा चिन्ता के कारण उत्पन्न होते हैं तथा चिन्ता से ये उग्र रूप धारण कर लेते हैं। अनिद्रा में जप करने के लिये बैठ जायें। बैठकर केवल तटस्थ चिन्तन (अपने विचारों के साथ सहयोग न करते हुए, उन्हें देखते रहना) करने लगना भी मन को शान्त कर देता है। आखिर, मन के विचार तो आपके ही हैं। उनसे आप कब तक डरेंगे ? मन के विचारों को, वे जितने भी डरावने क्यों न हों, शान्त भाव से तटस्थ होकर बार-बार देखने से, उनकी भीषणता का शमन हो जाता है। मन के साथ समझौता तथा अपने साथ मेल करने का यही एक ढंग है। यदि मन के साथ मैत्री हो गई, आपने रोग और कष्ट पर आधी विजय पा ली। मन के साथ मित्रता करने का अर्थ है मन को जीत लेना। आपने एक साम्राज्य जीत लिया।

घृणा, क्रोध, भय, चिन्ता, ईर्ष्या-द्वेष, क्लेश आदि मनोविकार रक्त-संचार पर भी कुप्रभाव डाल देते हैं तथा मानसिक विकलता उत्पन्न कर देते हैं। यदि आपको एक बार कोई रोग हुआ था और अब पुनः उसका प्रभाव हो गया है तो

आप यह कल्पना न करने लगें कि पुनः रोग उग्र हो जायेगा। अब तो आपको आदत पड़ गयी और आप उस रोग का रहस्य जान गये। अतः विश्वास करें कि शीघ्र ही आप उस पर विजय पा लेंगे। सैंकड़ों लोगों की रोग से मुक्ति होती है, आपकी भी होगी। मन में यह विश्वास दृढ़ कर लें। मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।

चिन्ता और भय के वेग से रसों का स्राव अवरुद्ध हो जाता है, रक्त संचार बाधित हो जाता है और पाचन शिथिल हो जाता है। आप जैसा विचार करेंगे, वैसे ही बन जायेंगे। स्वस्थ विचार कीजिये और स्वस्थ बन जाइये। अपनी शक्तियों पर तथा प्रभु कृपा पर विश्वास कीजिये।

जब भय का राक्षस आपको घेर रहा हो, आप चुपचाप उसको सुन लें। भय आपके सामने आपकी दुर्गति के जिस भयानक काल्पनिक चित्र को प्रस्तुत कर रहा हो, उसे भी देख लें और जरा मन में फैसला कर लें कि आप उसके लिये बिल्कुल तैयार हैं। बस, इस राक्षस के प्राण निकल जायेंगे और इसकी मृत्यु हो जायेगी। भय के कारण आप तिनके को तलवार समझ रहे हैं, तिल को पहाड़ मान रहे हैं। आपने ही भय को पालकर अपने सीने पर शत्रु को खड़ा कर लिया था। आप ही उसे निकाल सकते हैं।

चिन्ता के स्थान पर चिन्तन करें, योजना बनाएं और कर्म करें तथा परिस्थितियों का सामना करें। चिन्ता एक काल्पनिक दैत्य है जिसे हमने स्वयं ही चिपटाया है। आखिर, पलायन कब तक करेंगे ? पलायन के स्थान पर साहसपूर्वक संघर्ष तथा कर्म करना सीखें। उत्साह आपका श्रेष्ठ मित्र है, आत्मविश्वास आपका सहोदर भ्राता है। इनका तिरस्कार न करें।

उलझन और समस्या बाहर संसार में नहीं हैं, मन में हैं। बाहर तो केवल परिस्थितियां हैं। उलझनों में फंस कर दम को घोट लेने के बजाय उन्हें चुनौती दे कर उनसे छुटकारा पा लेना मोक्ष है, मुक्ति है। निश्चिन्त, प्रफुल्ल मन स्वर्ग है तथा उलझा हुआ मन नरक है जिसके जिम्मेदार हम स्वयं हैं। अपनी उलझनों के लिये दूसरों को उत्तरदायी ठहरा कर, दूसरों को कोस कर, उलझनों का हल नहीं हो सकता है। हमारी उलझनें हमारे सुलझाने से ही सुलझेंगी। उत्साह, आत्मविश्वास और धैर्य से उलझनें हंसते हंसते सुलझ जायेंगी। सब कुछ खो कर भी परम मूल्यवान् जीवन तो अभी शेष है, जो वास्तव में सब कुछ है। हमें नये सिरे से शून्य से ही पुनः प्रारंभ करके चमक उठने के लिये तैयार रहना चाहिये। हम गिर कर फिर उठ जायेंगे——यह आत्मविश्वास समृद्धि का मूलमंत्र है। बाहर की कठिन परिस्थिति को चिन्ता के द्वारा मानसिक समस्या बना लेना अविवेक ही तो है। बाह्य स्थिति को वस्तुपरक (आब्जक्टिव) दृष्टि से ही देखना चाहिये, न कि व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) बना कर। कुछ लोग अपनी

तथा दूसरों की सुलझी हुई गुत्थी को फिर उलझा देने में निपुण होते हैं। 'मेरी हिम्मत देखिये, मेरा सलीका देखिये, जब सुलझ जाती है गुत्थी फिर से उलझा देता हूं मैं।' ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिये।

जब तक संकट न आये उसकी चिन्ता करना निराधार है और जब संकट आ जाये तब भय न करें। उत्साह से उसका सामना करें। भय संकट को उग्र तथा हमें दीन बना देता है। पहिले अपने भय को जीत लें। भय घर में घुसा हुआ हमारा भीषण शत्रु है। भय को भगाओ। भय से सन्देह उत्पन्न होता है और वह आत्मविश्वास एवं साहस को तोड़कर शक्ति को चाट जाता है, शक्ति के स्रोत को सुखा देता है। भय के कारण हम घटनाओं एवं व्यक्तियों को भीषण और अपने को असहाय समझ लेते हैं। सौ में से निन्यानवें बार हम व्यर्थ ही अनहोनी कल्पनाएं करते रहते हैं जिनका कोई आधार नहीं होता है। भयानक वस्तुस्थिति की अथवा किसी व्यक्ति की उपेक्षा तो कदापि न करें किन्तु व्यर्थ ही उन्हें अतिमहत्त्व भी न दें।

भय हमारी बुद्धि की हार है, हमारे आत्मविश्वास की हार है। मनुष्य सृष्टि का शृंगार है, किन्तु भयभीत मनुष्य तो सृष्टि की निकृष्टतम वस्तु है। भय एक मिथ्या, काल्पनिक भ्रम है। आत्मविश्वास में अनन्त शक्ति है। वह आपको ऊंचे ही ऊंचे शिखर पर ले जा सकती है। आत्मविश्वास को जगाना शुरू करें और कुछ दिनों में ही आप में परिवर्त्तन आ जायेगा। आत्मविश्वास आस्तिकता का प्रथम चरण है, आत्मविश्वास का अभाव नास्तिकता का प्रारम्भ है। "हां, हां, मैं क्या नहीं कर सकता हूं ? मैं अवश्य कर सकता हूं और सफल हो सकता हूं। मैंने बड़े-बड़े काम किये हैं, आगे भी कर दूंगा। प्रभु ने मेरा हाथ पकड़ रखा है, प्रभु कृपा मेरे साथ है।" भय की सीमा नहीं होती है, कहां तक भय मानें ?

प्रायः रात्रि के अन्धकार में निद्रा के समय भय और चिन्ता आकर हमें पकड़ लेते हैं। उस समय मन के द्वार में केवल हरिस्मरण का प्रवेश होने दें। मंत्रजप पहरेदार की भांति निद्रा की रक्षा करता है। अनिद्रा होने पर बेचैन न होना चाहिये, क्योंकि बेचैनी से उत्पन्न तनाव अनिद्रा को द्विगुणित कर देता है। इसे भी प्रभु कृपा से प्राप्त पूजा का सुअवसर मानकर लेटे हुए ही मंत्रजप प्रारंभ कर दें और जप करते ही रहें जब तक निद्रा आये। अपने मानसिक मंत्रजप को स्वयं सुनने का प्रयत्न करने से अचिर ही निद्रादेवी आपको अपनी गोद में ले लेती है। 'राम भरोस हृदय नहि दूजा', इसे जप करके देखें। निद्रा लाने के लिये नशीली चीज़ों का सेवन करना मानो खत्ती से खाई में गिर जाना है।

एक वकील महाशय को अनिद्रा ने बुरी तरह से सताया तो वे रात्रि में वकालत की पुस्तकों का गंभीर अध्ययन करने लगे। कुछ दिनों के बाद उन्हें रात को

पढ़ने की आदत पड़ गई और कुछ महीनों में वे कानून के प्रसिद्ध विशेषज्ञ हो गये। धीरे-धीरे वे बहुत विख्यात वकील हो गये और स्वयं ही उन्हें निद्रा भी आने लगी।

कुछ लोग तो अति व्यस्त रहने की शिकायत करते हैं कि वे काम के बोझ से दबे जा रहे हैं। प्रायः अच्छे काम का इनाम और अधिक काम होता है तथा खराब करने का इनाम काम न मिलना होता है, किन्तु यह शिकायत की बात नहीं है। काम करने से न केवल मनुष्य दक्ष होकर काम पर हावी हो जाता है बल्कि अन्य लोग भी उसे दक्ष मानकर उससे सलाह लेते हैं और उसका सत्कार करते हैं। काम को बोझ मानने से वह कष्टप्रद एवं शक्तिशोषक हो जाता है तथा रुचि लेने पर वह सुखप्रद बन जाता है। सामान्यतः परिश्रम करके ही अथवा अपने हिस्से का काम करने पर ही आपको भोजन करने का अधिकार है। बिना काम किये हुए धन कमाना, भोजन करना, अनधिकार चेष्टा है। काम तो आपको ही करना है, फिर रोकर क्यों करें, हंसकर क्यों न करें? अपने कार्य को तुच्छ अथवा छोटा मानना और अपने आप को कार्य की अपेक्षा बड़ा समझना चारित्रिक दोष है। काम को छोटा मानने से कर्तव्यपालन में शिथिलता आ जायेगी और मनुष्य को निकृष्ट बना देगी। प्रस्तुत कार्य को ठीक प्रकार करने से बड़े काम भी स्वयं मिलेंगे और उन्नति का मार्ग स्वयं खुल जायेगा।

भाग्यशाली हैं वे लोग जिन्हें चिन्ता करने की भी फुरसत नहीं मिलती है और जो अपने जीवन को भी अल्प मानते हैं तथा अभागे हैं वे लोग जो कार्य के अभाव में पर-निन्दा जैसी विध्वंसात्मक बातों में तथा व्यसनों में समय बिताते हैं या काल्पनिक दुःखों में ही पड़े रहते हैं। व्यस्त रहने वाले ही जीवन में कुछ कर पाते हैं तथा व्यस्त रहने वाले ही अधिक काम के लिये भी समय निकाल लेते हैं जबकि निठल्ले लोगों को आलस्य से ही फुरसत नहीं मिलती। जिसे काम मिल-गया, मानो उसे राम मिल गया। वास्तव में कार्य-भार हमें नहीं थकाता, अरुचि, चिन्ता और भय थकाते हैं। हाँ, आवश्यक दैनन्दिन कार्यों की सूची डायरी में लिख लेना चाहिये तथा कार्य सम्पन्न होने पर उसे डायरी में काट देना चाहिये। मस्तिष्क पर फालतू बोझ नहीं डालना चाहिये।

काम करने की लग्न के साथ विश्राम भी आवश्यक है। फौज का एक जमादार कभी छुट्टी ही नहीं लेता था। अफसर के इसका कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया--हुजूर, मुझे फिक्र है कि मेरी गैरहाजिरी में परेड कौन करायेगा? अफसर ने हंसकर कहा--जब तुम रिटायर होगे तब कौन करायेगा? काम में रुचि लेने का अर्थ यह नहीं है कि जीवन के अन्य पक्षों की अवहेलना की जाये।

हमें मित्रों के साथ तथा परिवार के बीच में रहने के लिये भी कुछ समय अवश्य निकालना चाहिये जब हम हास्य-विनोद से मन को प्रफुल्ल कर सकें। परिवार एवं मित्रवर्ग के संग-साथ में कुछ समय देते रहने से उनके साथ

सद्‌भावना बनी रहती है। परिवार एवं मित्रवर्ग के साथ सामंजस्य हुए बिना मनुष्य को बाह्य जगत् में सुयश पाकर भी कदापि शान्ति नहीं मिल सकती है। मित्र हमें फंसने और फिसलने से बचाता है और दुःख में सच्चा सहारा होता है। प्रकृति के सम्पर्क में आना तथा कभी-कभी मित्रों अथवा परिवार के साथ भ्रमण और विहार के लिये कहीं दूर जाना खोई हुई स्फूर्ति को पुनः वापिस ला देता है।

हमारे व्यवहार में, विशेषतः हमारी उन्नति होने पर, अहंकार की दुर्गन्ध नहीं आनी चाहिये। हमारा विनम्र और मधुर व्यवहार हमें न केवल आदर सत्कार सुलभ कर देगा, बल्कि हमें सुख एवं शांति भी प्रदान करेगा।

निर्धनता के कारण उत्पन्न हीन-भावना हमें सता सकती है। उसका उपाय पुरुषार्थ है। कल की चिन्ता तो न करें किन्तु योजनापूर्वक पुरुषार्थ करें। आलस्य के कारण धन न कमाने पर, भूखे-नंगे रहकर दुर्दशा में पड़े रहना और दीनता को संयम अथवा सादगी कहना भयंकर भूल है। नास्ति सिद्धिरकर्मणः। बिना कर्म किये हुए, बिना पुरुषार्थ किये हुए, कोई सिद्धि नहीं होती है। भोगवृत्ति तो बुरी है किंतु सबको मानसिक परिपक्वता के लिये आयु के अनुसार तथा सामाजिक स्तर के अनुरूप आवश्यक पदार्थों का उपलब्ध होना भी अभीष्ट होता है अन्यथा हीनता की भावना आ घेरती है। हां, धीरे-धीरे भोगों में से गुजर कर भोग से त्याग की ओर बढ़ना तथा भोगों के आकर्षण से छूटना भी व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक होता है।

कठिनाईयों का बहाना लेकर, हाथ पर हाथ रख कर बैठने वाले व्यक्ति का इस संघर्षमय संसार में जीने का अधिकार नहीं है। आलस्य छोड़ कर, दृढ़ संकल्प लेकर, लक्ष्य पूर्ति के लिये लग्न पूर्वक जुट जाने वाला व्यक्ति कठिनाई के राक्षस को ललकार कर चुनौती दे देता है और उस पर विजय पा लेता है। दुर्गम शिखरों पर चढ़ जाना अद्‌भुत विजयोल्लास देता है जिसका बोध आलसी एवं कायर को कभी नहीं होता है। सुविधा के स्वर्ग में रहने की अपेक्षा कठिनाई के नरक को स्वर्ग बना देना मानव के लिये कहीं अधिक गौरव पूर्ण है।

हमें धन को विशेष महत्व न देना चाहिये, न किसी व्यक्ति को केवल धन संग्रह कर लेने के कारण ही कोई विशेष महत्व देना चाहिये। बैंक बेलेंस का चाव हमें अमानुषिक बना देता है। धन साध्य नहीं है। धन से न महानता प्राप्त होती है न सुख। धन स्वयं एक समस्या है और प्रायः धन पाकर लोग असन्तुलित हो जाते हैं, मानवता खो बैठते हैं, अपने लिये तथा समाज के लिये दुःखदायी हो जाते हैं। धन एक वरदान है तथा अभिशाप भी—यह आप पर निर्भर है। क्या धन के बिना भी आप का कोई अपना महत्व है? धन एक अभिशाप है यदि व्यक्तित्व खोखला है। धन का सदुपयोग आपको तथा समाज को सुख दे सकता

है। उचित प्रकार से पर्याप्त धनार्जन करना और परिश्रम के बाद जो कुछ मिले उसमें सन्तोष करना सब प्रकार से हितकर होता है।

स्वाभिमान के नाम पर मिथ्या अहंभाव जगाना मानसिक क्लेश का कारण बन जाता है। झूठी शान सदा दुःख देती है। समझदार व्यक्ति झूठी अकड़ के कारण अपना काम नहीं बिगाड़ता है। कभी कभी "मूछें नीची, झंडा ऊंचा" को मान कर कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये। हनुमान ने सुरसा के साथ यही नीति अपनाकर उस पर विजय पाई और कार्य सिद्धि की। झूठी शेखी में आकर न जाने कितने लोग दुर्गति को प्राप्त होते हैं। झूठी शेखी में आकर गर्म काफी एकदम पी लेने पर प्राण गंवाने जैसी अनेक घटनाएं होती रहती हैं। झूठी शेखी ने अगणित घर बरबाद कर दिये। "सकल सोक दायक अभिमाना"। उचित मात्रा में धन कमाकर दान के द्वारा रिक्त होना तथा सादगी के आदर्श की ओर बढ़ना महानता है किन्तु आलस्य के कारण स्वयं भूखे मरना तथा दूसरों को गाली देना आत्मप्रवंचना है। धन कमाना बुरा नहीं है, धन का दुरुपयोग करना बुरा है, शोषण बुरा है। धन का मोह बुरा है, धन का अहंकार बुरा है।

यदि प्रयत्न करने पर भी किसी क्षेत्र में परिस्थिति न सुधरे अथवा प्राकृतिक आघात, दुर्घटना आदि के कारण कोई वास्तविक विवशता हो तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये और उससे लज्जित अथवा दुःखी होना अव्यावहारिक है। हमें समझ लेना चाहिये कि जिन्दगी की बेल के सभी अंगूर मीठे नहीं हैं; कुछ मीठे हैं और कुछ खट्टे भी हैं। दुःख और सुख जीवन के अविभाज्य अंग हैं और हमें निराशा, अपमान एवं दुख को जीवन का अपरिहार्य अंग मान कर स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं और शोक संतप्त हो कर विनष्ट हो जायेंगे। विवशता एवं असाध्यता के साथ समझौता कर लेना, उसे सहर्ष अपना लेना बुद्धिमत्ता है। जीवन में यथार्थता को स्वीकार कर लेना और उसके साथ समायोजन (एडजस्टमेन्ट) करके सन्तोष धारण कर लेना सुख-शान्ति की दिशा में एक आवश्यक पग है। समझौता तो पग पग पर आवश्यक होता है। सुखी एवं स्वस्थ जीवन समझौतों की एक शृंखला है। जीवन का उद्गम भी स्वयं समझौता है। समझौता जीवन का प्रमुख सिद्धान्त है।

किसी भी भारी विफलता को पूर्ण पराजय मान लेना एक भयंकर भूल है। विवेकशील व्यक्ति किसी भी स्थिति को जय-पराजय की तराजू में नहीं तोलता है। उसे तो प्रत्येक फल में प्रभु इच्छा का दर्शन होता है जिसे वह सहर्ष शिरोधार्य कर लेता है। वह अन्याय के प्रतिरोध में संघर्ष करता है किन्तु फल को स्वीकार कर लेता है। वह संघर्ष को कोसता नहीं है, उसका स्वागत करता है क्योंकि उससे व्यक्तित्व में निखार आता है।

अपने आप को गाली देना, अपने भाग्य को कोसना तुरन्त छोड़ दें यदि

आपने जीवन में सुख की ओर बढ़ने का संकल्प किया है । प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहना मानो दुर्भाग्य को भी चुनौती देना है । वह इंसान क्या जो ठोकरें नसीब की न सह सके । दरियाए तूफान में किश्ती छोड़कर उस मालिक के सहारे मौज और मस्ती में रहना चाहिये । मुसीबत में बशर के जौहरे मर्दाना खिलते हैं, मुबारिक बुजदिलों को गर्दिशे किस्मत से डर जाना । मुसीबत की चुनौती स्वीकार कर उसका डट कर मुकाबला करना चाहिये । परीक्षा के समय भाग खड़े होना अथवा रोने लगना कायरता है । लोग जिसे सौभाग्य कहते हैं वास्तव में वह परिश्रम का फल होता है, अवसर का सदुपयोग होता है ।

जिन्दगी हिम्मत का सौदा है । प्रयत्न करने पर भी बार-बार विफल होने के कारण जब दिल टूट रहा हो, तब भी गिर-गिर कर अपने को संभाल कर उठ खड़ा होना चाहिये और संकट की चुनौती को स्वीकार करके आगे बढ़ते रहना चाहिये । जीवन का प्रवाह गतिमान रहता है तथा व्यक्ति एवं स्थिति स्थिर नहीं रह सकते हैं । जो आगे नहीं बढ़ रहा है वह पीछे या इधर-उधर हट रहा है तथा पतन के समीप आ रहा है । इंसान को हिम्मत से आगे ही आगे बढ़ते रहना चाहिये । जीवन में साहस और धैर्य ज्ञान की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं । धैर्य का अर्थ है शांतिपूर्वक कष्ट सहन करना तथा पुनः प्रयत्न करना । अपनी मंजिल तय करते हुए लक्ष्य की ओर हौसले से आगे बढ़ते रहने में ही जीवन का सुख छिपा पडा है । मंजिल पे जिन्हें जाना है, शिकवे नहीं करते, शिकवों में जो उलझे हैं, पहुंचा नहीं करते । एक कहावत है हिम्मते मरदां, मददे खुदा । हिम्मत करने वाले को ही प्रभु की सहायता मिलती है । जब मित्र तथा सम्बन्धी वचन और आश्वासन देकर भी धोखा करें, इससे हम मन में आघात न मानें बल्कि संसार के यथार्थ रूप को समझें, स्वार्थरत जगत् को समझें और जीवन की वास्तविकता को स्वीकार करें । विचित्र विडम्बना तो यह है कि उन धोखा देने वाले बहुरूपियों से भी स्थायी लड़ाई मोल नहीं ली जा सकती है और सावधान रहते हुए फिर उनके साथ काम चलाना पड़ता है । सत्पुरुष मन में कटुता नहीं आने देते हैं ।

यदि कोई वस्तु टूट जाये अथवा खो जाये अथवा कोई क्षति हो जाये, उस पर क्लेश करना भी सुख वृत्ति को लात मारना है । यदि बच्चे या नौकर से कुछ टूट गया तो बस घर में उस पर आपत्ति आ गई और कोहराम मच गया । यह त्याज्य है ।

अपने से छोटे, अपने अधीनस्थ एवं आश्रित जन के साथ बड़ा होने के कारण कठोर व्यवहार करना सब को आपका विरोधी बना देगा । जहां संकेतमात्र से अथवा मुस्कान मात्र से आज्ञा पालन हो रहा हो, वहां मुंह चढ़ा कर तथा घुड़क कर आज्ञा देना नासमझी है । चतुर सवार घोड़े को मामूली लगाम हिलाने से

मुड़ने, चलने और रुकने का आदेश दे देता है तथा मूर्ख सवार चाबुक मार मार कर उसे चाबुक की आदत डाल देता है। आपके अधीनस्थजन, (घर में या दफ्तर में) आपके छोटे भाई, बहन, बच्चे और परिचारक आप से प्रेम करना चाहते हैं, आपका कृपा पात्र बनना चाहते हैं और संबन्ध को प्रगाढ़ करना चाहते हैं, किन्तु आप उन्हें दुर्नीति एवं दुर्व्यवहार से अपना विरोधी बना देते हैं। उनको उचित आदर दें, उनके मन में अपने प्रेम की मोहर लगा दें तथा मधुरता से उन्हें जीत कर ही उनसे काम करायें। छोटा समझ कर उपेक्षा करना भूल है। एक छोटा सा तिनका आंख में या दांत में घुस कर परेशान कर सकता है। इसके अतिरिक्त हर समय हुकूमत का वातावरण बना कर घर में तनाव रखना अपना और सब का काम बिगाड़ना है। मुस्करा कर बोलना, व्यवहार करना सीखें। प्रेम पूर्वक मुस्कराइये और हृदय जीतिए। प्रशासक प्रायः यह समझते हैं कि अधीनस्थ जन को बहुत फासले पर रखकर, उन पर चाबुक चला कर, उनको खेंचे रह कर और उन्हें परस्पर लड़ा कर शासन चलता है। यह क्षुद्रनीति है, आत्मघातक भूल है। सदैव सावधान रहना तथा आवश्यकता पड़ने पर कठोर होना उचित है किन्तु मन में भीतर सब के प्रति प्रेम, क्षमा और उदारता होनी चाहिये। प्रशासक को अपने प्रति सद्भाव (गुडविल) की संरक्षा करनी चाहिये क्योंकि संघर्ष होने पर यह नैतिक शस्त्र परम सहायक सिद्ध होता है। सामान्यतः अधीनस्थ व्यक्ति पर, जो जहां बैठा है, विश्वास करना चाहिये। प्रशासक द्वारा अपने स्थान पर बैठे हुए (आन द स्पाट) व्यक्ति का विश्वास, भरोसा एवं सत्कार करने पर उसका महत्व बढ़ेगा और कार्यदक्षता बढ़ेगी। अधीनस्थ जन के दुःख-सुख में अवश्य सम्मिलित होना चाहिये और उनके परिवारों की उन्नति में रुचि लेना चाहिये। मुस्कान के संकेत से आदेश देना चाहिये। यदि कठोरता दिखाना हो तो मुस्कान न देना ही पर्याप्त है। अतिकठोर, मर्मघाती शब्द कदापि न कहने चाहियें। धीरे धीरे और मधुरतापूर्वक बोलना वातावरण को मधुर बना देता है। यदि एक दो व्यक्ति दुष्टप्रकृति हैं तो उन्हें उनके साथी (अधीनस्थ जन) ही ठीक कर लेंगे। सद्भावना न छोड़ें। यदि बड़ा क्षमाशील नहीं है तथा नीचे स्तर पर उतर कर बदला लेता है, वह बड़ा होने का अधिकारी नहीं है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में कौन क्या कर रहा है, क्या खाता है, कैसे रहता है, इससे आपका सम्बन्ध ही क्या? आप क्यों परेशान हो रहे हैं और क्यों इसकी चर्चा कर रहे हैं? यदि सामाजिक अन्याय हो केवल तब ही आपको बोलना चाहिये।

यथासंभव किसी की बुराई की चर्चा न करो, न बुराई देखो, न बुराई सुनो। किसी की बुराई में रुचि लेने से हमारे मन पर बुरे संस्कार पड़ जाते हैं, हमारे

भीतर भी बुराई आ जाती है। हां, स्वस्थ आलोचना जो सद्भावना प्रेरित हो और मधुरता से ओतप्रोत हो हितकर होती है।

संसार में अधिकांश लोग अपने-अपने स्वार्थों में फंसे हुए हैं तथा जहाँ भी किसी का कोई स्वार्थ टकराता है, वह आपकी व्यर्थ निन्दा शुरू कर देता है। मनुष्य किस-किस क्षेत्र में कहाँ तक हटे ? संघर्ष करना जरूरी हो जाता है। संघर्ष से व्यक्तित्व निखरता है और प्रभाव बढ़ता है। संघर्ष में साथी और विरोधी भी परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। जो कल विरोधी था वह आज साथी हो सकता है और जो कल साथी था वह आज विरोधी हो सकता है। केवल मित्रता स्थायी होती है किन्तु मित्र तो जीवन में एक-दो ही होते हैं। उदारताजन्य सद्भावना सबके लिये होनी चाहिये यद्यपि मित्रता तो एक-दो से ही हो सकती है। उदारता अथवा सद्भावना का अर्थ तुष्टीकरण कदापि नहीं होता है।

संघर्ष में अपराध वृत्ति वाले (क्रिमिनल) दुष्टों का सहारा लेकर विजय पाने पर भी आपको एक दिन पराजय का मुंह देखना पड़ेगा क्योंकि वे अन्त में आपको भी शिकार बनाये बिना न रह सकेंगे। संघर्ष में यह भी स्मरण रखना उचित है कि किसी व्यक्ति के प्रति मन में घृणा और क्रोध नहीं बसा लेना चाहिये तथा घृणा और क्रोध से प्रेरित होने के बजाय न्याय एवं सत्य से प्रेरणा लेनी चाहिये। हम समाज हित में, न्याय के समर्थन में, दुष्ट को दण्ड दें किन्तु घृणा अथवा बदले की भावना से किसी को नष्ट करने के लिये उतारू न हो जायें। ईश्वर जिसे आयु और आजीविका प्रदान करता है हमें मूर्खतावश उसके साथ एक क्षण भर में ही उकताहट हो जाती है। जिसे प्रभु जीवन का अवसर दे रहा है, हमें उससे घृणा करने का अधिकार नहीं है।

धीरे-धीरे जब मनुष्य विचार क्षेत्र में ऊंचे स्तर पर आ जाता है तब वह जीवन में अधिक उदात्त होकर तथा अधिक ऊंची वस्तुओं में रुचि लेकर तुच्छ प्रकार के संघर्ष करना छोड़ देता है तथा अधिक उपयोगी दिशा में संघर्ष करना प्रारम्भ कर देता है। यह पलायन नहीं, बुद्धिमत्ता होती है, जीवन में स्वस्थ मोड़ होता है। इसे पलायन कहना भूल होती है। पलायन के मूल में भय होता है तथा मोड़ का कारण होता है मन का ऊंचे धरातल पर पहुंचना। सन्त वृत्ति अपनाने पर तथा आध्यात्मिक रुचि ग्रहण कर लेने पर, मनुष्य धन अथवा पद आदि के लिए लौकिक संघर्ष से अधिक से अधिक संभव सीमा तक हटकर ध्यान के अभ्यास, प्रार्थना, परोपकार, ज्ञान-साधना आदि में जुट सकता है। यह रुचि परिष्कार कहलाता है।

अपनी रुचियों को खोजकर उन्हें उचित दिशा देने से विशेष सुख मिलता है। यदि आप में कलाकार, चित्रकार, वैज्ञानिक, विचारक, कवि, सामाजिक

कार्यकर्ता छिपा पड़ा हो तो उसे जगायें। यश की इच्छा छोड़कर अपने व्यक्तित्व की गहरी मांगों को तन्मयता से पूरा करके उसका विकास करना मानो ईश्वर की योजना को पूरा करना है तथा प्रगाढ़ सुख की ओर बढ़ना है।

यदि ईमानदारी, सच्चाई और योग्यता होने पर भी उन्नति न मिले तो उसे ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार करें तथा ईमानदारी को न कोसने लगें। ईमानदारी का फल सदा मीठा ही होता है। प्रभु आपको किसी अन्य रूप में (स्वास्थ्य, यश, पुत्रादि की उन्नति) पुरस्कार देगा। वास्तव में सुख मन की एक आन्तरिक अवस्था है जो बाह्य पदार्थों पर निर्भर नहीं है तथा चरित्रवान् व्यक्ति को वह सहज ही प्राप्त हो जाती है। आन्तरिक सुख ही चरित्र का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार होता है। जिनके पास धन और ऐश्वर्य है किन्तु आन्तरिक सुख नहीं है, वे अभागे हैं। भीतर का धन ही सच्चा धन है।

यदि आप ईमानदार हैं तो इसका अभिमान न करें। कभी-कभी ईमानदार लोग अव्यावहारिक होकर कठोर बन जाते हैं और ईमानदारी की धुन में अपनी दया, करुणा एवं सहयोग की भावना को खो बैठते हैं तथा दूसरों पर सन्देह करने, दूसरों से घृणा करने लगते हैं। ईमानदारी होने के अतिरिक्त उचित सहायता, सहयोग देने के लिये सदैव प्रस्तुत रहने की भावना होना मनुष्य को सन्तुलित रखता है, मानव को मानव बनाये रखता है। कभी-कभी ईमानदारी की धुन मनुष्य को वहमी बना देती है—जैसे दफ्तर की पेंसिल और कलम से अपना व्यक्तिगत पत्र भी न लिखना। व्यावहारिकता और यथार्थ का धरातल कभी न छोड़ें।

यदि आप ईमानदार हैं तो दूसरों से प्रशंसा की आशा कदापि न करें, क्योंकि इस संसार में बेईमान अथवा ईर्ष्यालु लोग प्रायः बिना संकोच ईमानदार आदमी पर झूठे आरोप लगाया करते हैं। दूसरे के मुख पर कालिमा पोतने से पूर्व ईर्ष्यालु के हाथ काले हो जाते हैं। दूसरों को फंसाने के लिये बिछाया हुआ जाल अवश्य एक दिन जाल बिछाने वाले को ही फंसा देता है। दूसरों के लिये गड्ढा खोदने वाला स्वयं ही उसमें गिर पड़ता है। यह प्रकृति का नियम है। यदि हमारा अन्तःकरण स्वच्छ है, आत्मा प्रबल है और ईश्वर के दैवी न्याय एवं सामर्थ्य पर भरोसा सच्चा है तो अकारण द्वेषी हमारी हानि नहीं कर सकता है, अपना ही सब कुछ खो बैठेगा। आप क्षमा भाव धारण करके इसे प्रभु के दैवी न्याय पर छोड़ दें। मिथ्या दोषारोपण पर हंस देना चाहिये, न कि उसे हृदय पर वज्राघात ही समझ बैठें। यदि आप ईमानदार होते हुए भी किसी की स्वार्थ पूर्ति न कर सकें तो वह आसानी से ही, बिना हृदयानुपात ही, आपको बेईमान सिद्ध करने के प्रयत्न में लग जायेगा और सर्वत्र इसका प्रचार करता हुआ घूमेगा। सचाई के कारण सारे जीवन कष्ट उठाने पर भी किसी सत्पुरुष को जब कपटी

They also serve him who stand and wait. — Milton

और बेईमान कह दिया जाता है, वह प्रायः टूट जाता है और रो उठता है। स्वार्थी एवं ईर्ष्यालु जन ईमानदार व्यक्ति को बेईमान कहने और सिद्ध करने में जरा भी संताप अथवा संकोच का अनुभव नहीं करते। सर्प और वृश्चिक तो दबने पर ही काटते हैं, चोट खाने पर ही चोट देते हैं किन्तु ईर्ष्यालु जन तो अकारण ही आघात कर देते हैं। 'परहित हानि लाभ जिन केरे, उजरे हरष विषाद बसेरे।' दूसरों के अकाज के लिये वे कष्ट उठा सकते हैं जैसे किसी पुण्य कार्य में लगे हों। 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं, जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।' ऐसी वृत्ति वाले जन से सावधान रहना चाहिये किन्तु उनके साथ भी व्यवहार अच्छा ही करना चाहिये। निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति, ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति। अकारणद्वेषी मनस्तु यस्य वै कथं जनस्तं परितोषयिष्यति। सज्जन किसी कारण कोप करता है तथा कोप का कारण दूर हो जाने पर प्रसन्न हो जाता है किन्तु अकारणद्वेषी को कैसे प्रसन्न करें? ईर्ष्या द्वेषी मिथ्या दोषारोपण करता ही रहता है और सदा असन्तुष्ट ही रहता है। अकारणद्वेषी जन की बात पर कोप करना भूल है। महात्मा बुद्ध कहते हैं कि जैसे लोहे में उत्पन्न और बसा हुआ जंग उसी को ही खा जाता है, वैसे ही मनुष्य के भीतर उत्पन्न और पला हुआ ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य को ही खा जाता है। उनका सही जवाब उनकी उपेक्षा करना है। चालाक लोग ईमानदारों के विरुद्ध चुपचाप षड्यंत्र भी रच देते हैं क्योंकि ईमानदार उनके रास्ते में एक बाधा होते हैं। ईमानदार होते हुए भी आप कहीं फंसकर मुसीबत उठा सकते हैं यदि सावधान और सतर्क न रहेंगे।

प्रायः सच्चे और ईमानदार व्यक्ति के लिये उसका चरित्र ही उसके लिये अनेक समस्याएं उत्पन्न कर देता है और उसे पग-पग पर चुपचाप विषपान करना पड़ता है, अपमान सहना पड़ता है, दुःख उठाना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है। प्रलोभन को जीतने पर भी उसे प्रलोभन में फंसने के लिये विवश किया जाता है। चरित्र की राह पर चलने से धन और सत्ता उससे दूर होने लगते हैं और कठिनाई घेर लेती हैं। सीधा चलने और सीधा सोचने वाला दूसरों को भी सीधा सच्चा समझ कर उन पर सहज विश्वास कर लेता है। अतएव सच्चे आदमी को अधिक सावधान रहना चाहिये किन्तु उसे अपनी सच्चाई और ईमानदारी में दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। उसकी सच्चाई और ईमानदारी न केवल उसके सुख एवं संबल का स्रोत बन जाती हैं, उसकी रक्षा भी करती हैं। मनुष्य जब छल प्रपंच का सहारा लेता है, बुद्धि निर्बल हो जाती है, आत्मविश्वास लुप्त हो जाता है, तथा मनुष्य दूसरों के हाथ का खिलौना बन कर फंसता ही चला जाता है। सत्य का सहारा लेकर ही मनुष्य का आत्मविश्वास दृढ़ रह सकता है तथा मनुष्य संकट पार कर सकता है।

समाज में व्यक्तिगत शोषण के अतिरिक्त कुछ सामाजिक अत्याचार भी होते हैं--जातिवाद, बिरादरीवाद, प्रान्तवाद इत्यादि के संकीर्ण दृष्टिकोण से। योग्य व्यक्ति के अधिकार छीन लिये जाते हैं और अयोग्य अथवा निम्नस्तरीय व्यक्ति को योग्य व्यक्ति के सिर पर बैठा दिया जाता है। इसके दो परिणाम संभव हैं--(१) व्यक्ति सिकुड़ कर समाज के एक कोने में छिपकर पड़े हुए आत्मग्लानि की भट्टी में जलता रहे अथवा आत्महत्या आदि को अपना कर अपमानजनक स्थिति का अन्त कर दे। (२) अथवा वह हिंसा का सहारा लेकर अपराधी के रूप में सामाजिक अपराध करना प्रारम्भ कर दे। किन्तु विवेकशील व्यक्ति ऐसे समय में भी सुदृढ़ रह कर अपने मन में अथवा व्यवहार में ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होने देता है। वह संकीर्णता को कदापि नहीं अपनाता है। कीचड़ से कीचड़ नहीं धोई जाती है। शुद्ध जल ही कीचड़ को धो सकते हैं।

जब आप पर अन्याय हो रहा हो तो दो ही राह हैं--घृणा को त्याग कर कर्त्तव्य के नाते अत्याचार का प्रतिरोध करें तथा संघर्ष करें और जो भी फल हो उसे स्वीकार कर लें अथवा संतभाव को अपनाकर सब कुछ प्रभु पर छोड़ दें तथा अन्यायी के लिये भी सद्भावना ही करते रहें। नादिरशाही अन्याय का अन्त अवश्य होगा। एक छोटी सी चींटी हाथी के लिये, एक छोटा सा छिद्र विशाल नौका के लिए, एक नगण्य मनुष्य अत्याचारी के लिये घातक सिद्ध हो जाता है। कमजोर पिट जाता है किन्तु सताने वाला बड़ा मिट जाता है। अत्याचारी अपने अत्याचार से स्वयं नष्ट हो जाता है। अत्याचारी के जीवन का अन्त सदैव भयानक होता है। सन्त क्षमादान कर प्रभु के दैवी न्याय पर सब कुछ छोड़ देता है। सन्त के लिये प्रतिशोध अशोभनीय और क्षमादान शोभनीय होता है। संत के लिये अपने व्यक्तिगत मामले में क्षमादान देना श्रेष्ठ होता है किन्तु यदि अन्य जन पर अन्याय हो रहा हो तो उसका प्रतिरोध करना सदैव समुचित है।

अन्तरात्मा में शूल की भांति चुभने वाले गलत काम किसी के भी दबाव में आकर कदापि न करें क्योंकि फंसने पर कोई व्यक्ति सहायता न कर सकेगा। कोई आपको अपमान और ग्लानि से न बचा सकेगा। दबाव में आकर पाप करना भयंकर भूल है। सत्य की राह पर रहने से शान्ति और सत्कार अवश्य मिलेंगे। सोफोक्लीज कहता है, "कोई भी साक्षी इतना विकट और कोई भी अभियोक्ता इतना शक्तिशाली नहीं हो सकता जितना अपना ही अन्तःकरण।" अपना अन्तःकरण परम निकट है और विकट भी। अन्तःकरण के दर्पण से कुछ भी छिपाना असंभव है। अपना अन्तःकरण सबसे बड़ी अदालत है।

प्रायः लोग उपकार के उत्तर में धन्यवाद भी नहीं देना चाहते और आपको पहचानते भी नहीं हैं तथा उनके सौ काम करने के बाद एक काम न होने पर ही वे आपको बुरा कहते हुए घूमेंगे। अहसान करना अदावत मोल लेना है। कृतघ्न

व्यक्ति उस हाथ को ही काट लेते हैं जो उन्हें भोजन देता है। अतः ईमानदारी आत्म-सन्तोष के लिये है, आत्म-सन्तोष ही इसका पुरस्कार है। लोगों से प्रशंसा की इच्छा एवं आशा करना अथवा यह सोचना कि आपने उन्हें अच्छाई से जीत लिया है अथवा उन्होंने आपके उपकार के कारण आपको अपना लिया है, भयंकर भूल है। नेकी कर कुए में डाल।

मिथ्या दोषारोपण एवं निकृष्ट आलोचना का उचित अवसर पर उत्तर देना तो अवश्य उचित है किन्तु उससे भड़क उठना भारी भूल है। एडवर्ड अष्टम् को एक ब्लैकमेलर ने धमकी दी कि यदि उसने उसे कुछ धन नहीं दिया तो वह पत्रों में उसकी बदनामी करेगा। एडवर्ड बोले—प्रकाशित करो और अपने को लानत भेजो (पबलिश एण्ड बी डैम्ड)। यह थी निर्भीकता। स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका में जाने पर भारत में कुछ ईर्ष्यालुजन ने उनके चरित्र के संबंध में अनेक अनर्गल बातें कहीं। उनके मित्र उन्हें समाचार पत्रों की कतरन (कटिंग) भेज देते थे। स्वामी विवेकानन्द उन्हें समुद्र में डुबो देते थे और कहते थे—"स्तुति और निन्दा दोनों विष हैं, मुझे तो अपना काम करते रहना है।" यह है स्वस्थ एवं उचित प्रतिक्रिया। समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं होती जो निरर्थक ही दूसरों का अहित करने में अपना हित समझते हैं। "ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं।" ऐसे लोगों पर रोष करना अपनी शक्ति का क्षय करना है। बर्नार्ड शा के अनुसार तिरस्कार का सर्वोत्तम उपाय मौन (उपेक्षापूर्ण मौन) है। अपने गुणों को आप स्वयं पहचानें और दूसरों से सर्टिफिकेट की आशा अथवा आकांक्षा न करें। किसी के निन्दा कर देने पर आप अयोग्य अथवा बुरे नहीं हो गये। "मेरी इज्जत पर हमला हो गया, मेरे नाम को बदनाम किया जा रहा है, मेरी प्रतिष्ठा को धक्का लग गया, मेरी आबरू मिट्टी में मिल गई, मुझे अयोग्य सिद्ध किया जा रहा है, मेरे चरित्र पर सन्देह किया जा रहा है, मेरे चरित्र पर धब्बा लगाया जा रहा है, मुझे भ्रष्ट सिद्ध किया जा रहा है, मेरा यश चला गया तो क्या रह गया, इससे तो मरना भला, मैं मर जाऊं तो अच्छा रहे", यह सब कहना भावुकता है, अव्यावहारिकता है। आवश्यकता होने पर स्थिति स्पष्ट करते हुए भी सन्तुलन न खोना चाहिये। अपने रास्ते पर चलते रहें और लोगों को बकने दें। निन्दा सुनकर उत्तेजित होने से आप निन्दक के महत्व को स्वीकार कर रहे हैं। प्रभु में विश्वास करने वाला व्यक्ति मिथ्या दोषारोपण पर हंस देता है तथा उत्तेजित नहीं होता है। भड़क उठना तो आपके व्यक्तित्व के छोटेपन को सिद्ध कर देगा। हां, आवश्यकता होने पर दृढ़तापूर्वक प्रत्युत्तर दें किन्तु सन्तुलित रह कर ही। हाथी मस्ती से झूमता हुआ चलता है, कुत्ते भौंकते रहते हैं। यश की चाह छोड़ने से अपयश का भय भी छूट जाता है। आवश्यकता होने पर वर्तमान

स्थिति (पेशा, पद आदि) को लात मार कर भी नये रास्ते अपनाने के लिये तैयार रहना चाहिये।

जब निर्दोष होने पर भी आपकी प्रतिष्ठा पर आक्रमण हो रहा हो तथा आपका नाम घसीटा जा रहा हो, आप बौखला कर कटु उत्तर न देने लगें बल्कि संयम से काम लें तथा यत्र तत्र प्रलाप (लूज़ टाक) न करें। समय आने पर ही उत्तर दें तथा उचित एवं सीमित उत्तर दें। मितभाषी होना सीखें। अधिक बोलने वाला व्यक्ति स्वयं ही अपने को उलझा कर समस्याएं खड़ी कर लेता है तथा फंसता चला जाता है। व्यर्थ की बकबक से मनुष्य अपनी गरिमा खो देता है। "अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप्प"। जिस बात को आप लिख कर हस्ताक्षरित न कर सकें उसे कदापि न कहें। बहुभाषिणो न श्रद्दधाति लोकः (बाण)। लोग बहुत बोलने वाले का विश्वास नहीं करते हैं। अत्याचार का प्रतिरोध तो अवश्य अन्त तक करें, किन्तु अशोभनीय शब्द न कहें, अभद्र व्यवहार न करें। लोग आपके सौजन्य को दुर्बलता कहेंगे किन्तु सौजन्य तो मनुष्य की शोभा है, उत्तम प्रभावकारी गुण है। गाली का जवाब गाली नहीं है। आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक। कह कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक। व्यक्तिगत हमला होने पर आपकी मान्यताओं एवं आस्थाओं की परीक्षा होती है। संघर्ष से आपका व्यक्तित्व निखरकर ऊपर उठ सकता है और भौतिक पराजय एवं हानि होने पर भी आप चमक सकते हैं। वह आपकी विजय होगी। सत्यमेव जयते। सत्य की जय होती है। सत्य का सूर्य सदा के लिये छिपा हुआ नहीं रह सकता है। कभी कभी मनुष्य के मरने के बाद भी सत्य प्रकट होता है। मनुष्य मरणशील है किन्तु सत्य अमर है।

लोग तो आपको अपनी दृष्टि से देखते हैं, आत्म प्रक्षेपण करते हैं। जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत तिन देखी वैसी। दुष्ट लोग संतों को 'घुन्ना', 'छिपा रुस्तम', 'बना हुआ पाखण्डी', 'ऊंचा कलाकार' कह देते हैं और उन्हें दुष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। किसी के गुणप्रकर्ष को न जान सकने से उसकी निन्दा होने पर आश्चर्य नहीं है। न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्। यथा किराती करिकुंभजातां मुक्तां परित्यज्य विभर्ति गुन्जाम्। लोग तो अपने स्तर पर रह कर ही तथा अपनी शिक्षा और संस्कारों के अनुसार ही आपका मूल्यांकन करेंगे। वे आप के स्तर तक उठ कर आपको कैसे देखें? किन्तु कुछ लोग तो जानबूझ कर गुणों को नहीं देखते, दोषों को ही देखते हैं। दुष्ट को दूसरों के दोष ही दिखायी देते हैं, गुण नहीं दीखते। सुन्दर मणियों से विनिर्मित भवन में भी चींटी छिद्र ही ढूंढती है। सुन्दरमणिमयभवने पश्यति पिपीलिका रन्ध्रम्। छिद्रान्वेषण करना दुष्टों का स्वभाव होता है। दोषदर्शन से कटुता उत्पन्न होती है। सर्प और बिच्छू प्रकृति वाले दुष्ट लोग (सैडिस्ट)

दिन भर इसी में सुख मानते हैं कि आज कितने लोगों को रुला दिया और कितने लोगों को सता दिया। वे दूसरों को सताने में, दूसरों का अकारण अपमान करने में सुख मानते हैं। आप उनसे कितने भी बचें, वे आपको नहीं छोड़ते। वे बनावटी प्रेम दिखाकर खून चूस लेते हैं। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये आपके पेट में घुसकर आपसे काम ले लेते हैं और आपकी आवश्यकता होने पर वे आपको सहायता देने के बजाय हानि पहुंचाने में सक्रिय हो जाते हैं तथा अपने क्रूर अत्याचार को सिद्धान्तों का जामा पहिनाकर स्वयं अच्छे, भले नजर आते हैं। ऐसे व्यक्ति जब उच्च पदाधिकारी अथवा धन के कारण सत्ताधारी हो जाते हैं तो त्राहि-त्राहि मच जाती है। उनके दमन का डट कर प्रतिरोध करते हुए भी उन्हें प्रेम से ही सुधारा जा सकता है। सन्त उन्हें क्षमा ही करते हैं।

निन्दक को धन्यवाद दो। यदि नाटक में खलनायक (विलेन) न हो तो नायक (हीरो) के व्यक्तित्व में चमक न आयेगी। विश्वास रखो कि समाज में एक दिन आपकी सत्यनिष्ठा का मान अवश्य होगा।

समाज में अपनी तथा दूसरों की निन्दा सुनकर उसे अपने सारे व्यक्तित्व में न समाने दें। शिव ने विष पीकर कण्ठ में धारण कर लिया और जनहित में जटाजूट से पतित-पावनी गंगा को प्रवाहित कर दिया। कटुता सहकर भी समाज के लिये उपयोगी बनने से ही आपकी पूजा होगी।

दूसरों की चुगली करना और सुनना दोनों ही पतनकारक हैं। दूसरे की द्वेष-प्रेरित झूठी चुगली सुनकर उस पर विश्वास कर लेना भूल है। केवल कानों से सुनी हुई ही नहीं, आँखों से देखी हुई बातें भी अनेक बार गलत सिद्ध हो जाती हैं। अपना विवेक खोकर तुरन्त विश्वास कर लेना संकट उत्पन्न कर देता है। जांच पड़ताल के बाद ही भलाई और बुराई का निश्चय करना चाहिये।

संसार में मित्रों एवं हितैषियों की संख्या बढ़ाइये और शत्रुओं की संख्या घटाइये। शत्रुभाव को मन से निकाल देने पर ही शत्रु समाप्त होते हैं। शत्रु को हराना सरल हो सकता है किन्तु उसे जीतना कठिन है। जो प्रेम से शत्रु को जीत लेते हैं वे सच्चे इंसान होते हैं। हृदय जीतने के लिये त्याग चाहिये। यदि एक मनुष्य को जीत लिया, एक साम्राज्य जीत लिया। दुश्मन के सामने भी दोस्ती का हाथ बढ़ाना इंसान की बुलन्दी होती है। महात्मा बुद्ध कहते थे कि शत्रु की ओर मित्रता का हाथ बढाना सच्ची जीत है। जो व्यक्ति आपकी जितनी शर्म-लिहाज-कर रहा है, उसे उतने के लिये ही धन्यवाद दीजिये। आप बरबस सत्कार नहीं पा सकते। डोरी को इतना खींचो कि टूट न जाये। अति संघरषण करै जो कोई, प्रकट अनल चन्दन ते होई॥ यदि आप किसी को पसन्द नहीं करते हैं तो सम्बन्ध कम कर दें किन्तु मन में घृणा कदापि न करें। जीवन में किसी से क्रोधावेश में आकर पूरा सम्बन्ध विच्छेद कदापि न करें। अपने घर आये हुए किसी व्यक्ति को

अपमानजनक शब्द कह कर निकल जाने के लिये भूलकर भी न कहें। जिसे हम आज गाली दे रहे हैं, कल ही हमें उसकी जरूरत पड़ सकती है, वह हमारा प्राणरक्षक हो सकता है। नैतिकता तथा स्वार्थ दोनों की मांग है कि आप किसी से भी पूर्ण संबन्ध-विच्छेद न करें, भले ही संबन्ध नाममात्र रह जाये।

अपने गुणों की प्रशंसा, अपने धन, शक्ति, विद्या, प्रभाव एवं प्रताप का बखान कर मनुष्य छोटेपन, हल्केपन को दिखा देता है। आत्मा न स्तोतव्यः। आत्मश्लाघा नहीं करना चाहिये। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैः गुणैः। अपने गुणोंका स्वयं वर्णन करने से इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है। आत्म प्रशंसक से सब घृणा करने लगते हैं। हां, आवश्यकता होने पर तथा पूछे जाने पर अपने विषय में विनम्र भाव से कुछ कहना भिन्न बात है। यह हास्यास्पद लगता है कि लोग अपना परिचय देते हुए अपना नाम बताने के बजाय अपना पद बताते हैं--मैं एम. एल. ए. हूं, मैं कलक्टर हूं, मैं प्रवक्ता हूं --इत्यादि।

विक्षुब्ध (फ्रस्ट्रेटेड) व्यक्तित्व वाले अकारण-कटु मनुष्यों से जो सब जगह लड़ते ही हैं तथा सहयोग नहीं देते हैं, कदापि न टकरायें। उनमें निखार की आवश्यकता होती है। "मूडी" और उद्दण्ड लोगों से व्यवहार करते समय भी विशेष सावधान रहना चाहिये। प्रायः ये 'मूडी' और उद्दण्ड लोग अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं, यदि आप उनसे काम लेना जानते हैं और आप उन्हें प्रिय प्रतीत होने लगें। हम सौम्य, सरस एवं शांत रहकर ही उनको संवार सकते हैं और उन्हें समाज के लिये उपयोगी बना सकते हैं। यह हमारी साधना होनी चाहिये। दुनिया चार दिन का मेला है। यहां किस-किस से कब तक लड़ते रहेंगे। हमें यथासंभव मिलकर चलना सीखना ही चाहिये।

चापलूसों से सावधान रहें। दूसरों की चापलूसी करना तथा अपनी चापलूसी में रुचि लेना--दोनों पतनकारक हैं। चापलूस आपको खाली चम्मच से खिलाना चाहता है। जो व्यक्ति आज चापलूसी कर रहा है वह काम निकलने पर आपको पहचानेगा भी नहीं तथा काम न बनने पर तो आपकी घोर निन्दा करेगा। नीच व्यक्ति झुककर अनुचित लाभ उठाते हैं तथा आक्रमण भी कर देते हैं। सर्प और बिल्ली बहुत झुक कर आक्रमण करते हैं। नीच व्यक्ति का अतिनमन शंका उत्पन्न करता है तथा शीलवान् का विनयपूर्ण नमन उसकी श्रेष्ठता का सूचक होता है। किन्तु स्वार्थी और चापलूस लोगों से भी आप नाराज न हों, बल्कि अपने मन में उनकी चतुराई, चालाकी और हावभाव का रसास्वादन करें। सद्भावना से प्रेरित होकर, किसी के सद्गुणों की सराहना एवं प्रशंसा करना सदैव उचित है क्योंकि प्रायः प्रशंसा सद्गुणों को प्रोत्साहन देती है। हम दूसरों का सत्कार करें किन्तु चापलूसी न करें और झूठी हां में हां न करें, क्योंकि कोई मनुष्य परमात्मा नहीं है। केवल परमात्मा ही परमात्मा है; मनुष्य केवल मनुष्य ही है। चापलूस

अपनी चापलूसी से पद, सत्ता, धन आदि पा सकता है किन्तु उसे कभी कीर्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। चापलूसी के मीठे जहर से बचना चाहिये।

यश, पद, धन आदि के लिये लोगों के पीछे कुत्ते की तरह घूमने से आप आत्म-प्रतिष्ठा खो देंगे, तथा कुछ न मिलेगा और यदि मिला भी तो वह प्रतिष्ठा की कीमत चुकाने से दुःखद हो जायेगा। प्रयत्न का अर्थ आत्म-पतन नहीं होना चाहिये।

दृढ़ विश्वास रखो कि चरित्र का अपना ही एक महत्व है। चरित्र की दृढ़ता मन को संबल प्रदान करती है। चरित्र आपका सच्चा धन है। चरित्र पर दृढ़ रहने से मनोबल बढ़ता है। दूसरे लोग आपकी निन्दा करते हुए भी हृदय में अवश्य आपका मान करते हैं। चरित्र का सम्मान कभी न कभी अवश्य होता है। काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः। प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः। वसन्त आने पर कौआ कौआ रहता है, कोयल कोयल रहती है। कौआ मन्दिर के शिखर पर बैठकर भी कौआ ही रहता है। प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुड़ायते। राजमहल के कंगूरे पर बैठ कर क्या कौआ गरुड़ हो जाता है? पंखों के रत्नजटित होने पर भी कौआ तो कौआ ही रहेगा। वायस पालिअहिं अति अनुरागा। होंहि निरामिस कबहुं कि कागा। अतएव समाज में चरित्रवान् तथा दुश्चरित्र का मूल्यांकन कभी न कभी अवश्य होता है। चरित्रवान् का मनोबल ऊंचा रहता है, उसको मानसिक शांति सुलभ होती है। उसे मानव-जीवन की गरिमा एवं प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो जाती है।

कपटीजन के प्रति सावधान रहते हुए भी उन पर क्रोध न करें। कपटी जन मिलने पर सामने मित्रता का दिखावा करते हैं और विश्वास उत्पन्न करके धोखे में डाल देते हैं तथा अवसर पाते ही पीछे से छुरा भोंक देते हैं। वे आपके पीछे लोगों को गलत बहका देते हैं। आगे कह मृदु वचन बनाई, पाछे अनहित मन कुटिलाई। उनका कपट और आप की निष्कपटता एक दिन स्पष्ट हो जायेंगे। कपट की पराजय होती है। उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। आप अपनी गरिमा न छोड़ें।

पाप का विरोध करते हुए भी पापी को कोई पराया न समझो। पापी से घृणा करने पर आपका मन भी तो विषैला हो गया। घृणा मन को विषाक्त एवं दुर्बल बना देती है। हम पापी को भटका हुआ एवं भ्रान्त मानव समझकर उसके साथ कठोरता करते हुए भी मानवोचित सहृदयता रखना न भूलें। उसे मधुरतापूर्वक समझायें क्योंकि कटुता से विरोध उत्पन्न होता है।

चोरी की वृत्ति आने पर मनुष्य अपना-पराया, दीन-दुःखी आदि कोई विचार नहीं करता है। उसे जहां भी धन मिल जाये, वह चुरा लेता है। चौर्य-

वृत्ति वाले व्यक्ति से सावधान रहें किन्तु उसे कदापि विरोधी न बनायें और धीरे धीरे उसे सद्वृत्ति सिखायें। बुराई के बदले में न्याय देना चाहिये और भलाई से उसे जीतना चाहिये। चोरी की वृत्ति का कारण वस्तुओं का प्रलोभन होना तथा उनकी उपलब्धि के लिये पुरुषार्थ न करना होता है। उसका उपाय प्रलोभन छोड़कर सादगी और सन्तोष को अपनाना तथा पुरुषार्थ करना है। ईमानदारी और पुरुषार्थ के लिये आस्था जगानी चाहिये। प्रायः झूठी शान दिखाने के लिये मनुष्य वस्तुओं के प्रलोभन में फंस कर बेईमानी कर लेता है, चोरी कर लेता है।

क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है। हम कदापि हृदय में क्रोध के आवेश से ग्रस्त न हों। क्रोध को सदा के लिये थूक फेंको। नफरत और लड़ाई जब दायरे पार कर देती हैं, हद से परे पहुंच जाती हैं, तो इंसान हैवान हो जाता है। क्रोध तो मनुष्य को पिशाच बना देता है। घृणा और क्रोध सर्वथा त्याज्य हैं। यदि युद्ध करना पड़े तो शान्त एवं अनुत्तेजित होकर ही लड़ें और सद्भावना न छोड़ें। शान्त होकर कुश्ती लड़ने वाला पहलवान जीत जाता है और क्रोध में भर कर भिड़ने वाला थक कर बैठ जाता है, हार जाता है, भाग खड़ा होता है। शान्ति में दृढ़ता होती है, स्थिरता होती है तथा अशान्ति में चंचलता और अस्थिरता। आप उत्तेजित होकर, क्रुद्ध होकर, अपना रक्तचाप बढ़ाते हैं, स्नायुतंत्र को आघात पहुंचाते हैं, मन को दुर्बल करते हैं तथा दूसरे को अपनी उत्तेजना का लाभ उठाने का अवसर दे देते हैं। कुछ लोग अति घृणा एवं अति क्रोध के कारण रक्तचाप, हृदय रोग आदि के शिकार हो जाते हैं तथा प्रकृति और चिकित्सा की सहायता से ठीक होने पर भी प्रेम एवं क्षमा न धारण करने के कारण पुनः रक्तचाप आदि के चक्र में फंस जाते हैं। अतः भीतर तो प्रेम और क्षमा को धारण कर लें तथा अवसर पड़ने पर बाह्य कठोरता ही करें तथा क्रोध का आवश्यक अभिनय भी कर दें। मन की निर्मलता रखने में अपना ही स्वार्थ है। उत्तेजित होने से इंकार कर देने का संकल्प ले लो। दूसरे के क्रोध का उपाय हमारी शान्ति है। दूसरे के क्रोध की शान्ति हम स्वयं शान्त हो कर ही कर सकते हैं। कभी-कभी उत्तेजना में कहे हुए एक शब्द से ही तूफान उठ खड़ा हो सकता है तथा लोग भी उसी एक शब्द को पकड़कर बैठ सकते हैं। कभी-कभी क्रोध का अभिनय करना आवश्यक हो सकता है। संतभाव अपनाने पर सर्प काटना तो छोड़ दे किन्तु आवश्यकता होने पर फुंकार मारना न छोड़े। यह व्यावहारिकता है।

दूसरे लोग अपने-अपने स्वभाव में बंधे हुए हैं, विवश हैं। अतः जो जैसा है, वैसा है और हमें उसे उसी रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। यदि हम किसी की आलोचना ही करते रहेंगे तो उसे हम अपना शत्रु बना लेंगे तथा उसका कोई सुधार भी न कर सकेंगे। घर में पत्नी, पुत्र, भाई, बहिन अथवा हमारे दफ्तर में

अफसर, कर्मचारी, जो भी जैसा है, वैसा है। जब आप यह समझ लेंगे कि कौन किस स्वभाव से लाचार है, तब आप उसकी बातों पर न क्रोध करेंगे, न क्लेश करेंगे। विवेक क्रोध को शान्त कर देता है। दूसरों के स्वभाव को पहचान कर तथा दूसरों पर प्रेम द्वारा विजय पाकर ही आप उनसे काम ले सकते हैं तथा स्वयं भी प्रसन्न रह सकते हैं। क्रोध की विजय क्षणिक होती है तथा प्रेम की विजय स्थायी होती है।

अपने निकटतम अधिपुरुष (बॉस) तथा निकटतम अधीनस्थ अन्तरंग व्यक्तियों (सब-आर्डिनेट) के साथ सामंजस्य रखना मानसिक तनाव को शिथिल कर देता है। उन के साथ सावधानतापूर्वक स्नेहसंबंध बनाये रखना अपने हित में होता है। समस्त कार्यभार अपने सिर पर न लेकर विश्वस्त सहायकों में विभाजित कर देना चाहिये।

माता-पिता और गुरुजन प्रायः भूल जाते हैं कि युग में कितना परिवर्तन हो चुका है तथा आज बच्चे और युवक अधिक आत्म-सम्मान, अधिक स्वतन्त्रता चाहते हैं। अनुशासन का अर्थ बच्चों को दास बनाना अथवा पत्थर की प्रतिमा की भांति निर्जीव बना देना नहीं है। उनके स्वभाव को और युग के प्रभाव को समझकर, उनके व्यक्तित्वके विकास के लिए माता-पिता और गुरुजन को अधिक उदार, सहनशील, क्षमाशील एवं सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये। बार-बार बच्चों को टोकना और उपदेश एवं आदेश देना उन्हें दुर्बल बना देता है। न्यूनतम आदेश तथा अधिकतम स्वतंत्रता देने चाहियें। प्रेम के द्वारा बात समझाना, भले ही उसमें अधिक समय लगे, अच्छा है। दण्ड-भय के द्वारा घरों और शिक्षालयों में अनुशासन चलाना मानो शिक्षा के उद्देश्य को भूल जाना है। दंड देने का अधिकार उसी को है जो प्रेम करता है तथा न्यायभाव से ओत-प्रोत होकर नपा तुला दण्ड दे सकता है एवं स्वयं संयमित है। क्रोधावेश में आकर दण्ड नहीं देना चाहिये। दण्ड-भय दिखाना अथवा दण्ड दे देना, विवश होकर तथा सुधार-दृष्टि से ही होना चाहिये। किन्तु प्रायः माता-पिता, गुरुजन और अधिकारी आत्म-संयम खोकर, अपराध के अनुरूप दण्ड देने के बजाय, बच्चों पर, अधीनस्थ जन पर, अपने क्रोधी स्वभाव की झुंझलाहट उतारते हैं। ऐसे क्रोधपूर्ण दण्ड से सुधार होने के बजाय हानि होती है। बड़े भी तो क्षमा का आदर्श रखें और छोटों के स्तर पर उतर कर तथा उन के बराबर बन कर उन के साथ न लड़ें। क्षमापूर्ण विशाल हृदय महानता का लक्षण होता है। क्रोधपूर्ण दण्ड से कोई सुधार नहीं होता है, मनोमालिन्य बढ़ता है। बच्चे मन में दण्डयिता से घृणा करते हैं तथा वे या तो दब्बू बन जाते हैं या अपराधी और विद्रोही। बच्चे के क्रोध को भी सह कर देखें, उस की झुंझलाहट को भी सहन करें तथा प्रेम पूर्वक मार्गनिर्देश करें। बड़ों की सहनशीलता बच्चों के विकास में

सहायक होती है। क्षमाशीलता महानता की परिचायक होती है। क्षमा में सुधार की क्षमता होती है, दण्ड में नहीं। हाँ अत्यधिक लाड़-प्यार भी विकास में बाधक हो जाता है। उचित कार्यों को प्रोत्साहन देना तथा अनुचित कार्य पर नियंत्रण करना आवश्यक है। अपने बच्चों और शिष्यों से दास-भाव की आशा करना अथवा उन्हें निर्जीव पत्थर बना देने का प्रयत्न करना भयंकर भूल है। उन्हें सहयोग देकर सहयोगी बनाना है। वे सहज ही माता-पिता और गुरुओं के अनेक अपराधों को क्षमा कर देते हैं। जरा माता-पिता और गुरु भी तो क्षमा करना सीखें और अपने सुंदर व्यवहार से उनमें प्रेम-भाव को जागृत करें। बच्चे बड़े हो गये हैं, उनके व्यक्तित्व आपके व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न हैं। उनके दृष्टिकोण भिन्न हैं, विचार भिन्न हैं। उन्हें अपनी आयु के अनुसार खेल, मित्र और खाना, पहनना और शौक चाहियें। वे उनके विकास के लिए आवश्यक हैं; उनके साथ समायोजन करना परम आवश्यक है। बच्चों को अपने विचार सामने रखने का पूर्ण अधिकार है। आत्म-अभिव्यक्ति करने से उन्हें उद्दण्ड समझ कर उनका दमन कर देने पर उन में घुटन और चुभन उत्पन्न होगी जो वाणी न मिलने पर भयंकर अथवा विस्फोटक हो सकती है। बच्चे अपनी शक्ति और क्षमता के अनुरूप ही विकसित होंगे न कि माता-पिता की इच्छाओं और योजनाओं के अनुरूप। इंजिनियर का पुत्र कलाकार हो सकता है। बच्चों की शक्ति एवं क्षमता के अनुरूप ही उन के विकास में योगदान देना चाहिये तथा उन पर अपनी अच्छी योजना लादना उनके साथ अन्याय है। कोई किसी की प्रतिकृति नहीं बन सकता है। कोई किसी को अपने जैसा नहीं बना सकता है। हम केवल अपना उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, उन्हें प्रेरणा दे सकते हैं। तभी परिवार में समृद्धि एवं शांति रह सकेगी।

माता को पोषक पृथ्वी की भांति क्षमाशील, पिता को उच्च एवं विशाल आकाश की भांति उदारमना, संरक्षक और गुरु को तेजवान् सूर्य की भाँति पथ-प्रदर्शक होना चाहिये। माता-पिता और गुरुजन अपने नैतिक बल (मौरल फोर्स) के सहारे से तथा स्वयं श्रेष्ठ आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करके शासन करें तथा बच्चों एवं युवकों को सहयोग देकर, उनमें मधुरता से सहयोग की भावना जगाएं और वातावरण को मृदु एवं मधुर बनाएं। प्रेम करना ही पर्याप्त नहीं है, प्रेमपूर्ण व्यवहार करना भी आवश्यक है। यदि हमारा प्रेम दूसरे के मन में प्रेमभाव एवं विश्वास न जगा सके तो हमारा ही दोष है। बच्चों का समस्त क्रियाकलाप अनुकरण पर आधारित होता है। वे जैसा देखते हैं वैसा ही करते हैं। माता-पिता और गुरु का दायित्व है कि वे आदर्श वातावरण प्रस्तुत करें। वातावरण का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अच्छा काम करने पर बच्चों को शाबासी देने से न चूकना चाहिये। प्रोत्साहन देने से आत्मीयता बढ़ती है। दण्ड-भय से कुण्ठा उत्पन्न होती है, कटुता बढ़ती है तथा प्रेम और क्षमा से सुधार होता है, स्थायी

प्रभाव होता है, मधुरता आती है । जिन्हें हम सफल नेता, प्रबुद्ध विद्वान् अथवा सशक्त क्रीड़ाकुशल व्यक्ति बना सकते थे, उन्हें हम अतिशय क्रूर, दण्ड-भय के कारण हकलाने वाले, दब्बू, किताबी कीड़े अथवा सामाजिक अपराधी, डाकू, हत्यारे बना देते हैं। ऋषिगण ने एक प्रख्यात डाकू को सौमनस्य से जीत कर तथा ज्ञानप्रेरणा दे कर कवि बाल्मीकि बना दिया था। किन्तु माता-पिता-गुरुजन धैर्य, सहानुभूति, प्रेम और क्षमा तो धारण करें। यदि सन्तान और छात्र को डांटना पड़े तो उसमें भी रस हो, मधुरता टपकती हो। वे तो बहुत श्रद्धा करना चाहते हैं किन्तु माता-पिता और गुरु भी अपने ज्ञान, चरित्र और व्यवहार से श्रद्धेय तो बनें। तरुण अपनी ऊर्जा की अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त न होने पर विक्षुब्ध हो जाते हैं।

जिस घर में दिन-रात कलह रहती है, वहां अकाल-मृत्यु, विपत्ति और विषाद का बसेरा हो जाता है। कलहप्रिय व्यक्तियों से भगवान बचाये। वे किसी भी परिवार अथवा संस्था को उपहसनीय बनाकर विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर देते हैं। परिवार (अथवा किसी संस्था) में एकता का ही बल होता है। बंधी बुहारी घर से कूड़ा सकेर कर बाहर निकाल देती है और सोने की अकेली सींक भी कूड़ा नहीं हटा सकती है। हमें वर्तमान परिस्थितियों में भड़कने और बौखलाने के बजाय, उनको स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिये पत्नी का घोर दुर्व्यवहार भी सुकरात और लिंकन के मार्ग में बाधक न हो सका। पति को सूर्य की भांति तेजस्वी तथा पत्नी को चन्द्रमा की भांति शीतल होना चाहिये। पति-पत्नी परस्पर पूछ-पूछ कर कार्य करें और परस्पर झूठ कदापि न बोलें। गृहस्थ की सफलता पति-पत्नी के परस्पर सच्चे जीवन साथी बन कर बच्चों को प्रेमपूर्ण वातावरण में पोषण करने में निहित होती है। एक के कोप करने पर दूसरा शान्त हो जाये और कोप शमन होने पर अपनी बात कह दे। परिवार के सभी सदस्य भूखों को भोजन देने, दीन दुखी जन की सेवा में रत रहें तथा अपनी शक्ति और सामर्थ्य का सदुपयोग करें। परिवार पुण्य-कार्य में लग कर पुनीत हो जाता है। स्वर्ग का स्वप्न देखने के बजाय स्वर्ग का निर्माण करें। परोपकार-रत तथा मधुर वातावरण से युक्त परिवार धरती का स्वर्ग होता है। ऐसे अनुकूल वातावरण तथा प्रेमपूर्ण प्रोत्साहन सुलभ होने पर ही पारिवारिक जन की आन्तरिक प्रतिभा का सम्यक् प्रस्फुटन एवं विकास संभव होता है। जहां स्नेह सागर की उत्ताल तरंग मानस को शीतल करती हों, वहां सुख का साम्राज्य होता है।

कलह के कारण केवल ज़र, जोरु और जमीन (धन, नारी और भूमि) ही नहीं होते हैं। उनकी कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती है। कदाचित् मन पर आघात होना एक प्रमुख कारण है। "आपने मुझे ऐसी बात क्यों कही ? आप के शब्द

हृदय में घाव कर देते हैं। आप बात क्या कहते हैं, बाण मारते हैं। आप किसी को कुछ नहीं समझते हैं। आप मेरी भावना को नहीं जानते हैं।" "आप मुझे बेवकूफ समझते हैं। आप मेरे गुस्से को नहीं जानते हैं।" "आप मुझ पर सन्देह करके मुझे बेईमान समझते हैं, मेरे चरित्र पर शंका करके मुझे दुष्ट समझते हैं।" "आप ने मेरे संबंध में उससे ऐसा क्यों कहा ?" बस, बहस शुरू हो गई और दोनों ने मुंह चढ़ा लिये और बोलना बन्द कर दिया। अब पहले कौन बोले, यह नयी समस्या खड़ी हो गई। दोनों एक दूसरे के शत्रु हो गये। मन में दीवार खिंच गई, फिर मकान में दीवार खिंच गई। एक ही उपाय है--सहनशीलता और क्षमाशीलता, उदारता और गंभीरता। आवेश के समय लम्बी बहस में न पड़ें। एक का क्रोधावेश देख कर दूसरा शान्त हो जाये। कभी दो मिनट से अधिक क्रोध न करने का तथा बोलना न छोड़ने का संकल्प लें, मिथ्या अहंभाव छोड़ कर क्षमा मांग लें, क्षमा कर दें तथा धीरे धीरे प्रेमपूर्वक समस्या को सुलझा लें। विशेषतः परिवार, पड़ौस, मित्रमण्डल में जिन लोगों के बिना हमारा निर्वाह ही कठिन हो जायेगा अथवा दम घोंटने वाला वातावरण हो जायेगा, हंस कर और हंसा कर रहना एक कला ही है। विषम परिस्थिति बुद्धि के लिये चुनौती होती है। मधुर वातावरण बना देना आपकी बुद्धि की कुशलता है। दूसरों के स्वभाव को हंस कर सहने की आदत डालना बहुत आवश्यक है। पूर्ण कौन है ? हां, पूर्णता का प्रयास करना धर्म है। श्रेष्ठ व्यक्ति में भी कुछ दोष होते हैं, निकृष्ट व्यक्ति में भी कुछ गुण होते हैं। हमें एक दूसरे का निर्वाह करना चाहिए और सद्गुण जगाने चाहियें।

परिवार में कुत्ता, बिल्ली, बन्दर पालना मनोरंजन का साधन हो सकता है किन्तु पशु से मनुष्य के समान संयत विचार और व्यवहार की आशा करना पशुता ही है। सैकड़ों दुःखद घटना होती हैं जहाँ पालतू कुत्ता कभी क्रोध में भर कर परिवार के किसी सदस्य को काट लेता है। कितना भी समझदार और वफादार क्यों न हो, पशु तो पशु ही है। पशु में विचार शक्ति तो नहीं होती है। इसके अतिरिक्त पालतू पशुओं से परिवार में अनेक रोग लगने की आशंका रहती है तथा उनकी पूरी देखभाल न होने से वे भयानक रोग प्रसारक बन जाते हैं।

आप जैसी भी परिस्थिति में हैं, उसे कोसने से क्या लाभ है ? कोसने से आप अपने को दुर्बल घोषित कर रहे हैं। परिस्थिति को सुधारने में जुट जाइये। जैसी स्थिति में रोग को देखें, उसके अनुसार ही चिकित्सा करें। वस्तुस्थिति से बचने और पलायन करने (इवेज़न एण्ड एस्केप) से समस्या का हल नहीं होता है बल्कि समस्या अधिक विषम हो कर सामने आती है। अतएव दृढ़ निश्चय करके उसका हल ढूंढने में डट कर लग जाना चाहिये। दृढ़ निश्चय एवं उत्साह और विवेक आपके सच्चे साथी हैं। आलस्य एक प्रकार की मृत्यु अथवा आत्महत्या

ही है। अयं मे हस्तो भगवान्। मेरा हाथ (पुरुषार्थ) मेरा भगवान् है। हमें पुरुषार्थ इस प्रकार करना चाहिये मानो सब कुछ हमारे हाथ में है, तथा प्रभु के अधीन ही सब कुछ मान कर, फल प्रभु पर छोड़ देना चाहिये। प्रदत्त परिस्थिति में अपनी क्षमता के अनुसार पूर्ण प्रयत्न करते रहने में ही आपकी सार्थकता है। परिस्थिति और घटनाचक्र की दिशा का निर्णय तो प्रभु के विधान के अनुसार ही होता है। परिस्थिति कैसे बदलें, घटना क्या दिशा लें, यह तो ईश्वराधीन है किन्तु मानव का धर्म पुरुषार्थ करना तथा फल में सन्तोष करना है। पुरुषार्थ में ही मानव की कृतकृत्यता है।

जीवन में सबका अपना-अपना क्षेत्र होता है। सब पृथक्-पृथक् शक्तियों को लेकर आये हैं। सब ही मिशनरी हैं। सभी समाज के भिन्न-भिन्न पुरजे हैं और सभी का समान महत्त्व है। सबको अपने-अपने स्थान में अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः' (गीता)। हम अपना कर्त्तव्य करें और दूसरों की होड़ न करें। यदि कोई कलाकार है तो वह कला के क्षेत्र में उन्नति करे और राजनीतिज्ञ की उन्नति से ईर्ष्या न करे। जीवन में उदार बनने की आवश्यकता प्रथम है। आप अपने मिशन को पूरा कीजिये, दूसरों को अपना मिशन पूरा करने दीजिये। ईर्ष्या-द्वेष के स्थान पर सहयोग की भावना को जगायें।

असली और नकली का भेद विवेक एवं अनुभव के द्वारा होता है। नकली वस्तु (अथवा व्यक्ति) में असली की अपेक्षा अधिक आकर्षण होता है। बन्दर, बिल्ली, कुत्ता, रेल इंजन की आवाज पर कौन ध्यान देता है और कौन उन्हें पुरस्कार देता है? किन्तु उनकी आवाज का अनुकरण आकर्षक होता है, और अनुकर्त्ता को कलाकार के रूप में पुरस्कृत किया जाता है। नकली सोने, मोती, नीलम इत्यादि की विशेष चमक के कारण ही ठगी होती है। किन्तु नकली वस्तु अथवा व्यक्तित्व का प्रभाव स्थायी नहीं होता है और अन्त में कभी न कभी असली और नकली का भेद स्पष्ट हो जाता है। सब को सदा के लिये ही मूर्ख नहीं बनाया जा सकता है। सत्य का रास्ता ही ठीक होता है। झूठी चमक-दमक, झूठा भाव अधिक नहीं चलता है। उघरहिं अन्त न होहिं निबाहू। सत्य मनुष्य की रक्षा अवश्य ही करता है। काले बादल सूर्य को सदा ढके नहीं रख सकते हैं।

अधम (ओछी) प्रकृति के लोगों से बैर और प्रीति न करें। उनसे घृणा तो न करें किन्तु उनसे जरा बचकर ही रहें। उनकी प्रीति और बैर दोनों ही खतरनाक होते हैं। रहिमन ओछे नरन ते, तजहु बैर अरु प्रीति। काटे चाटे स्वान के दुहूं भांति विपरीत। यदि कोई क्षुद्रवृत्ति वाला मनुष्य आपको गाली दे रहा हो तो याद रखिये, "एक चुप सौ को हराये"। क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः रुष्टाः तुष्टाः क्षणे क्षणे, अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः॥

ओछे लोगों के मुंह न लगो। ओछे लोगों के साथ ओछा बनना भी अपने को नीचा गिराना है। ओछा और अच्छा पहचान कर व्यवहार भेद करते हुए भी मधुर एवं मृदु रहें तथा मन में घृणा भाव न आने दें। किन्तु किसी हितैषी मित्र, सज्जन, माता-पिता और गुरु के रूठने पर उन्हें मना लेना चाहिये। संबंधों की मधुरता को कदापि न टूटने दें।

टूटे सुजन मनाइये, जो रूठें सौ बार।
रहिमन पुनि-पुनि पोइये, टूटे मुक्ताहार॥

धैर्यपूर्वक प्रेम संबंध की पुनर्स्थापना का प्रयत्न करें, प्रतीक्षा करें। प्रतीक्षा प्रेम की परीक्षा होती है।

कभी कभी घटना क्रम कुछ ऐसा हो जाता है कि हमारे विशेष प्रिय अथवा पूज्य व्यक्ति के मन में हमारे प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है जिसका निराकरण करना ही कठिन हो जाता है तथा हमारे मन में छटपटाहट एवं ग्लानि होने लगती है। हम जिसका स्नेहपात्र अथवा कृपापात्र बनना चाहते हैं उनके मन में हमारे स्वरूप (इमेज) बिगड़ने का अथवा उनकी दृष्टि में गिरने का भय हमें अशान्त कर देता है, तथापि मन को शोक में डुबाना तो मूर्खता ही है। समय धीरे-धीरे सत्य को प्रकट कर देता है।

जीवन में उपकार करने वाले के प्रति सदैव कृतज्ञ रहना सज्जनता का लक्षण है। न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति। सत्पुरुष अपने प्रति किये हुए उपकार को नहीं भूलते हैं। उपकार को स्मरण रखने से संबंध मृदु रहते हैं और जीवन में सरसता आती है।

मैत्री भाव तो सबके प्रति होना, व्यापक मैत्री भाव होना, अभीष्ट होता है किन्तु कुछ विशेष समान स्वभाव वाले व्यक्तियों के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करना हितकर होता है। प्रकृति-साम्य होने पर मित्रता स्थायी रह सकती है। जीवन में मित्र होना तो आवश्यक है क्योंकि दुःख में मित्र दुःख को हल्का करते हैं तथा सुख में सुखमयता का आभास कराते हैं। मित्र जिन्दगी का सहारा बन जाते हैं किन्तु मित्रों की छांट करना अत्यधिक आवश्यक होता है।

सिद्धांत यह है कि हमारे मन में प्राणिमात्र के लिये सद्भावना और गुणियों के लिये सत्कार भाव (सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्) तथा दुखी जन के प्रति सेवा भाव और निकृष्ट व्यक्तियों के प्रति तटस्थ भाव होना चाहिये। कपटी मित्र शूल के तुल्य त्याज्य होता है।

कैंची की भांति समाज में अलगाव, कतर-ब्योंत का काम करना आपको मानसिक क्लेश देगा। दूसरों को परस्पर लड़ाने वाला व्यक्ति निकृष्ट होता है। दो का झगड़ा किसी अन्य के लिये लाभकारी हो जाता है तथा उन दोनों को नष्ट

कर देता है, किन्तु पोल खुलने पर लड़ाने वाले व्यक्ति की निन्दा अवश्य होती है। सुई की भांति दूसरों के टूटे संबंधों को जोड़ने का प्रयत्न करना शांति एवं मानसिक शक्ति देगा। दर्जी भी कैंची को पैरों के नीचे पड़ा रहने देता है तथा सुई को अपनी टोपी में लगाकर रखता है। प्रेम के धागे को भी चटका कर कभी नहीं तोड़ना चाहिये। रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय। प्रेम के धागे और सद्भाव की सुई का जीवन में अनूठा ही महत्त्व है।

व्यक्तिगत झगड़ों को मोल न लेना चाहिये जब तक विवशता न हो। अपराधी वृत्ति वाले निर्दय, निर्मम, निष्करुण मानव-पशुओं (गुण्डा तत्त्व) से भूल कर भी न अड़ना चाहिये क्योंकि उनके मन में जीवन के प्रति समादर नहीं होता है। एक चुप सौ को हरावे। लिंकन ने कहा था कि काटने वाले कुत्ते से बच कर चलना चाहिये। सांड से टकराव बुद्धिमत्ता नहीं है, विशेषतः स्वयं भी सांड बन कर, जब तक ऐसी विवशता न हो। चतुर मनुष्य मदमत्त हाथी को भी युक्ति से जीत लेता है, न कि सीधी टकराहट से। बुद्धिर्यस्य बलं तस्य। जिस के पास बुद्धि होती है, उसके पास सच्चा बल होता है। शान्त रहने का अभ्यास करना चाहिये। मधुर वाणी, मधुर व्यवहार, हास-परिहास तथा विनोद के द्वारा अपने व्यक्तित्व को ऐसा बना लें कि घर में अथवा बाहर आपके सम्पर्क में जो भी आये उस पर ही मधुरता की छाप छूटे। आपके हृदय के सच्चे प्रेम-भाव, करुणाभाव, क्षमाभाव का प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ता है।

समाज के दुःखी वर्ग की निःस्वार्थ सेवा के लिये सदैव तत्पर रहें। निकृष्ट स्वार्थ मनुष्य को दयनीय बना देता है। स्वार्थ से ऊपर उठ कर ही हमें समाज में सुख और सुयश मिल सकता है। अबोध बच्चों तथा दीन-दुःखी जन की सेवा प्रभु की ही पूजा है। सेवाधर्म महान् है। निःस्वार्थ सेवा करने से मनोबल बढ़ता है, चरित्र में उत्कृष्टता आती है तथा व्यक्तित्व का प्रभाव बढ़ता है। सच्चे सेवा-भाव ने साधारण मोहनदास को महात्मा गांधी बना दिया। प्रलोभन छोड़कर सेवा करना सीखो।

भलाई की शक्ति में अटूट विश्वास रखना चाहिये। आप विवेकपूर्ण भलाई करना कदापि न छोड़ें क्योंकि आप की भलाई आप की भी मदद करती है। भलाई करने से मन बलवान् होता है। हम भलाई से ही बुराई को जीत सकते हैं, प्रतिशोध से नहीं। धोखेबाज से सावधान रहते हुए भी उसके साथ धोखा न करें, क्षमा करें, भलाई करें। संसार भलों की भलाई के सहारे ही चल रहा है। अच्छे तत्त्व कभी समूल नष्ट नहीं होते है। बुरे से बुरे, नीच से नीच मनुष्य में भी कुछ गुण हैं, कुछ भलाई हैं। बल्ब पर धूल मिट्टी चढ़ कर उसके प्रकाश को मन्द कर देती है। भलाई का प्रकाश लुप्त होने पर तो जीवन ही नष्ट हो जायेगा, बल्ब फ्यूज हो जायेगा। हम तथाकथित बुरे मनुष्य की छिपी और दबी हुई सद्भावना

श्रौर भलाई को श्रपनी प्रेमपूर्ण भलाई से जगा सकते हैं । श्रपने मन को स्वच्छ करने पर ही हम दूसरों की भलाई को समझ सकते हैं, भलाई को जगा सकते हैं। सच्चे श्रर्थ में जीवित रहने के लिये चालाकी की श्रावश्यकता नहीं है, भलाई की श्रावश्यकता है । भलाई का सिक्का जमा कर, भलाई के द्वारा श्रात्मीयता दिखा कर ही हम भलाई सिखा सकते हैं, भलाई का प्रचार श्रौर प्रसार कर सकते हैं। यदि श्राप का भलाई में विश्वास है तो भलाई करते रहिये। एक दिन भलाई श्रवश्य चमकेगी ।

दुःख में भी निराश न हों श्रौर विश्वास रखें कि प्रभु के हाथ श्रसंख्य हैं। एक छोटा द्वार हमारे लिये बन्द हो गया है तो कोई बड़ा सा द्वार श्रवश्य मिलेगा । ईश्वर हमारा श्रेष्ठ मित्र एवं बन्धु है । "न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् । यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संयोजयन्ति तम्" । ईश्वर ग्वाले की भांति लाठी लेकर सहायता नहीं करता है बल्कि समयोचित बुद्धि प्रदान कर रक्षा करता है । जहाँ उद्यम (पुरुषार्थ), साहस, धैर्य, विवेक, शक्ति श्रौर पराक्रम हैं, वहाँ ईश्वर भी सहायता करता है । उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः । षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवो सहायकः ।। एक प्रसिद्ध कहावत है-- हिम्मते मरदां मददे खुदा । जब मनुष्य हिम्मत से काम लेता है, ईश्वर भी उसकी सहायता करता है । साहसे श्री प्रतिवसति । साहस में श्री रहती है। हम ज़रा साहस करके उठें श्रौर श्रागे बढ़ें, प्रभु श्रवश्य हमें सहारा देंगे । जीवन की समस्याएं एक चुनौती हैं जिसे स्वीकार कर मनोबल, नीतिबल श्रौर पुरुषार्थ द्वारा हम विजयी हो सकते हैं। जीवनयात्रा के श्रनजाने मोड़ श्राने पर विवेक से काम लें श्रौर कहीं कुछ कठिन नहीं रहेगा । श्राशा श्रौर विश्वास रखो कि फिर प्रभात होगा, श्रंधेरा मिटेगा श्रौर प्रकाश श्रायेगा । इच्छा-शक्ति से निराशा की जड़ता को समाप्त कर दें ।

सुख देने से सुख मिलता है। माता-पिता श्रौर गुरु को श्रद्धा दीजिये, श्रापकी श्रद्धा ही उनका श्राशीर्वाद बनकर श्रापके पास लौट श्रायेगी । दूसरों को यश देने से श्रापको यश मिलेगा । सबहि मानप्रद श्रापु श्रमानी । मान देने से मान मिलेगा । स्वयं छोटा बनकर दूसरों को बड़प्पन देते हुए, व्यक्तिगत मान-श्रपमान पर ध्यान न देते हुए, दूसरों को ही मान देते हुए श्राप श्रपने कर्मपथ को प्रशस्त कर लेंगे । क्षमा देने से क्षमा मिलेगी । समुद्र मेघ को खारी पानी देता है श्रौर मेघ उसे मीठा जल बनाकर लौटा देता है । जो देंगे वही मिलेगा । सभी प्रेम के भूखे हैं । समाज को प्रेम दीजिये, समाज श्रापको प्रेम देगा । जाड़े में शरीर पहले वस्त्र को श्रपनी गर्मी देकर उसे गर्म करता है, तब वह हमें गर्मी देकर हमारी रक्षा करता है । दूसरों को सुख देने पर ही वे हमें सुख देंगे । यदि सुख चाहते हो तो सुख दो । चींटी भी दुःख नहीं चाहती है । सभी सुख चाहते हैं ।

दुःख दे कर हम सुख नहीं पा सकते हैं। यदि आपने प्रेमी स्वभाव को छोड़ दिया तो आपने सुख और शान्ति को लात मार दी। यह मनोवृत्ति रखिये कि मैं किसे क्या दे रहा हूँ। जिसे मैं कुछ नहीं दे सकता, उसे सद्भावना दूं, मधुर वाणी ही दूं। इस प्रकार, सोचने के तरीके बदलना आवश्यक है।

सत्पुरुष की विनम्रताजन्य दीनता उसकी महानता की परिचायक होती है। मन में अहंकार करना और उसका प्रदर्शन करना आपका हलकापन ही है। विनम्रता एक महान् गुण है। सिद्धान्त में दृढ़ रहकर भी व्यवहार में मृदु एवं विनम्र रहिये। विनम्रता गुणों को चमकाती है तथा दोषों को ढक देती है। धनुष झुक कर ही बाण को लक्ष्य प्राप्ति करा सकता है। अनेक व्यक्ति अपने त्याग, तपस्या, दान, विद्वत्ता आदि के कारण परम पूज्य होते हुए भी अपने तीखे स्वभाव के कारण समाज में पीछे धकेल दिये जाते हैं तथा वे अपना कोई स्थान नहीं बना पाते हैं। वे अपनी कटु वाणी एवं कटु व्यवहार से सभी को अकारण शत्रु बनाते रहते हैं। विनयभाव अभेद्य कवच होता है। प्रकृति ने जीभ में हड्डी (सख्ती) नहीं दी है। वाणी-प्रहार अप्राकृतिक है। जिह्वा रसवन्ती एवं मृदु होती है, वाणी भी रसीली एवं मधुर होनी चाहिये।

हमारा व्यवहार हमारी भावनाओं का दर्पण होता है। भावना में सुधार के साथ व्यवहार में सुधार हो जाता है। व्यवहार कुशलता का उद्देश्य व्यवहार शुद्धि होता है। व्यवहार शुद्धि से मानसिक शुद्धि होती है। व्यवहार कुशलता का अर्थ है परस्पर व्यवहार में अपने से अधिक दूसरों को महत्व देना, दूसरों की उपेक्षा न करना, दूसरों का ध्यान रखना, दूसरों का सत्कार करना, दूसरों के विचार, इच्छाओं, भावों एवं रुचियों का सत्कार करना, दूसरों की बात धैर्यपूर्वक सुनना, दूसरों पर अपने विचार बरबस न लादना, व्यर्थ संघर्ष मोल न लेना, व्यर्थ कटुता न फैलाना, दूसरों से सहयोग लेना, दूसरों को सहयोग देना तथा सामाजिक जीवन में पवित्रता एवं मधुरता उत्पन्न करना।

जीवन के अन्तरालों (गैप) को प्रभु के भाव से भर दो तथा रिक्त क्षणों को जप से भर दो। प्रभु आप में रहता है, आप प्रभु में रहें। समाज की सेवा को प्रभु सेवा मानकर जीने से आपका जीवन प्रभुमय हो जायेगा, भौतिक स्तर पर सुख और आध्यात्मिक स्तर पर आनन्द से व्याप्त हो जायेगा।

संसार एक सुन्दर उपवन है जहां नाना प्रकार के सुरभित पुष्प और मधुर फल भरे पड़े हैं। यदि एक फल कटु लगा तो अन्य रसीले फल छांट लें। उपवन को छोड़कर भाग जाने की प्रवृत्ति यह सिद्ध करती है कि आपने उपवन की मनोरमता नहीं देखी है। अथवा, संसार एक सुन्दर मेला है जहाँ असंख्य आकर्षण बिन्दु हैं और आप अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार उनमें से कुछ को पसन्द कर सकते हैं। पारिवारिक जीवन, स्नेहमय वार्तालाप, हास-परिहास, मित्रता,

साहित्य-अवगाहन, ज्ञान-संचय, भ्रमण, प्राकृतिक सौन्दर्य आस्वादन, तीर्थाटन, साहसिक-कार्य, सेवा-कार्य, प्रभु-भक्ति, कीर्त्तन-भजन, ध्यान-योगाभ्यास इत्यादि विविध मणियां हैं जिनकी उपलब्धि से जीवन में प्रकाश और सुनहलापन आ जायेगा। यदि हम डर और चिन्ता से घिर कर, अपने ही विकारों के कारण भाग खड़े हुए अथवा थक कर बैठ गये तो जीवन का स्वाद कैसे लेंगे ? जीवन का उद्देश्य जीवन को समझना और प्रदत्त शक्तियों के सदुपयोग द्वारा सुख प्राप्त करना है। हंसते-गाते हुए आगे बढ़ो, गल्ती से भी न डरो क्योंकि गल्ती इंसान से ही होती है। आंखें खोलकर चलो और चलते ही रहो। दुनिया के मेले को सब तरफ से और अच्छी तरह से देखो। वरपुरुष तो बन्दी हो कर कारागार को भी अपनी रसमयता से आनन्द स्थल बना देते हैं तथा भयानक रोग में भी जीवन के सौन्दर्य की अनुभूति कर लेते हैं। प्रभु ने नदी, निर्झर, तारा-जटित आकाश, ऊपर लटकते हुए विविध रूप वाले मेघ, हिमाच्छादित पर्वत-शिखर, हरी-भरी उपत्यकाएं, रंगबिरंगे फूल, स्वच्छ वायु, विशाल समुद्र, वीराने और बस्ती इत्यादि अनेक रुचिर वस्तुओं की संरचना के द्वारा धरती को रमणीक स्थल बनाया है और इन्हें सर्वसुलभ कर दिया है। हम एक सधे हुए मन से कोलाहल और भागदौड़ के बीच भी सुख और शान्ति ढूंढ सकते हैं। किन्तु हम न जाने कहाँ-कहाँ फंस कर अपनी मूर्खता से जीवन को कटु और दुनिया को नरक बना देते हैं तथा ईश्वर को और भाग्य को कोसते हैं। हम स्वयं जीवन को उलझन बना देते हैं और भटक जाते हैं तथा दूसरों को अपने कष्टों के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। जीवन का अर्थ सुख है। जीवन और सुख तद्रूप हैं, पर्यायवाची हैं। जीवन को सुख में परिणत करना ही परम पुरुषार्थ है। यही जीवन यात्रा की सार्थकता है। जीवन में आकर्षण है, माधुर्य है, सरसता है किन्तु हम जरा गहराई से देखें और उसे पाने का प्रयत्न तो करें। हम इस आशा और विश्वास से प्रेरित होकर पुरुषार्थ करें कि आने वाला कल हमारा होगा। जीवन के पुजारी को सुख अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, जीवन और सुख का रहस्य ज्ञात हो जाता है, जीवन सुख बन जाता है।

जैसी आशा करोगे, जैसे विचार करोगे वैसे बन जाओगे। हमें वही मिलता है जिसके हम अधिकारी होते हैं। उज्ज्वल भविष्य की आशा करो, उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करो, भविष्य उज्ज्वल हो जायेगा। निरुत्साही, संशयात्मा एवं अनिश्चयी द्विविधा में पड़ा रहता है तथा संकल्पवान् आगे बढ़ जाता है। जीवन में सुख की समुज्ज्वल कल्पना करो, आशा और विश्वास के साथ आगे बढ़े चलो। जीवन एक सुख हो जायेगा।

२

ध्यानदीप

कोई भी मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता हो अथवा न करता हो, जीवन के अस्तित्व को तो सभी को स्वीकार करना पड़ता ही है। जीवन के मूल स्रोत भीतर ही हैं और मानव को उनके साथ सम्पर्क एवं संबंध जोड़कर ही स्थायी शान्ति, सुख एवं संबल प्राप्त होते हैं। ईश्वरवादी मानते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है एवं ईश्वर का अंश है तथा आत्मसाक्षात्कार करना ही मानो ईश्वरतत्त्व के साथ एकीकरण है। अथवा, जीव का कल्याण ईश्वर की शरण में जाने पर ही होता है। हमारी अशांति के कारण हमारे भीतर ही हैं तथा आनन्द का अक्षय भण्डार भी भीतर ही है। हमें दुःख की निवृत्ति एवं सुख की उपलब्धि के लिये भीतर ही प्रयत्न करना है।

मनुष्य-देह में इन्द्रियां बहिर्मुखी झरोखे हैं और उनके द्वारा बाह्य जगत् के साथ क्रिया, प्रतिक्रिया होने पर मनुष्य अपने भीतर अलग ही अपनी एक दुनिया को बसा लेता है। यह स्वनिर्मित संसार ही मनुष्य के सुख और दुःख का कारण होता है। विचक्षण व्यक्ति इससे भी परे जीवन के मूल स्रोत के साथ सम्बद्ध होकर स्थायी सुख को प्राप्त कर लेता है। ध्यान-साधना के द्वारा, जो अध्यात्म का मूलाधार है, यह संभव हो सकता है।

आध्यात्मिकता मनुष्य को पलायन नहीं सिखाती है बल्कि उसके अन्तर्जगत् को सुव्यवस्थित कर उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करती है तथा उसे समभावजनित स्थायी सुख एवं शान्ति प्रदान करती है। अध्यात्म एक विज्ञान है, एक कला है, एक दर्शन है। अध्यात्म मानव के जीवन में जीने की कला के मूल रहस्य को उद्घाटित कर देता है। आध्यात्मिक वातावरण मानो मन के जख्मों को धोकर, उन पर दिव्य मरहम लगा कर मानव को मानसिक स्वस्थता प्रदान करता है। निद्रा की भांति ध्यान का दैनिक अभ्यास स्वास्थ्य एवं शांति के लिये परम आवश्यक है। थकने

पर निद्रा कैसी सुखदा प्रतीत होती है। निद्रा आने पर मनुष्य श्रेष्ठ संगीत, भोग्य पदार्थ एवं भौतिक सत्ता को भी भूल जाता है, वे हेय हो जाते हैं। जाग्रत अवस्था में ध्यान अन्तरंग का एक गहन सुख होता है जो अनिर्वचनीय है। जीवन में भव्यतम क्या है, इसका दर्शन ध्यान द्वारा ही संभव है। इसकी तुलना में समस्त सुख फीके प्रतीत होने लगते हैं।

ध्यान कोई तंत्र-मंत्र नहीं है। मन को विपरीत दिशा में अर्थात् बाहर से भीतर की ओर ले जाना और उसे विचारों के स्रोत के साथ जोड़ देना एक कला है जिसे ध्यान कहते हैं। ध्यान मन की एकाग्रता नहीं बल्कि मन को भीतरी चेतना के साथ जोड़ना है। ध्यान एक साधना है जिसके द्वारा हम अपने भीतर आत्मानन्द उपजाते हैं। केसर सब स्थानों पर उत्पन्न नहीं होती है; उसके लिये उपयुक्त स्थान खोजना होता है तथा एक विशेष पद्धति अपना कर अथक परिश्रम करना होता है। हमें आत्मानन्द उपजाने के लिये भी प्रयत्न (साधना) करना होगा। ध्यान-साधना आत्मानन्द प्राप्ति का एक साधन है। ध्यान संपूर्ण मन के मौन के द्वारा उस अवस्थान्तर प्राप्त होने का साधन है जो बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। ध्यान के द्वारा मन अपने संचित ज्ञान एवं अनुभव से अथवा बौद्धिक स्तर से ऊपर उठ जाता है। यह स्थिति कोई रिक्तता अथवा शून्यता नहीं है बल्कि बुद्धि के व्यापार से मुक्त होकर उससे परे सूक्ष्म अध्यात्म के सागर में प्रवाहित होना है जो कि स्थूल जगत् से परे है। ब्रह्मसूत्र में "ध्यानाच्च" का भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं कि एक प्रत्यय का प्रवाह करना ही ध्यान होता है। आध्यात्मिक भूमिका में यह प्रवाह परमानन्द का प्रवाह है।

मौन ध्यान का प्रथम चरण है। "मौन" का अर्थ केवलमात्र वाणी का मौन होना नहीं है। वाणी का मौन तो प्रारम्भ है। मौन का अर्थ है बाह्य संचरण छोड़कर अन्तः संचरण करना। "मौन" का अर्थ है, संयम के द्वारा धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन के व्यापार का शमन (दमन नहीं) होना। मौनं सर्वार्थ साधनम्। मौन समस्त सिद्धियों के मूल में है। मौन तन्द्रा की भांति मन को ताजा तथा सशक्त कर देता है। यदि वाणी रजत है, मौन स्वर्ण है। मौन रहकर ही परमात्मा सृष्टि-रचना एवं विश्व-संचालन करता है। प्रभु के साथ संलाप मौन होकर ही संपन्न होता है। अनुभूति की चरम सीमा मौन होती है। प्रेम, भक्ति और योग चरमावस्था में मौन में परिणत हो जाते हैं। संत का मौन उसकी गहन अनुभूति का द्योतक होता है। वाणी-निग्रह संयम का प्रारंभ है।

हमारे भीतर गहरे स्तर पर आनन्द-स्वरूप आत्मा है जो हमारा निजस्वरूप है। अभी मन उसकी ओर उन्मुख न होकर, बाहर भटक रहा है और सुखाभास को सुख समझ रहा है। जब तक हम भीतर आनन्द के स्रोत को नहीं पा लेते, तब तक हम बाहर के सुख की खोज में भटकते ही रहते हैं। बाहर भोगों से आकृष्ट

होकर उनमें भटकते रहने से भीतर चेतना नहीं सिमट सकती है। ध्यान के द्वारा रसोमय प्रभु के साथ संबंध जुड़ जाने पर भोगैश्वर्य की प्रवृत्ति निवर्त्तमान हो जाती है, संस्कार भस्म हो जाते हैं और जीवन एक स्थायी सुख (आनन्द) हो जाता है। जब मन ठीक प्रकार से भीतर की ओर उन्मुख होता है, तब वह स्वयं उसकी ओर तीव्रता से दौड़ता है मानो ढलान पर दौड़ रहा हो। तब चंचल मन नीवातस्थदीपशिखा की भांति स्थिर हो जाता है। गीता कहती है 'जिस प्रकार शान्त वायु के स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता है, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में संलग्न योगी के जीते हुए चित्त की भी कही गई है।' "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।" (गीता ६।१९)। जब मन ध्यान के द्वारा आनन्दस्वरूप आत्मा के सिन्धु में निमग्न होकर बाहर निकलता है, तब वह तृप्त एवं सशक्त हो जाता है। व्यक्ति की सीमित चेतना असीम चेतना के साथ जुड़ जाती है। मौन की सफलता होने पर ही ध्यान की सफलता होती है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं—'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्' (गीता १०।३८) अर्थात् गुह्य रखने योग्य भावों में मौनभाव भी भगवान् का ही रूप है। मौन प्रभु प्राप्ति का प्रमुख साधन है। महाभारत के उद्योगपर्व में सनत्सुजात धृतराष्ट्र से कहते हैं कि परमात्मा का ही नाम मौन है क्योंकि वेद भी परमात्मा को नहीं पहुँच पाते और परमेश्वर मौन-ध्यान करने से प्रकाश में आते हैं।

"यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन्॥"
(उद्योगपर्व ४३-२)

मौन की महिमा उद्योगपर्व में मुहुर्मुहुः गायी गई है :—

"विदित्वेति सदाकार्यं मौनं सद् ध्यानदीपकम्।
निहत्य सिद्धये निंद्यं बाह्यवाग्जालमञ्जसा॥
यतो मौनेन दक्षाणां स्वप्नेऽपिकलहोऽस्ति न।
मौनेनाशु हि म्रियन्ते रागद्वेषादयो रसाः॥
मौनेन गुणराशिश्च लभ्यते सकलागमम्।
मौनेन केवलं ज्ञानं मौनेन श्रुतमुत्तमम्॥"

अर्थात् बाह्य वाग्जाल को रोककर श्रेष्ठ ध्यान के लिये दीपक के समान मौनव्रत को धारण करें। मौन धारण करने से स्वप्न में भी कलह नहीं होता है। मौनव्रत धारण करने से रागद्वेषादि शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। मौन से गुणराशि प्राप्त होती है, मौन से ज्ञान प्राप्त होता है। मौन से केवल-ज्ञान प्रकट होता है।

मौन से उत्तमश्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। गीता ने मौन की प्रशंसा की है, "तुल्य-निन्दास्तुतिर्मौनी।" "मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।" मन की वृत्तियों के मौन को ही मौन कहा जाता है। मौनी के लिये स्तुति और निन्दा भी एक समान होते हैं क्योंकि वह वृत्तियों के शमन द्वारा निन्दास्तुति से ऊपर उठ जाता है।

साधक मौन-ग्रहण के समय वर्तमान घटनाओं में रुचि न लें, कल की चिन्ता न करें और भविष्य की योजना भी न बनायें। निरन्तर रामनाम (प्रभुनाम) जपने और मन में राम (इष्टदेव) अथवा किसी सन्त के स्वरूप पर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करें। निद्रा आ जाये तो लेट कर सो जायें। मौन का उद्देश्य है मन में व्यक्तिगत घृणा, ईर्ष्या-द्वेष और क्रोध से ऊपर उठने का संकल्प लेकर चित्त शुद्धि करना, प्रेम तथा क्षमा को अपनाना एवं मानसिक पवित्रता तथा जपादि के द्वारा प्रभु के साथ आत्मसात् होना, आत्मसमर्पण भाव में रहना, आध्यात्मिक प्रगति करना। यही अन्तर्मौन है। मौन से संकल्प शक्ति आदि मानसिक शक्तियां जागती हैं; किन्तु मौन का उद्देश्य न शक्तियां जगाना है, न उनका अभिमान करना अथवा प्रदर्शन करना। यथासंभव मौन के समय में शान्तचित्त होकर ध्यान और जप ही करना चाहिये। मौन से वृत्तियों के शमन के द्वारा मानसिक शांति का अभ्यास होता है। अतएव मौन के समय मन में झुंझलाहट होना अथवा दुःखी होना असंगत ही है। प्रारंभ में मौन का अभ्यास एकान्त स्थल में तथा कुछ घंटों तक ही करना उचित होता है।

मौनव्रती (मौन का अभ्यास करने वाला साधक) उत्तेजना दिलाये जाने पर तथा उत्तेजना का कारण समुपस्थित होने पर भी अनुत्तेजित अवस्था में रहना जानता है। वह शान्त भाव में रहकर मन को सन्तुलित बनाये रखता है। विवेक और धैर्य उसका साथ नहीं छोड़ते हैं। वह जल्दबाजी और लापरवाही से निर्णय नहीं लेता है। वह संघर्षवेला में भी भीतर प्रशान्त रहता है। उसके मुख से गाली देने वाले के लिये भी "भद्रं ते अस्तु" (तेरा कल्याण हो), शुभकामना के ये शब्द ही निकलते हैं तथा वह अन्याय का बलपूर्वक प्रतिरोध करते हुए भी निर्वैर रह सकता है। "मौन" का अर्थ है मन का तप, मन को स्ववश में रखना, अध्यात्म के सिद्धान्त पर दृढ़ रहना। मौनव्रती कम बोलता है और जब बोलता है तब थोड़ा बोलता है, सत्य तथा हितकारी वाणी बोलता है, मधुर बोलता है। मौनी बहुत कम बोलता है तथा उसके शुद्ध संकल्प उसके बिना बोले हुए ही, दूसरों के भीतर जग कर, दूसरों में प्रेरणा बनकर, दूसरों के कर्म के द्वारा पूर्ण हो जाते हैं। पवित्र मौनी के संकल्प ईश्वर के संकल्प बन जाते हैं तथा पूर्ण होते हैं। मौन एक अभ्यास है।

सोद्देश्य मौन बैठने से इच्छा-शक्ति (विल पावर) और संकल्प-शक्ति (संकल्प

पूरा करने की मानसिक शक्ति) का विकास होता है। इच्छा शक्ति के प्रयोग से विष को अमृत, कटु फल को मधुर फल, खारे जल को मधुर जल बनाने की, रोग को ठीक करने की, दूर गये हुए मनुष्य को मानसिक संदेश द्वारा (मन में उसकी स्पष्ट कल्पना करके मन में ही उसे तुरन्त लौट आने का आदेश देकर) पास बुला लेने की, रूठे हुए व्यक्ति को मना लेने की, भयानक पशु को पैनी दृष्टि से रोक देने की तथा अन्य प्रकार के अद्भुत कार्य कर देने की सामर्थ्य का उदय हो जाता है। संकल्प-शक्ति इच्छा-शक्ति का ही एक रूप है। संकल्प द्वारा अपना अथवा दूसरों का रोग ठीक करना आदि संभव है। आत्म-शंसन साधना में सहायक होता है। इन मानसिक शक्तियोंका उपयोग परमार्थ अथवा आध्यात्मिक उन्नति के लिये करना चाहिये, न कि कुख्यात रसपुटिन की भांति निकृष्ट वासना पूर्ति के लिये दुरुपयोग। सब शक्तियों एवं सिद्धियों का उपयोग आत्मबल प्राप्ति के लिये, आत्म साक्षात्कार के लिये होना चाहिये। सिद्ध मौनाभ्यासी की देह से शान्ति-प्रदायक किरणें प्रस्फुटित होती रहती हैं जो उसके चारों ओर के वातावरण को ऐसा शान्तिदायक बना देती हैं कि उसके सम्पर्क में आकर श्रद्धालु जन लाभ उठा सकते हैं। मंत्र शक्ति भी एक विशेष दिशा में इच्छा शक्ति का ही प्रयोग है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, लोभ आदि विकारों से मुक्त, पवित्र एवं शान्त मन में ही समस्त शक्तियों का पूर्ण उदय संभव है। मौन का अर्थ है वाणी का संयम और शान्तभाव का अभ्यास। मौन एवं अन्तर्मुखी होने पर ही तत्त्व दर्शन होता है। महाकवि मीर इसे इस प्रकार कहते हैं——मक्के गया, मदीने गया, करबला गया। जैसा गया था वैसा ही चल-फिर के आ गया। देखा हो कुछ उस आमदोशुद में तो मैं कहूं। खुद गुम हुआ तो बात की तह आप पा गया। मौन की चरमावस्था में, अन्तर्मौन होने पर, न केवल वाणी का ही विराम हो जाता है, धीरे-धीरे कामनाओं और विचारों का भी लोप हो जाता है तथा भीतर एक अद्भुत, अकल्पनीय, अनिर्वचनीय शान्ति, शक्ति एवं सौन्दर्य का अवतरण होता है। वास्तव में मौन का परिपाक ही ध्यान है तथा मौन एवं ध्यान के बीच कोई विभाजन रेखा खींचना असंभव है। एकान्त में मौनभाव में स्थित होने पर मन स्वतः उच्चस्तर पर पहुंच कर अध्यात्मतत्त्व में केन्द्रीभूत हो जाता है। "मुझ को ले आई है तनहाई कहां पर या खुदा, एक नुक्ता बन गया सारा जहां मेरे लिये।" ध्यान की भूमिका में मौन का अर्थ है अन्तर्मुखी होकर भीतर शान्त हो जाना। मौन और ध्यान जीवन में सुख एवं शान्ति की प्रस्थापना कर देते हैं तथा मानव की सभी छिपी हुई, प्रसुप्त और कुण्ठित शक्तियों का मोचन कर व्यक्तित्व को दीप्तिमय बना देते हैं।

ध्यान की भूमिका में सहज मनोयोग की चर्चा करना आवश्यक है। वह एक दिशा में अवधान (एटेन्शन) की सहज एकाग्रता है जो कर्म में रुचि (इन्टेरैस्ट) लेने तथा समर्पित होने से उत्पन्न होती है। मस्तिष्क के साथ संघर्ष करके इच्छा-

शक्ति द्वारा बरबस मानसिक एकाग्रता (कान्सेन्ट्रेशन) प्राप्त करना अस्वाभाविक एवं हानिकर हो सकता है। भौतिक हानि-लाभ के विचार को छोड़ कर किसी रचनात्मक एवं सृजनात्मक कार्य में तन्मय हो जाना, सौन्दर्य भावना (एस्थेटिक सेन्स) से प्रेरित होकर किसी कलात्मक एवं सौन्दर्यात्मक कार्य में तल्लीन होना, दत्तचित्त होकर कार्य के साथ आत्मसात् हो जाना एक प्रकार का लाभकारी मनोयोग है जो ध्यानयोग से सर्वथा भिन्न है।

ध्यान के लिये किसी प्रक्रिया विशेष की आवश्यकता नहीं है। प्रारंभ में साधक प्रतिदिन किसी निश्चित, शान्त समय में (दिवसारंभ में सूर्योदय से पूर्व श्रेष्ठ एवं उपयुक्त समय होता है) तथा किसी नीरव स्थान पर शरीर को शिथिल करके आराम की सहज मुद्रा में सुखासन में बैठ जाये। "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः" (गीता ६।११) अर्थात् साधक शुद्ध स्थान पर स्थिर आसन स्थापित करके बैठे। पृथ्वी पर बैठने पर आसन बिछाना आवश्यक होता है। वह प्रदेश मन के अनुकूल और नेत्रों को पीड़ा न देने वाला हो, वहां प्रकाश मन्द हो। "मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने" (श्वे० २।१०)। दिशा, काल और प्रदेश विशेष से कोई संबंध नहीं है। साधक तटस्थ होकर चिन्तन-प्रवाह को देखता रहे। केवल द्रष्टा बनकर आत्मनिरीक्षण करने पर साधक विश्लेषण, तुलना, मूल्यांकन आदि नहीं करेगा क्योंकि वह अब आलोचक भाव से परे है। उस अवस्था में वह किसी विचार को भला या बुरा घोषित नहीं कर रहा है। वह तथाकथित पाप का विचार आने पर आत्मताड़ना अथवा तथाकथित पुण्य का विचार आने पर आत्म-श्लाघा भी नहीं करेगा। अपने को चिन्तन-प्रवाह से दूर अथवा ऊपर रखने के प्रयत्न में वह अपने विचारों से न युद्ध करेगा, न उन्हें प्रोत्साहन देगा। वह केवल निरीक्षण करेगा और निरीक्षण भी निष्प्रयोजन एवं तटस्थ। उसे विचारों से कोई निष्कर्ष नहीं निकालना है। इस प्रकार पहले चेतन मन कुछ समय (पांच सात मिनट) के पश्चात् शान्त होने लगेगा। तदनन्तर अवचेतन मन की इच्छाएं, आकांक्षाएं, भय, चिन्ता, आशंका, राग-द्वेष आदि प्रबल ढंग से स्वप्नों, कल्पनाओं आदि के रूप में चेतन स्तर पर आने लगेंगे। साधक साहसपूर्वक तटस्थ द्रष्टा ही रहकर इस विचारप्रवाह को देखता रहे तथा स्वयं उसमें न जुड़ जाये अन्यथा मन में तनाव आ जायेगा। वे सब इच्छाएं और भय हमारे ही हैं जो हमें अनजाने दुःखी रखते हैं। वे हमें भीड़ की भांति घेरकर मानो पकड़ लेने का प्रयत्न करते हैं। धैर्य रखें तथा तटस्थ द्रष्टा ही रहकर अपने भीतर के गहरे स्तर को भी देखते ही रहें। वास्तव में अवचेतन मन भी गतिमान तो निरन्तर रहता है किन्तु हमें इसी अवस्था में ही उसका यह ज्ञान होता है। तब हमारे अवधान के समक्ष अवचेतन मन नग्न होकर दीखने लगता है। अवचेतन (अचेतन) के अतल गह्वरों में उतरने पर, समस्त संस्कारों, इच्छाओं, आशाओं, निराशाओं,

स्मृतियों की परतों को उठाकर, अथवा उनका भेदन कर गहरे स्तर पर चेतना की निर्ग्रन्थ, निर्मल, अखण्ड सत्ता का दर्शन हो जाता है। नित्यप्रति ऐसा अभ्यास करने पर ध्यान की पूर्वावस्था में धीरे-धीरे चेतन तथा अवचेतन मन प्रायः शान्त होने लगेंगे और उनकी चंचलता शिथिल अथवा न्यूनतम हो जायेगी। यह एक महत्त्वपूर्ण सफलता है, जिसका गर्व भूलकर भी साधक को नहीं करना चाहिये। सत्य का अनुसंधाता सदैव विनम्र रहता है।

मन के वेगों को बरबस शान्त करने का प्रयत्न करना भयंकर भूल है तथा सुकोमल उपकरण (मस्तिष्क) के प्रति हिंसात्मक क्रूरता है जोकि दुःखदायक होती है। तटस्थ निरीक्षण का अभ्यास ही मन को दोनों स्तरों पर कुछ समय के लिये लगभग शान्त कर सकता है। तटस्थ चिन्तन के अभ्यास से विचारों में वेग और उग्रता का शमन हो जायेगा, भावात्मक पक्ष सन्तुलित हो जायेगा और आवेश से मुक्ति मिल जायेगी।

"क्या करें, पूजा में ध्यान नहीं लगता है", ऐसा कहने वाले ध्यान को मन का केन्द्रीकरण समझते हैं जोकि कहीं बाहर मन को कील ठोकने की भांति केन्द्रित कर देने के समान है। त्राटक आदि क्रियाएं मन को बरबस केन्द्रित एवं एकाग्र करने में सहायक होती हैं किन्तु वह ध्यान से भिन्न है तथा अध्यात्म-साधक के लिये विशेष उपयोगी नहीं है। ध्यान का अर्थ अवधान (एटेंशन) का केन्द्रीकरण नहीं है; बल्कि न केवल बाह्य पर्यावरण से ही, अपितु अपने चिन्तन (इच्छाओं, भावों, विचारों) से भी ऊपर उठकर आत्मसंस्थित होना है।

तटस्थ होकर चिन्तन-दर्शन करने से मन की उछल-कूद धीरे-धीरे स्वयं ही शान्तप्राय हो जायेगी। साधारणतः प्रत्येक पांच सात सेकिंडों में मन के चेतन स्तर पर तीव्रता से एक नया विचार आकर अवधान को घेर लेता है। किन्तु तनाव की स्थिति में चिन्ताप्रद विचार उत्तेजना के कारण अत्यन्त शीघ्र आने लगते हैं तथा मन के धरातल में कम्पन उत्पन्न कर देते हैं अथवा मन को जकड़ लेते हैं। तटस्थ चिन्तन के अभ्यासी साधक के मन में विचार धीरे-धीरे आते हैं तथा शान्त ढंग से निकलते रहते हैं। कभी-कभी देर तक, घण्टों तक, साधक ऐसे शान्त बैठे या लेटे रह सकता है कि मन में लगभग विचारशून्यता सी बनी रहे। विचारशून्य मन को गहन शांति प्राप्त हो जाती है जिससे स्नायुमण्डल को विश्राम मिल जाता है। यह स्पन्दनरहित स्थिति मन में लगभग विराम की अवस्था ला देगी जबकि परस्पर विरोधी इच्छाएं एवं आकांक्षाएं जरा भी परस्पर विरोधी विचार और भावनाओं को उत्पन्न न कर सकेंगी। तब न मन बिखरेगा, न मन की शक्तियां ही बिखरेंगी बल्कि वे शक्तियां अपने मूल स्रोत पर पहुंचकर घनीभूत हो जायेंगी तथा मन में स्वस्थता लाकर व्यक्तित्व को चमका देंगी।

जब आन्तरिक अथवा बाह्य उद्दीपन के निष्प्रभाव हो जाने के कारण मन में तनाव नहीं रहता, तब घनीभूत आन्तरिक सम्पूर्ण शक्तियों का संघात (अनन्त चैतन्य के साथ जुड़कर) व्यापक प्रेम की अभिनव शक्ति को आविर्भूत कर देता है जिससे व्यक्ति को स्वस्थ रूपान्तर का लाभ प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति के हृदय में जीवमात्र के प्रति मैत्री भाव (व्यापक प्रेम) जाग्रत होना उसकी ध्यान क्रिया की एक सहज सुलभ उपलब्धि होती है। आत्मदर्शन की प्रक्रिया (भौतिक स्तर से प्रारंभ होकर आत्मिक स्तर पर पहुंचने पर) आत्मानुभूति के रूप में चरम सीमा को प्राप्त होती है जहाँ साधक का मन आत्म विलीन होकर कृत-कृत्य हो जाता है। यह क्रिया मन को शुद्ध एवं पवित्र कर देती है तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उद्भासित कर देती है। इस भावातीत ध्यान के द्वारा मन स्थूल विचारों एवं भावों को पार करता हुआ भीतर सूक्ष्म तत्त्व तक पहुंच जाता है, तथा चैतन्यस्वरूप जीवन के मूल स्रोत को छूकर सजीव और पुष्ट हो जाता है। ध्यान के द्वारा गहरे स्तर पर अतिचेतना (जो विश्व चेतना के प्रवाह का अंश है) से सम्पर्क होने पर मन निर्मल एवं सशक्त हो जाता है, सुषुप्त कुण्ड-लिनी शक्ति सहज ही जाग जाती है और चमत्कारिक प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। यह है केवल तटस्थ चिन्तन के द्वारा धीरे-धीरे भावातीत ध्यान में स्थित होकर आध्यात्मिक सुखलाभ प्राप्त करना। इस प्रकार, मानो, ध्यान अक्रिया है, क्रिया नहीं।

योगासन, स्वच्छता, स्नानादि से शरीर पुष्ट एवं शुद्ध होता है। यद्यपि उनका ध्यान-क्रिया से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है तथापि उनका एक महत्व है। यम, नियम का पालन करने पर तथा आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास करने पर धारणा की अवस्था प्राप्त होती है। धारणा ध्यान की पूर्वावस्था है और ध्यान का परिपाक समाधि है। (समाधि की विभिन्न प्रक्रियाएं, आत्मा का प्रक्षेपण इत्यादि, सिद्ध गुरु के निर्देशन में ही करनी चाहियें अन्यथा वे प्राणघातक भी हो जाती हैं)। वास्तव में पतञ्जलि-प्रणीत यम, नियम, आसन आदि अष्टांग परस्पर सम्बद्ध हैं तथा सभी का एक साथ अभ्यास होना संभव तथा उचित है। क्रमशः यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि का अभ्यास करना साधना को कठिन बना देता है। ध्यान अष्टांग-योग का मध्य बिन्दु है। (यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को, विशेषतः आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार को हठ योग कहते हैं)। ध्यान के द्वारा हम समस्त चेतना को स्थूल बहिर्जगत् से समेटकर भीतर सूक्ष्म चेतना की ओर उन्मुख करते हैं। ध्यान द्वारा हम आत्मसाक्षात्कार करते हैं, आत्मज्योति का दर्शन करते हैं, अथवा यों कहिये, आत्मतत्त्व का परमात्मतत्त्व में लय हो जाता है। बिन्दु मानो सिन्धु के साथ, स्फुलिंग अग्निपुञ्ज के साथ, एक हो जाता है। साधक को साध्य प्राप्त हो

जाता है, मंजिल मिल जाती है। ध्यान की चरम अवस्था में साधक आनन्द महोदधि में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार तटस्थ चिन्तन द्वारा ध्यान की चरम अवस्था प्राप्त करना ध्यान की एक सर्वमान्य पद्धति है। रात्रि में ध्यान-मग्न होकर सो जाना मानो योगनिद्रा है।

एक अन्य पद्धति (भक्तिमय मानसिक जप पद्धति) अपनाने पर तटस्थ चिन्तन के स्थान पर, पृथक् रूप से, अथवा उसके पश्चात् भी, यदि कोई भक्त साधक चाहे, किसी लघु मंत्र (ओ३म्, राम, श्रीराम जय राम जय जय राम अथवा ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय इत्यादि) के जप का सहारा ले सकता है। साकार उपासक, यदि वह चाहे, सामने विराजमान, प्रभु के किसी इष्ट स्वरूप का कभी-कभी भक्तिपूर्ण भाव से दर्शन करता हुआ धीरे-धीरे जप कर सकता है। यह जप यथासंभव बिना माला लिये हुए ही करना चाहिये। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं––यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि (अध्याय १०।२५) अर्थात् सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ प्रभु का स्वरूप है। जप द्वारा प्रभु प्राप्ति संभव है। पहले थोड़ी देर तक धीरे-धीरे बोलकर मंत्र का जप करना चाहिये तथा स्वयं अपने मंत्रोच्चारण की ध्वनि को सुनना चाहिये, फिर मानसिक जप का प्रारंभ कर देना चाहिये और नेत्र मूंदकर अपने मानसिक जप को सुनने का प्रयत्न करना चाहिये, यह भक्तिमय मानसिक जप भी साधक को कुछ काल तक ध्यानलीन कर सकता है। (कुछ साधक मानसिक जप में, मंत्र की मानसिक ध्वनि पर चित्त को एकाग्र न करके, अपने श्वास के आगमन और निर्गमन पर एकाग्र करते हैं। श्वास-निःश्वास पर चित्त की एकाग्रता होने पर जप छूट जाता है और एक शून्यता का आभास होता है जो ध्यानावस्था की भूमिका होती है यह भी मानसिक जप पद्धति की एक शाखा है।)

मानसिक जप करते हुए भक्तिमार्गावलम्बी साधक को आत्मसमर्पण भाव से ओत-प्रोत होकर, भावपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। परमेश्वर हृदय की वाणी, कातर पुकार को अवश्य सुनते हैं, भाषा की सुन्दरता का करुणार्द्रता से कोई संबंध नहीं है। "हे सर्वाधार, मुझ शरणागत को कृपादृष्टि का वरदान दे। आपकी कृपा से ही मैं मोहमुक्त होकर एकाग्र भाव से भक्ति कर सकता हूँ। आपकी कृपा से ही मेरा जीवन शुद्ध एवं पवित्र हो सकता है। आपकी कृपा से ही परम ज्योति का प्रकाश मेरे हृदय को जगमगा देगा। हे रोम रोम में रमने वाले राम, कृपा सिन्धो, मुझ पर कृपा कीजिये।" भक्तजन अपने सरल शब्दों में सरल भाव से प्रार्थना करके प्रभु के साथ अपनेपन का नाता स्थापित करते हैं। वास्तव में जप अथवा पूजा-पाठ साध्य नहीं है, साध्य है प्रभु के साथ एक जीता-जागता नाता स्थापित करना। जपादि के द्वारा ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। प्रार्थना करते हुए भक्त भावविभोर हो जाता है और उसे कुछ समय

के लिये अपने तन, मन तथा बहिर्जगत् का भान ही नहीं रहता है। तब प्रार्थना जप आदि छूट जाते हैं तथा साधक आनन्दलीन हो जाता है। वह अवस्था अनिर्वचनीय होती है। शून्यता में पूर्णत्व का आभास होता है, पूर्ण परमेश्वर की झलक मिलती है। यह ध्यान की शुद्ध भक्ति साधना पद्धति है जिसमें जप गौण है और भक्ति भाव प्रमुख है। इसमें आनन्द विभोरता होती है। भक्त के तन्मय होने के लिये केवल भक्तिभाव ही पर्याप्त होता है। मानसिक जप छोड़ कर भक्तिपूर्ण नाम-कीर्त्तन भी विभोरताजन्य दुर्लभ तल्लीनता उत्पन्न कर देता है।

यद्यपि साधक का मन, केवलमात्र तटस्थ चिन्तन के द्वारा, स्वयं ही स्थूल स्तरों को पार करता हुआ, शुद्ध चैतन्य (चेतनासागर) तक पहुंचकर, उसमें निमग्न होकर, भावातीत आनन्द की उपलब्धि कर सकता है तथापि लघुमंत्र का जप भी इसमें, विशेषतः प्रारंभ में, सहायक हो सकता है। अध्यात्म जगत् में जप का अपना स्वतन्त्र स्थान है। ध्यान के परिप्रेक्ष्य में इसका महत्वपूर्ण उपयोग हो सकता है। किसी लघु मंत्र का मानसिक जप एक रस्सी की भांति है जिसके सहारे किसी गहरे कुए में उतरने की भांति साधक का मन धीरे-धीरे स्थूल स्तरों को पार करते हुए भीतर सूक्ष्म, शुद्ध चेतनासंस्थान तक पहुंच पाता है अथवा, मंत्र एक वाहन है जिस पर चढ़कर मन अपने गन्तव्य स्थान तक पहुंच जाता है। स्थूल स्तर पर प्रत्येक विचार चेतन मन में पांच से दस सेकिंडों तक रहता है जो हमारे अवधान को आकृष्ट कर पकड़ लेता है। साधक का मन बार-बार विचारों से मुक्त होकर, बाह्य जगत् के प्रलोभनों एवं चिन्ता-जंजाल से छूट कर, बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को धीरे-धीरे अन्तर्मुखी करता हुआ, नेत्रों को मूंदे हुए, मंत्र जप रूपी रज्जु को पकड़कर भीतर हृदय में मानो गहरे ही गहरे उतरने लगता है अथवा मन मानो भीतर सीढ़ी से नीचे उतरते हुए हृदय क्षेत्र के तल पर जाकर वहाँ दृढ़ता पूर्वक बैठ जाता है और फिर मानो अपने अस्तित्व के बीजस्वरूप को भी कहीं छू कर पार करता हुआ, लगभग पन्द्रह-बीस मिनिटों में कुछ काल तक शुद्ध चैतन्य सागर में निमग्न हो जाता है जहाँ मंत्र भी स्वतः विलीन हो जाता है। ध्यान स्थिति लाने के लिये संघर्ष करना अथवा शक्ति लगाना बाधक होता है। सहज भाव से सहज ही ध्यानावस्था प्राप्त हो जाती है। निर्बन्ध होकर स्वच्छन्द विचरण करना तथा आनन्द की ओर उन्मुख होना मन की सहज प्रवृत्ति है। साधक को ध्यानावस्था में समीप के कोलाहल का नगण्य सा आभास हो सकता है किन्तु तल्लीनता के कारण उसे बाधा का अनुभव न हो सकेगा। ध्यान की अवस्था में शरीर अत्यन्त भारहीन, मन सूक्ष्म, और श्वास-प्रश्वास अलक्षित प्रतीत होते हैं। यह त्रिगुणातीत स्थिति होती है। दूर प्रतीत होने वाला ईश्वर समीप अनुभव

होने लगता है। 'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके' (ईशावास्योपनिषद्) अर्थात् वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह (तत् उ अन्तिके) सचमुच समीप है। आत्मा सर्वव्यापक है। मन के द्वारा अन्तः स्थित ईश्वर को स्पर्श करना अथवा उसके समीप जाना पूजा ही है। ध्यानावस्था में भीतर एक विस्फोट होता है तथा दिव्य प्रकाश एवं परम सौन्दर्य का साक्षात्कार हो जाता है। एक क्षण में ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हो जाती है जिस के उपरान्त ऐसा लगता है कि "का सत कलप जिये"। जीवन का सम्पूर्ण सुख प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में प्रातः और सायं लगभग तीस-चालीस मिनिट, प्रत्येक समय, ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। उचित तथा पूर्व निर्धारित समय पर एक गहरी सी सांस के साथ ध्यान से जागरण हो जायेगा और साधक को ऐसा प्रतीत होगा कि वह अभिनव ओज एवं शक्ति लेकर पुनः स्थूल स्तर पर आ गया है। आध्यात्मिक धरातल से भौतिक धरातल पर आते हुए साधक को ऐसा ही बिछुड़ने का सा अनुभव होगा जैसे कि मां जगदम्बा की गोद से बरबस हटाकर बाहर पटक दिया गया हो। तथापि अध्यात्म-सागर में अवगाहन का शीतल एवं सुखद प्रभाव मन पर छूट जाता है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर प्रार्थना को निरर्थक समझता हो वह केवलमात्र ध्यान की इस भावातीत पद्धति का अभ्यास करने से अवश्य ही लाभान्वित हो सकता है। ध्यानजनित सुख और उसके सुदूरगामी प्रभाव सचमुच वर्णनातीत हैं।

तटस्थ चिन्तन के स्थान पर स्वतन्त्र रूप से अथवा उसके पश्चात्, साधक मंत्र (नाम) की भांति प्रकाश का सहारा ले सकता है। तटस्थ चिन्तन के स्थान पर अथवा उसके अतिरिक्त, शब्द (मंत्र) अथवा प्रभु के स्वरूप (प्रकाश) का सहारा लेना अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। साधक नेत्र मूंदकर कल्पना करता है कि प्रकाश जो प्रभु का स्वरूप हैं, सामने बाहर फैल रहा है तथा उसमें से एक प्रकाश-धारा निकलकर भीतर हृदय में, हमारे रोम-रोम में, आकर समा रही है। प्रकाश-धारा मानो हृदय में नीचे की ओर निरंतर उतर रही है और हमारी भीतरी दृष्टि भी उसके साथ ही नीचे उतर कर कहीं तल पर पहुंच रही है जहाँ पहुंच कर वह स्थिर हो जाती है। इससे भी तल्लीनता के द्वारा ध्यान की चरमावस्था प्राप्त हो सकती है। यह भावातीत पद्धति का एक अन्य रूप है। हृदय के समीप अनाहत चक्र का संस्थान है।

आनन्द आत्मा की आत्मप्रतीति अथवा आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति होता है। आत्मानन्द का प्रभाव बुद्धि को सुखमय, स्वस्थ एवं संतृप्त कर देता है तथा समस्त व्यक्तित्व तृप्त हो जाता है। प्रारम्भ में लगभग बीस मिनट तक आंखें बन्द करके ध्यान में बैठे ही रहना चाहिये। अभ्यास होने पर भी लगभग ३०-४० मिनिट तक ध्यान में बैठना पर्याप्त होता है। दिन में दो बार इसका

अभ्यास करना चाहिये। ध्यान के पश्चात् भौं को हल्के से मलते हुए धीरे-धीरे आंखें खोलकर, दो तीन मिनट तक शान्त होकर बैठे ही रहना चाहिये। ध्यान के समय खाज लगने पर खुजला लेना चाहिये तथा यदि ध्यान के समय नींद आ जाये तो जागने पर एक दो मिनिट तक अवश्य शान्त बैठना चाहिये। कभी-कभी सामूहिक ध्यान में बैठने से भी सहायता प्राप्त होती है।

ध्यान की अवस्था के पकने पर नियमपूर्वक ध्यान करना अनावश्यक हो जाता है तथा नियम स्वयं छूट जाता है। दिन-रात प्रभु का भाव बना रहता है तथा कभी-कभी सहज ध्यान-समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। निरन्तर प्रभु का आनन्दमय भाव रहना सहज समाधि है जिसके संबंध में कबीर कहते हैं, "सन्तो सहज समाधि भली"। भक्ति, ज्ञान, और योग तीनों की चरमावस्था एक ही होती है। ध्यान मार्ग योग का प्रमुख अंग है और प्रत्यक्ष फल देता है।

इस प्रकार ध्यान अवधान का केन्द्रीकरण नहीं है, मन को बरबस एकाग्र करना नहीं है, बल्कि मन का भौतिक स्तर से ऊपर उठकर तथा संस्कार-विमुक्त होकर, आध्यात्मिक स्तर पर आ जाना है। मानसिक अवधान का बरबस केन्द्रीकरण (फोर्स्ड कान्सेन्ट्रेशन) बीच में ही रुक जाना है, एक बाधा है। ध्यान का उद्देश्य प्रभु से नाता जोड़ना है, दिव्यता की अनुभूति करना है। साधक प्रारब्ध की महत्ता एवं बलवत्ता को स्वीकार न करके, स्वतन्त्र भाव से, ईश्वर की ओर उन्मुख एवं प्रवृत्त होता है। साधक तो केवल ईश्वर की महत्ता को ही अंगीकृत करता है। ईश्वर ग्रहपति है, भाग्याधिपति है, सर्वसमर्थ है।

साधक ध्यान का अभ्यास करने से दैनिक जीवनचर्या में मोह से विमुक्त हो जाता है और ज्यों-ज्यों वह मोहविमुक्त होता है त्यों-त्यों उसे ध्यान में अधिक सफलता मिलती है। ध्यानजनित आनन्द की अनुभूति होने पर व्यक्ति को भौतिक जगत् में कुटिलता, घृणा, स्वार्थ, परिग्रह, विषयभोग आदि नीरस एवं निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं।

धरती को गहरे खोदने पर मधुर जल के स्रोत फूट कर निकल आते हैं। मन की धरती में भी गहरे अवगाहन करने पर शाश्वत शान्ति का अमृत प्राप्त हो जाता है। यह अवगाहन ध्यान द्वारा संभव है। ध्यान द्वारा मन की रहस्यमयी शक्तियों का उद्घाटन हो जाता है।

भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीर ने भी आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिये ध्यान को परम उपयोगी साधन माना है। दोनों महापुरुषों ने इन्द्रिय निग्रह, अनासक्ति तथा मानसिक पवित्रता (घृणा, द्वेष, क्रोध, हिंसा से मुक्ति और व्यापक प्रेम, क्षमा, अहिंसा का ग्रहण) को ध्यान की सफलता का रहस्य माना है यद्यपि दोनों की व्याख्या और शब्दावली भिन्न भिन्न है। महावीर कषाय-मुक्ति पर बल डालते हैं तथा बुद्ध तृष्णा-मुक्ति की पुष्टि करते हैं। तनहा (तृष्णा)

वास्तव में अतृप्ति अथवा अतृप्त कामना है। कामना का सार आसक्ति होता है। भौतिक विषयों से आसक्ति छूटने पर अथवा अनासक्त होने पर कामना शिथिल हो जाती है और अतृप्ति अथवा तृष्णा छूट जाती है। इन्द्रियों के कारण मन भौतिक विषयों में आसक्त हो कर उनकी कामना को उत्पन्न कर देता है और प्रचुर भोगों द्वारा भी तृप्ति न होने पर मन में अतृप्ति एवं तृष्णा घर कर लेते हैं और ग्रन्थि बनाकर मन को बांध लेते हैं, दुर्बल कर देते हैं। उन्मुक्त मन संसार की सबसे बड़ी शक्ति है जो अद्भुत, कल्पनातीत कार्य कर सकती है किन्तु मानव ने अभी उसका उपयोग करना नहीं सीखा है।

भगवान् बुद्ध ने ध्यान की 'विपश्यना साधना' द्वारा बुद्धत्व प्राप्त किया था। 'विपश्यना' का अर्थ है विशेष विधि से अपने आप को देखना। विपश्यना साधना बौद्धों में बर्मा में प्रचलित है। जापान में ज़ेन भिक्षुओं में प्रचलित ध्यान विधि को जाजेन कहते हैं जो इससे भिन्न है। (आदिम जातियों के लोग तथा बन्दर भी अनायास प्रतिदिन कुछ देर तक शान्त होकर बैठते हैं मानो ध्याना-भ्यास कर रहे हों।) विपश्यना का प्रारंभ आनापान (नासिका से उष्ण श्वास का निर्गमन तथा शीत वायु का आगमन देखना, अन्तः श्वसन तथा निश्वास छोड़ने को ओष्ठ पर अनुभव करना और धीरे-धीरे मन को सूक्ष्म रूप में ओष्ठ पर केन्द्रीभूत करके मन को वश में करना) से होता है। केन्द्रीभूत एवं सूक्ष्म मन एक परम सूक्ष्म प्रकाश बिन्दु की भांति होता है जिसे पकड़ कर हम शरीर के बाह्य अंगों पर घुमा कर तथा धीरे-धीरे भीतर प्रविष्ट करके शरीर का शोधन कर सकते हैं। शोधन काल में कष्टप्रद प्रतिक्रिया होना संभव है जिससे भयभीत न होना चाहिये। शारीरिक एवं मानसिक स्वच्छता से शरीर और मन हल्के और शान्तिमय हो जाते हैं। मानसिक स्वच्छता एवं मनोबल के उपचय के लिये सबके प्रति मंगल कामना करना आवश्यक है। हम किसी के शत्रु नहीं हैं, हम सबके मंगल की कामना करते हैं। हम सबको क्षमा करें, सब हमें क्षमा करें और हम अपने आप को भी अपनी पूर्वकृत भूलों के लिये क्षमा करें। कर्त्तव्यपालन के लिये कठोरता को अपनाना हिंसा अथवा अपराध नहीं है जैसे शल्य चिकित्सक कल्याण के लिये शल्य क्रिया करता है। महावीर कहते हैं—खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे। अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। महावीर कहते हैं—उत्तम खम तिल्लोयह सारी। अर्थात् उत्तम क्षमा त्रिलोकी का सार है। क्षमा तप है। धनदान और प्राणदान करना सरल है किन्तु प्रतिशोध छोड़ कर उत्तम क्षमा करना कठिन है। क्षमा मन को निर्मल करती है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि क्षमा भी भगवान् का स्वरूप है (अध्याय १० श्लोक ३४)। राम कहते हैं—'छमासील जे पर उपकारी, ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी।' महावीर कहते

हैं--मैत्ती मे सव्व भूतेसु। वेद कहता है--मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे --अर्थात् मैं सब को मित्रदृष्टि से देखूं। क्षमा द्वारा ही मित्र दृष्टि संभव है। यही सच्ची प्रभु भक्ति है और आत्मबल का एकमात्र रहस्य है।

अध्यात्म जगत् में रसानुभूति करता हुआ व्यक्ति व्यावहारिक जगत् से पलायन नहीं करता है बल्कि अधिक स्वस्थ एवं संतुलित होकर कर्म करना सीख लेता है। उसे अब संसार के प्रलोभन नहीं सताते, इच्छाएं उसे विचलित नहीं करती, भय उसे त्रस्त नहीं करता, दुःख उसे उद्विग्न नहीं करते, सुख उसे मद नहीं देते, सत्ता उसे उन्माद नहीं देती। बिना प्रयत्न किये हुए ही उसका मन धीरे-धीरे सरल एवं शान्त तथा उदात्त होता जाता है। व्यवहार एवं आचरण में साधक शान्त, निर्भीक तथा निश्चिन्त हो जाता है। वह कभी उत्तेजित नहीं होता है।

मानव ने ज्ञान, विज्ञान की सहायता से भव्य सभ्यता का विकास किया है जिसका हमें गर्व है, किन्तु चुनौती के रूप में इसके अनेक अभिशाप भी तो हैं। मानव सभ्य होकर भी आदिम मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक संकीर्ण, कपटी, छलपूर्ण, विश्वासघाती, चालाक, कृतघ्न, पाखंडी, निष्करुण, क्रूर एवं कुटिल हो गया है और स्वार्थ के लिये झूठ को सत्य सिद्ध करने में लगा रहता है। यदि सावधानता न रहेगी तो मानव इसके बोझ में दबकर विलुप्त हो सकता है। व्यक्ति का समस्त जीवन बहिर्मुखी हो गया है तथा वह बहिर्जगत् में ही खोया, भटका फिरता है और क्षण भर उसे चैन नहीं है। मानव बाहर की वस्तुओं के बाह्य-ज्ञान में तथा उनके परिग्रह में अपने को भूल गया है। वह सभ्यता की भव्यता के चक्र में फंसकर अपनी दिव्यता खो बैठा है। ज्ञान-विज्ञान पर आधारित आधुनिक सभ्यता हमें बौद्धिक चमत्कार के रूप में चका-चौंध कर रही है किन्तु हम अभी आत्मजगत् के रहस्यों को नहीं जान सके हैं जो अद्भुत एवं विलक्षण हैं। आत्मा के अनुभव वाणी से परे होते हैं। हम माया-मोह में अचेत पड़े हैं। ध्यान द्वारा हमें इस अवस्था से मुक्ति मिल सकती है और तब हम आत्मा की शक्तियों को स्वयं समझ सकेंगे। शान्ति तो भीतर भरी पड़ी है हमें उसे पहचानना है।

अनन्त इच्छा और सीमित पूर्ति के कारण उसे अभाव खटकता ही रहता है। अतृप्ति, असन्तोष और विफलता की कचोटन व्यापक हो गये हैं। अनित्य वस्तु शाश्वत सुख नहीं दे सकती है। अनित्य वस्तुओं के पीछे दौड़ना एक दुःख मूलक भटकना है। भोगलिप्सा कष्टकारक ही होती है। भोगलिप्सा का संयमन एवं शमन (दमन नहीं) ध्यान के द्वारा संभव होता है। सूक्ष्म अदृश्य जगत् में, आत्मस्तर पर, अपने ही पूर्णत्व की ओर मानव का ध्यान नहीं जाने पाता है क्योंकि वह मोहजाल में फंसा है। यह एक विचित्र विडम्बना है कि वैज्ञानिक

उपलब्धियों एवं चमत्कारों के युग में अशान्ति, तनाव और दुःख व्यापक रोग के रूप में फैल गए हैं। भय, क्रोध, चिन्ता, विकलता आदि के कारण मानव अन्तर्दाह में ऐसे ही जलता-भुनता रहता है जैसे भाड़ में चना भुनता रहता है। अतिभौतिकता तथा बहिर्मुखता आधुनिक सभ्यता के प्रमुख दोष हैं। हमारी मौलिक आवश्यकता है बहिर्जगत् के क्रियाकलाप में व्यस्त रहकर भी अपने को भीतर समेट लेने की क्षमता होना और आध्यात्मिकता के विकास द्वारा अपने भीतर प्रकाश एवं सहज सुख को सुरक्षित रखकर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना। हमें स्थूल का, भौतिक जगत् का, त्याग नहीं करना है बल्कि अपनी आध्यात्मिकता को बढ़ाना है जिससे कि हम पथभ्रष्ट न हों, लक्ष्य को न भूलें। हम साधन को साध्य समझ बैठे हैं। व्यक्तिगत एवं समाजगत शान्ति लक्ष्य है, स्थूल जगत् तो पथ है, साधन है। सृष्टि के सौंदर्य से हमारा विरोध नहीं हो सकता है, विरोध है बाहर भटकते रहने से। हम दुनिया में रहें किन्तु दुनिया हम में न बस जाये। जल में नाव चले किन्तु नाव में जल न आ जाये। यही सावधानता है। यही गीतोक्त निस्त्रैगुण्यता है। आध्यात्मिकता की कीमत देने से, संसार का परम मूल्यवान् पदार्थ प्राप्त होने पर अथवा परमसत्ता प्राप्त होने पर भी हमें अशान्ति एवं क्लेश ही मिलेंगे। भीतर आत्म-ज्योति का प्रकाश अक्षुण्ण रखकर तथा अपनी अनन्तता और सहज शान्ति में निरन्तर स्थित होकर बहिर्जगत् में कर्त्तव्यानुसार आचरण करना ही मानो योगस्थ रहकर कर्म करना है। 'योगस्थः कुरु कर्माणि' अर्थात् योग में स्थित होकर कर्म करो (गीता)। यह सन्तुलन रखना मानव की प्रथम एवं प्रमुख मांग है।

योग का तात्पर्य केवल यौगिक आसनों से नहीं है क्योंकि वे तो केवलमात्र शरीर को सुपुष्ट रख सकते हैं यद्यपि वह भी आवश्यक ही है। योग का अर्थ है मन को, जो हमारे विचारों और भावनाओं की हलचल का कारण है, जीवन के मूल स्रोत आत्मतत्त्व (चेतनतत्त्व) से जोड़ना, हमारा आत्मस्थ होना, आत्मानन्द का सूक्ष्म अनुभव करना। सूर्य की किरण के साथ जुड़ते ही मिट्टी के कण में चमक आ जाती है और संबंध हटते ही वह फिर निर्जीव कण ही रह जाता है। प्रभु के साथ जुड़कर जीव में जीवन, चमक और सुख प्राप्त हो जाते हैं। दिन रात समस्त सृष्टि में स्थिरतापूर्वक ब्रह्म तत्त्व की अनुभूति करते रहना मानो ब्रह्मानन्द है। लोक व्यवहार करते हुए भी, श्वास-प्रश्वास में मनुष्य की व्यष्टिगत चेतना का प्रभु की समष्टिगत चेतना में डूबते रहना और अपने मन तथा इन्द्रियों में भी विराट् चेतना, विश्व चेतना का दर्शन करना मानो जीवन की श्रेष्ठ अवस्था है। यही शास्त्रोक्त नित्य समाधि है।

हम वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं का स्थूल उपाय ढूंढते रहते हैं,

किन्तु सूक्ष्म स्तर पर समस्याओं के मूलभूत कारण एवं उद्गम स्थान, मन की ओर ध्यान नहीं देते हैं। व्यक्ति समाज की पूर्ण इकाई होता है और व्यक्ति के जीवन की धुरी मन होता है। अतः समाज में सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिये व्यक्तिगत मानसिक विकास होने की परम आवश्यकता है। ध्यान का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये नितान्त आवश्यक है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ ऐसी 'दुखदायक' घटना अवश्य घटित होती है जहां मनुष्य अपने को असहाय एवं विवश पाता है। मन की प्रतिकूलता के कारण उस घटना के साथ समायोजन अथवा समझौता करना भी कठिन हो जाता है। विधि का विधान द्रुतगामिनी नदी के प्रवाह की भांति अप्रतिरोध्य होता है। मानव उस प्रवाह को मोड़ नहीं सकता है, अतएव सन्तोषपूर्वक विधि-विधान को सहर्ष स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमत्ता होती है। "हे प्रभो तेरी इच्छा मुझे स्वीकार्य है, तेरी रज़ा में मेरी रज़ा है", भक्त कह देता है। प्रभु का प्रसाद मानकर शिरोधार्य करने से संकट भी एक सुखप्रद तपस्या बन जाता है। घटनाचक्र को तो हम नहीं बदल सकते हैं किन्तु वज्राघात होने पर भी अनाहत रहने के लिये हम अपने को घटनाचक्र से ऊपर उठा सकते हैं। व्यक्ति बन्धन और कष्टों का उपयोग अपने विकास के लिये कर सकता है। ध्यान के द्वारा मनुष्य स्थूल जगत् के कटु प्रभावों से ऊपर उठना सीख लेता है तथा भौतिक कष्टों का आघात उसके हृदय में संताप को उत्पन्न नहीं कर सकता है। ध्यान वह संजीवनी बूटी है, जो आहत एवं क्षत-विक्षत मन की क्षति को चिर स्वस्थता प्रदान कर देती है। अस्त-व्यस्त, ध्वस्त एवं भग्न मन को शान्त, सुखी एवं स्वस्थ करने के लिये ध्यान श्रेष्ठ महौषधि है।

सूक्ष्म जगत् की अपेक्षा स्थूल जगत् को अधिक महत्व देने से मोह उत्पन्न होता है जो हमारे शान्ति और संतुलन को भंग कर देता है। मोह के कारण धन, पद, सत्ता, यश आदि की इच्छाएं हमें सताने लगती हैं और अभीप्सित वस्तुओं का अभाव दुःख बनकर खटकने लगता है। मोहग्रस्त होकर मनुष्य सन्तों तथा ईश्वर से भी भौतिक पदार्थों की याचना करता है मानो ईश्वर एक साधन है तथा भौतिक पदार्थों की उपलब्धि साध्य है। ईश्वर की प्रार्थना, आराधना एवं सन्त समागम का उद्देश्य भौतिक समस्या का समाधान होना अथवा धन, सत्ता आदि का प्राप्त होना नहीं होता है बल्कि प्रभु से नाता जोड़ना होता है, आध्यात्मिक उन्नयन होता है। ईश्वर कोई घूसखोर तानाशाह नहीं है जो खुशामद से प्रसन्न हो जाता है। प्रार्थना करना सौदा करना नहीं होता है। हम प्रभुकृपा की याचना करते हैं और प्रार्थना द्वारा प्रभु से नाता जोड़ते हैं जिससे हमें आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त होता है तथा संकट भी सहज ही पार हो जाते हैं।

इच्छा (काम) से मोह और मोह से इच्छा उद्दीप्त होते हैं। इच्छा से ही आशा और निराशा, चिन्ता और भय भी उत्पन्न होते हैं। प्रसिद्ध उक्ति है, "चाह गई, चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह।" इच्छा के वशीभूत होकर मनुष्य श्वानवत् गिड़गिड़ा कर चाटुकारी करता है तथा कुटिलता को अपना लेता है। साधक का कर्तव्य है कि वह मन को स्वस्थ एवं संतुलित रखने के लिये व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर उठ जाये। व्यक्तिगत इच्छा, असन्तोष, महत्त्वाकांक्षा, पदलोलुपता अथवा भौतिक धन के परिग्रह की भावना से कर्म की प्रेरणा प्राप्त करना निम्नस्तर की बात है। यह मानना एक भूल है कि इच्छा, असन्तोष, लोभ आदि के कारण मानव ने उन्नति की है तथा समृद्धि प्राप्त की है। वास्तव में, इच्छा असन्तोष, लोभ आदि के कारण समाज में शोषण, कुटिलता, अत्याचार, भोग-वृत्ति एवं अशान्ति को प्रोत्साहन मिला है तथा इनसे जितनी उन्नति हुई है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अशान्ति हुई है। लोभ के कारण एक मिल खोलने पर शोषण की चक्की चलायी जाती है किन्तु प्रेम (समाज प्रेम) से प्रेरित हो कर मिल चलाने पर सेवा होती है। हमें इच्छाओं का दमन नहीं करना है बल्कि उनका उदात्तीकरण करना है, शमन करना है, उन्हें स्वस्थ दिशा देनी है। सत्पुरुष कर्तव्य भावना से प्रेरित होते हैं, आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, तथा निस्वार्थ एवं इच्छामुक्त होकर भी धीरे-धीरे साहसपूर्वक कर्म करते हुए उन्नति को स्वतः प्राप्त होते रहते हैं। आदर्शों की कीमत पर, आदर्शों को छोड़कर, उन्नत पद प्राप्त करना सत्पुरुषों को शोभा नहीं देता है। सत्पुरुष उज्ज्वल भविष्य के लिये योजना बनाकर प्रयत्न करते हुए भी महोच्च आदर्शों को आँखों से ओझल नहीं करते हैं। यदि साधक पदोन्नति, धन अथवा सत्ता प्राप्त करता है तो व्यक्तिगत इच्छा की तृप्ति के लिये नहीं बल्कि परोपकार के लिये, मानव मात्र की सेवा के लिये, ईश्वर की प्रसन्नता के लिये ही।

हमें मन को शत्रु नहीं समझना चाहिये। मन तो हमारा मित्र, सहायक एवं सहयोगी है किन्तु हमने उसको मित्र बनाना नहीं सीखा है। अपनी इच्छाओं से टकराना अथवा उन्हें कुचलने का प्रयत्न करना घातक होता है। अपनी कुण्ठाओं से घबराना भी भूल है। अपने को पापी समझकर आत्मनिन्दा करना, अपने को हीन समझना भी हानिकर ही है। हम तथा हमारी परिस्थिति जैसे भी हैं, हैं। वस्तुस्थिति को समझकर, मन को मित्र बनाकर, धीरे-धीरे ध्यान-साधना की सहायता से सूक्ष्म स्तर तक उठने का प्रयत्न करने से, हम निर्विकार, निर्लेप, निर्मोह, स्वस्थ एवं संतुलित होते जायेंगे। "अप्पदीपो भव", अपना दीपक स्वयं बनो, बुद्ध का यह सन्देश अमर है। गीता कहती है—उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। अर्थात्, मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु अथवा मित्र है तथा वह स्वयं ही

अपना उद्धार करे, न कि अपने को नीचे गिराये। योगवासिष्ट में भी कहा है ---आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। आत्मात्मना न चेत् त्रातः तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ (६।१६२।१८) अर्थात् यदि आप स्वयं अपनी रक्षा न करेंगे तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मनुष्य की कुछ इच्छाएं तथा आदतें एसी प्रबल होती हैं कि वह छोड़ने का प्रण करने पर भी उन्हें नहीं छोड़ पाता है। यदि तोबा करने के बाद भी आदत न छूटे तो तोबा से भी बड़ा उसका आकर्षण अवश्य है। किन्तु मनुष्य को हताश न होना चाहिये। वास्तव में अध्यात्म मन की निर्विकारता एवं स्वच्छता पर बल देता है। वस्तुओं से हमें वैर नहीं है, वस्तुएं तो कदापि घृणित नहीं हैं। किन्तु वासनाविकार त्याज्य है क्योंकि वह शान्ति एवं सन्तुलन को नष्ट करता है। कभी-कभी इच्छा से मुक्त होने के लिये, अनुभव की आंखें खोलकर, इच्छा को पूर्ण करना भी साधना में कहीं सहायक हो सकता है, भले ही वह तथाकथित पाप ही हो। हमें धीरे-धीरे इच्छा (काम) का शमन करना चाहिये, न कि दमन। ध्यानजनित आन्तरिक प्रकाश एवं प्रफुल्लता के सहारे मूल प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं का उदात्तीकरण तथा कुण्ठाओं से उन्मुक्त होना नितान्त संभव है। बुरी आदतों से टकराना नकारात्मक है, गलत है। ईश्वर-भक्ति की ओर, ध्यान के अभ्यास की ओर लगने से वे स्वयं फीकी बनकर छूट जायेंगी।

शान्ति की प्राप्ति के लिये इच्छाओं के नियंत्रण का विषेष महत्व है। इच्छाओं और भावों को समझने पर ही उनका समाधान करना संभव है। इच्छाओं का विवेकपूर्ण शमन ही उनका नियंत्रण अथवा विजय है। इच्छा का बरबस दमन करना (केवल बहिर्मुखी नियंत्रण) सर्वथा अनुचित है। इच्छा का विवेकपूर्ण शमन (अन्तर्मुखी निवृत्ति) होना मानसिक शान्ति में सहायक होता है। इच्छा पूर्ति का उद्देश्य भी इच्छा शमन ही होना चाहिये। उद्दाम इच्छाओं का शमन विवेक द्वारा करना विवेकशील व्यक्ति के लिये सहज होता है। चित्त वृत्ति के राग-द्वेष से मुक्त होकर वितृष्ण होने तथा इच्छाओं का शमन होने पर शान्ति का भण्डार हाथ लग जाता है।

कामकामी को शान्ति प्राप्त नहीं होती है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं :--

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ २।७०

अर्थात् जैसे सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले, समुद्र के प्रति नाना

नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए भी उसमें समा जाते हैं, वैसे ही स्थिरबुद्धि पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग उसमें बिना किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये हुए ही समा जाते हैं। ऐसा धीर पुरुष ही परम शान्ति को प्राप्त करता है, भोगों के पीछे दौड़ने वाला नहीं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (गीता) अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर मोहरहित और अहंकाररहित तथा स्पृहारहित रहता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है।

संत तुलसी दास कहते हैं--

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल विहीन तरु कबहुं कि जामा ॥

संतोषवृत्ति अपनाने से तथा प्रभु भजन करने से काम नष्ट होता है। मोह (अज्ञान) अपने भीतर अंधकार होता है। बाहर के अंधकार में आगे बढ़ना सम्भव हो सकता है किन्तु भीतर का अंधकार तो भयंकर होता है। मोहान्ध तो घृणा, क्रोध, भय, चिन्ता, शोक में ही डूबा रहता है। शोकं तरति आत्मवित्। मोह से उबरने के लिये ध्यान के द्वारा चैतन्य तत्त्व का संस्पर्श करना श्रेष्ठ उपाय है। शरीर के स्थूल स्तर पर मृत्यु, अपमान, हानि, शोक आदि हैं किन्तु आत्म स्तर पर न मृत्यु है, न शोक। वहां तो आनन्द ही आनन्द है। यह पलायन नहीं है, स्थूल जगत् से ऊपर उठकर मस्ती से जीने की कला है।

कामनाओं के आधार पर स्थापित "अहं" मोह, चिन्ता, कलह और क्लेश का कारण होता है। अधिकांश व्यक्तिगत झगड़ों का अथवा राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के झगड़ों का कारण प्रायः मिथ्या "अहं" की टकराहट होता है, लोग उस टकराहट को भले ही नैतिक अथवा सैद्धान्तिक रूप देते रहते हैं। अध्यात्म के आधार पर प्रस्थापित "अहं" (अहं ब्रह्म) प्रेम और आनन्द का प्रदायक होता है।

अथर्ववेद कहता है, 'अष्टचक्रानवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः।' अर्थात्, आठ चक्रों वाला, नवद्वार वाला यह देह ही अयोध्यापुरी है। उसमें प्रकाश से आवृत, मोक्ष तक पहुंचने वाला हिरण्य कोश है। यह अयोध्या अजेय नगरी है जिसमें आत्म-ज्योति का प्रकाश चमक

रहा है। देह तो देव-मन्दिर है जिसमें जीवरूपी शिव विराजमान है। 'सोऽहम्' भाव से पूजा करने पर मुक्ति मिलती है।

देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो देवस्सदाशिवः।
सोऽहंभावेन हि पूजयेत् स हि मुक्तिमवाप्नुयात्॥

हम इस देह मन्दिर को मोहान्धकार से भरकर दुःख उठा रहे हैं। पातंजल योग में वर्णित षड्चक्रों का भेदन ध्यान के अभ्यास से स्वयं हो जाता है। मोह में फंसा व्यक्ति स्वयमेव समस्याओं को उत्पन्न करता है और फिर उनके हल को ढूंढने में अपना समस्त जीवन-काल और प्रभुप्रदत्त समस्त शक्तियों का क्षय करता रहता है। वह दिन-रात मकड़ी की भांति स्वयं जाला बनाकर उसी में फंसता रहता है और अपनी समस्याओं की बलिवेदी पर ही आत्मोत्सर्ग कर देता है। हम ध्यान के द्वारा मोह, चिन्ता, शोक एवं भय से मुक्त होकर अन्तःकरण को शुद्ध बना सकते हैं। शुद्ध अन्तःकरण ही हमारा श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक, सहायक एवं मित्र है।

कभी-कभी हम आसुरी कल्पनाएं करके मन को पाप से भर देते हैं तथा रौद्र ध्यान करते हैं कि किस प्रकार शत्रुओं को समूल नष्ट कर दें और अनेक मानसिक षड्यन्त्र रचते हैं। हम बक-ध्यान करते हुए आंखें मूंद कर भी पर-हानि के उपायों का चिन्तन करते हैं और अपने मन को तनाव, क्रोध और भय का ज्वालामुखी बना देते हैं। हृदय की धरती को असीम एवं व्यापक प्रेम से सींचने पर ही उसमें से अमृत समुद्भूत होता है।

मन का स्वभाव बहिर्गमन करना अथवा इधर-उधर भटकना होता है। किंतु ध्यान का अभ्यास करने पर मन तृप्त होकर, स्वस्थ होकर, बाहर जायेगा। ध्यान मन की कुण्ठाओं को धोकर, उद्दाम कामनाओं को शान्त कर देता है, मन को तृप्त, वितृष्ण, स्वस्थ एवं सुखी बना देता है। मन (माइन्ड) स्पन्दनशील चेतना (वाइब्रेटिंग कान्शेसनस) को अथवा चेतना के धरातल पर उठने वाली लहरों के संघात को कहते हैं। भीतर गहरे स्तर पर नितान्त शान्त एवं गहन चेतना (एबसोलूट कान्शेसनस) है जिसे आत्मा भी कहते हैं। ध्यानावस्था में मानो लहरों के उठने का उपक्रम रुक जाता है और लहरें अपने स्रोत को छूने लगती हैं। विश्व में व्याप्त समष्टिगत परम चेतना ही परमात्मा है जो व्यष्टिगत आत्मतत्त्व से अभिन्न है।

कुछ ब्रह्मज्ञानी ध्यान अथवा ध्यान-समाधि को कोई विशेष महत्व नहीं देते हैं क्योंकि उनके मत में ध्यान के पूर्व और पश्चात् सामान्य अवस्था रहती है तथा केवल समाधिकाल में ही शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है जो माला के दो मनकों के मध्य में तागे के समान होती है। ऐसे ब्रह्मवादीजन विचार के

फलस्वरूप निरन्तर चैतन्य की मस्ती (सोऽहं का आनन्द) में रहने को शुद्धावस्था मानते हैं जो तागे के मनकों और मध्य में भी तागे के ही अनुस्यूत होने के सदृश है। (कुछ सन्त तागे के ही बने हुए मनके और बीच में भी तागा ही रखते हैं जो निरन्तर ब्रह्मभाव का प्रतीक होता है।) ब्रह्मज्ञानी आरोहण को निरर्थक मानते हैं तथा विशुद्ध ज्ञान में संस्थित रहने को ही लक्ष्य समझते हैं। ब्रह्मज्ञानी भक्ति को भी अनावश्यक मानते हैं। तथापि भक्तिभाव और ध्यान का अभ्यास अध्यात्म की श्रेष्ठ भूमिका है। चरमावस्था में भक्ति, ज्ञान और ध्यान एक ही अद्भुत मस्ती में लय हो जाते हैं तथा तीनों मार्गों में आगे बढ़ने पर इनमें अभेद हो जाता है।

आज शिक्षा का प्रारम्भ वर्णमाला से होता है किन्तु शिक्षा का समारम्भ ध्यान से होना चाहिये। शिक्षा में ध्यान पद्धति का समावेश होना चाहिये जिससे विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति का पूर्ण सदुपयोग किया जा सके। छात्रों में विचार के स्रोत को ध्यान द्वारा जगाकर शिक्षा को साधार एवं सोद्देश्य बना देना चाहिये। आज शिक्षित व्यक्ति भी परस्पर मेल और शान्ति से नहीं रह पाते तथा शिक्षा का इतना प्रसार होने पर भी मानव समाज में शांति की स्थापना नहीं हो सकी। शिक्षा ध्यान के बिना अधूरी तथा अशान्तिदायिनी है।

प्रख्यात मनोचिकित्सक (साइकिएट्रिस्ट) डा० पीटर फेन्विक ने अपने एक लेख में ब्रिटेन, अमेरिका और जर्मनी इत्यादि देशों के अनेक मनोवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों की खोजों की चर्चा करते हुए यह पुष्ट किया है कि ध्यान से स्वायत्त स्नायु तंत्र (आटोमैटिक नर्वस सिस्टम) का उत्तेजना स्तर गिरता है और उसमें स्थिरता आ जाती है। स्नायुतंत्र की क्रिया पर ध्यान के विशेष प्रभाव के कारण साधक की मनोवृत्ति में स्वस्थ परिवर्तन आ जाता है। अनुसंधानों के द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक सरलता से तम्बाकू, अफीम इत्यादि मादक द्रव्यों की लत से छूट जाते हैं जो औषधोपचार के द्वारा संभव नहीं है। ध्यानाभ्यास द्वारा उनका ईर्ष्याद्वेषभाव समाप्त हो जाता है, उन्हें मानसिक तनाव से मुक्ति मिल जाती है, उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति बढ़ जाती है और उनमें सहज प्रसन्नता का उदय हो जाता है। अमेरिका के डा० आर० के० वैलेस अपनी खोजों के आधार पर कहते हैं कि ध्यान के अभ्यास से मनुष्य को मानसिक तनाव से मुक्ति मिल जाती है तथा ध्यान के समय मस्तिष्क में अद्भुत तरंगों के उत्पन्न होने के साथ-साथ सजगता एवं तनाव-शैथिल्य की अवस्था आ जाती है जो जागने तथा सोने से भिन्न होती है। ध्यान में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के अतिरिक्त एक विलक्षण चौथी अवस्था---ध्यानावस्था---उत्पन्न हो जाती है। भावातीत ध्यान (तथा समाधि) की चेतनावस्था में शरीर तथा मन को विशेष विश्राम मिलता

है । इसमें नींद की अपेक्षा आक्सीजन का खर्च (मेटाबोलिज्म) कम हो जाता है तथा हृदय-गति तथा श्वास-प्रश्वास की क्रिया कम हो जाती है। ध्यानावस्था में त्वचा की प्रतिरोध शक्ति बढ़ जाती है तथा लेक्टेट उत्पादन जो वात-निरपेक्षी (एनेरोविक) चयापचय का सूचक है, कम हो जाता है और भुजा के अग्र भाग में रक्त का संचारण तीव्र हो जाता है जो शरीर के लिये हितकर है। विचित्रता यह है कि ध्यानावस्था में मन पूर्णतः चेतन अथवा जाग्रत होता है यद्यपि शरीर गहन विश्राम और निश्चलता का अनुभव करता है। डा० वेस्टकोट (इंग्लैंड) ने अनुसंधानों के द्वारा इस की पुष्टि की है। मनुष्य के भीतर स्थित परम संवेदन शील यंत्र के स्वास्थ्य की रक्षा एवं पोषण ध्यान प्रक्रिया द्वारा हो सकते ।

वैज्ञानिकों ने मस्तिष्क की तरंगों को ई० ई० जी० (इलैक्ट्रो एंसिफेलोग्राफ) द्वारा विद्युत् और रासायनिक क्रिया में माप कर अर्थात् मस्तिष्क की विद्युत् सक्रियता माप कर ए० बी० सी० डी० (अल्फा, बीटा, थीटा, डेल्टा) आदि नाम दिये हैं। ई० ई० जी० में ध्यानावस्था से संबधित मस्तिष्क तरंगों का एक पैटर्न मिला है। ई० ई० जी० कार्टेक्स (cortex) अथवा मस्तिष्क की बाह्य कोशिका पर्त की विद्युत् सक्रियता का ग्राफ (अभिलेखन) है। विभिन्न दशाओं की सूचना विभिन्न पैटर्न (एक से नमूने) देते हैं। नेत्र मूंदने पर विश्राम की अवस्था को (जब मन चेतन रहता है) अल्फा तरंग (८ से १३ प्रति सेंकिड), मन की सक्रिय अवस्था को (१४ से ३० प्रति सेंकिड) बीटा तरंग, तन्द्रा अथवा हल्की नींद को थीटा तरंग और सुषुप्ति अथवा गहरी नींद की अवस्था (२ से ३ प्रति सेंकिड) डेल्टा तरंग सूचित करती हैं। ध्यान की अवस्था में मस्तिष्क में अल्फा तरंगें बहुगुणित हो जाती हैं। अल्फा तरंगों के अधिक मात्रा में होने पर मनुष्य गंभीर एवं सुस्थिर होकर उत्तरदायित्व की भावना से भर जाता है तथा उनके अभाव में उच्छृंखल हो जाता है। ध्यानाभ्यासी के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों में घटत-बढ़त कम होती है और उनमें सुस्थिरता अथवा स्थायित्व आ जाता है। सामान्य अवस्था में अल्फा तरंगों के उठने का स्थान मस्तिष्क का पृष्ठ भाग है किन्तु ध्यानावस्था में सम्पूर्ण मस्तिष्क तरंगित हो जाता है तथा मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों (लोब्स) में साम्यावस्था एवं संतुलन की स्थापना हो जाती है। ध्यानाभ्यास से बुद्धि और मेधा के संस्थान दांये गोलार्द्ध में सक्रियता बढ़ जाती है और फलस्वरूप ध्यानाभ्यासी के विचार एवं व्यवहार में गंभीरता, परिपक्वता और संतुलन आ जाते हैं और मनुष्य विषम परिस्थितियों में शान्त रहकर उनके साथ दृढ़तापूर्वक संघर्ष कर सकता है। अनिद्रा और ऐलर्जी का उपाय भी ध्यानाभ्यास है। ध्यान का प्रभाव मस्तिष्क की अल्फा, बीटा और गामा तरंगों की गति पर पड़ता है।

ध्यान के अभ्यास से स्मृति की भूलों (मैमोरी लेप्सेज) पर भी सरलतापूर्वक विजय पा सकते हैं। ध्यान के अभ्यासी साधक के मन में स्वस्थ तथा जीवन-पोषक विचार आने लगते हैं।

प्रख्यात अंग्रेज, अमेरिकी तथा जर्मन मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर आये हैं कि आधुनिक तनावपूर्ण वातावरण में मनुष्य भारतीय ध्यान पद्धति को अपनाकर अधिक उद्देश्यपूर्ण, सशक्त और सक्षम एवं शान्त जीवन व्यतीत कर सकता है तथा उसकी क्रियाशक्ति एवं स्फूर्ति में केन्द्रीय स्नायविक परिवर्त्तन के कारण विशेष सुधार हो जाता है। मनोचिकित्सकों का मत है कि ध्यानक्रिया मस्तिष्क को अपरिमेय शक्ति एवं शान्ति प्रदान करती है। हारवर्ड विश्वविद्यालय के डा० श्वार्ट्ज का कथन है कि ध्यानावस्था में बोधता की असाधारण एवं अधिक अनुभूति होती है और इसका मानसिक स्वास्थ्य पर लाभकारी प्रभाव होता है। ध्यान का अभ्यास मानसिक विकास एवं व्यक्तित्व विकास में विशेष लाभकारी सिद्ध होता है। ध्यानाभ्यासी में आत्मविश्वास बढ़ जाता है और वह अपने भीतर अपने आप से नहीं उलझता है। वह उत्तेजना, उग्रता, अपराधवृत्ति और हिंसाभाव पर विजय पा लेता है। बर्नार्ड गुलेक (इंस्टीट्यूट आफ लिविंग हार्टफोर्ड के रिसर्च डायरेक्टर) का स्पष्ट अभिमत है कि भावातीत ध्यान का प्रभावी उपयोग मनोवैज्ञानिक चिकित्सा में हो सकता है। भावातीत ध्यान दबी हुई मानसिक कुण्ठाओं को उभारकर शान्त कर देता है। ध्यान का अभ्यास करने वाला मनुष्य क्रिया एवं प्रतिक्रिया के जीवन से छूटकर स्वतंत्र कर्म करने में समर्थ हो जाता है। आस्ट्रेलियन मनो चिकित्सक डा० ऐन्सली मेर्स ने ध्यान द्वारा कैंसर के रोगियों को भी रोगमुक्त किया है।

ध्यान का अभ्यास हमारी भीतरी चेतना को जगाकर जीवन में रस का संचार कर देता है। ध्यान हमारे चेतन अवधान को विचार के मूलभूत स्रोत, आन्तरिक शक्ति एवं चेतना, के सम्पर्क में लाकर मन को सशक्त एवं सुखमय बना देता है। प्रत्येक विचार की एक दिशा होती है और वह आन्तरिक शक्ति के कारण प्रवाहित होकर अन्तर्प्रकाशित (एनलाइटेन्ड) बुद्धि के द्वारा आगे बढ़ता है। ध्यान के द्वारा विचार-शुद्धि होने पर मन शक्ति और सुख से भरपूर हो जाता है तथा व्यक्ति अपने एवं समाज के लिये अधिक उपयोगी हो जाता है, उसमें रचनात्मकता का उदय हो जाता है। मनुष्य भीतरी चेतना को उभार कर, काम क्रोधादि विकारों पर पूर्ण विजय पा सकता है, उच्छृंखलता एवं कुण्ठाओं को दूर कर सकता है। दुःखदग्ध मन के लिये ध्यान शीतल चन्दन लेप की भांति होता है। मन के भीतर ध्यानदीप जले तो जीवन में सुख हो जाये। किसी के दीप न बुझें, सब के दीप जल उठें और घर-घर दीवाली हो जाये, जन-जन दीपगृह हो जायें। व्यक्ति के अनुकूलन होने पर विश्व का अनुकूलन

होना नितांत संभव है। भीतर शान्ति, आनन्द और शक्ति को देने वाला चेतना का एक सागर छिपा पड़ा है जिसके सम्पर्क में आकर तथा जिसे उभार कर हमारा मन आनन्द से तरंगित हो उठता है। ध्यान के द्वारा व्यक्ति और समाज के जीवन में शान्ति की प्रस्थापना हो सकती है। यद्यपि ध्यान पूर्ण योग नहीं है तथापि ध्यान मानसिक शान्ति का अमोघ उपाय है।

ध्यान के अभ्यास द्वारा हमें स्वयं ही जीवन और सुख के रहस्य का ज्ञान हो जाता है तथा जीवन सुख बन जाता है।

३

मानव में आध्यात्मिक संप्रेरणा

मानव सृष्टि का शृंगार है, विश्ववाटिका का उत्कृष्ट प्रसून है। किन्तु ऐसा कहना असंगत होगा कि वह प्राणिजगत् में सब प्रकार से श्रेष्ठ है। प्रख्यात विचारक जोड ने पशु-पक्षिगण के साथ तुलना करते हुए मानव की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है किन्तु उसने मानव की प्रमुख विशेषता--'अध्यात्म'--की पूर्णतया उपेक्षा कर दी है।

यदि मनुष्य स्वयं को पशु-जगत् की अपेक्षा सभी प्रकार से उत्तम मानने का दर्प करता है तो वह निराधार है। हाथी और ह्वेल मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक वृहद्काय होते हैं, हरिण अधिक तीव्रगामी होता है, सिंह अधिक बल-शाली, स्फूर्तिमय एवं भीषण होता है, गौ अधिक सौम्य, सरल तथा परोपकारी होती है, बुलबुल और सारिका अधिक मधुरकण्ठ होते हैं, सर्प तथा कच्छप अधिक दीर्घायु होते हैं, मधुमक्खी अधिक सहयोगात्मक होती है, ऊदबिलाव अधिक परिश्रमी होता है, चींटी अधिक लग्नशील होती है, कुत्ता घ्राणशक्ति तथा वफादारी में मनुष्य को पीछे छोड़ देता है तथा गिद्ध अधिक तीक्ष्णदृष्टि होता है। ऊंट सारे जीवन नीम की कड़ुवी पत्ती खाकर ही, बोझ ढोकर सेवा करता है और कभी यह नहीं पूछता है कि किसका बोझ कहां, क्यों और कब ले जाना है। उसे तन ढकने के लिये वस्त्र भी न चाहिये। सर्प, वृश्चिक, ततैये वातावरण से विष को चूसकर अपने अन्दर धारण कर लेते हैं। साधारण घासफूस खाकर जीवन निर्वाह करने वाला, सर्वत्र तिरस्कृत गधा भी मानव की अपेक्षा अधिक परिश्रमपूर्ण सेवा करता है। पक्षी आकाश में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं और प्रायः निरोग रहते हैं। इसके अतिरिक्त, मानव-देह पशुओं की अपेक्षा जटिल होने के कारण अधिक शीघ्र रोगग्रस्त हो जाता है। शीतकाल में मानव पशुओं

के चर्म तथा ऊन से अपनी रक्षा करता है। ऋतुओं की भीषणता को सहन करने में पशु मानव की अपेक्षा अधिक समर्थ होता है। अतः ऐसा कहना कि मनुष्य जीवधारियों में सभी प्रकार से सर्वश्रेष्ठ है, अन्य प्राणियों के प्रति एक अन्याय होगा। किन्तु, फिर भी, यह एक निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य उनमें सर्वोत्कृष्ट है।

इस प्रकार सृष्टि की इस रहस्यमयी रचना में अनेक ऐसे जीव हैं जिन्हें किसी न किसी विशिष्टता के आधार पर मनुष्य की तुलना में आंशिक उत्कृष्टता प्राप्त है। कोई डील-डौल में, कोई बल पौरुष में, कोई शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि की ग्राहिका शक्ति के क्षेत्र में अथवा किसी इंद्रियविशेष की आश्चर्यमयी सूक्ष्म-शक्ति में, कोई ऐसी नैसर्गिक विशेषताओं में जिन्हें आत्मनिर्भरता, परिश्रमशीलता, कष्ट-सहिष्णुता, शीत-आतप द्वन्द्वों को सहन करने की सामर्थ्यशीलता, प्रतिरोधात्मक क्षमता, दीर्घायुता, सन्तोष, सरलता, स्वामिभक्ति, सहयोगात्मकता आदि के रूप में गुणों की श्रेणी में परिगणित किया जाता है, पशु-पक्षी, तुलनात्मक दृष्टि से, मनुष्य की अपेक्षा विशिष्ट हैं। तथापि यह सर्वमान्य सत्य है कि मानव अपनी वास्तविक महिमा से प्रतिष्ठित होने पर असंदिग्ध रूप से सृष्टि का शृंगार एवं उसकी सार्थकता को सिद्ध करने वाला प्राणी है। उसमें कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो उसे स्पष्टतः अन्य प्राणियों की अपेक्षा उत्कृष्टता एवं महत्ता प्रदान करती हैं।

मनुष्य की प्रथम एवं प्रमुख विशेषता उसकी बुद्धिसम्पन्नता है। वह तर्कणापरक होता है और अपने समस्त क्रियाकलाप को तर्कबुद्धि एवं विवेक पर आधारित कर सकता है। मनुष्य में नैसर्गिक जिज्ञासा प्रवृत्ति होती है जिससे प्रेरित होकर उसने बुद्धि के द्वारा प्रकृति के रहस्यों को खोजकर उनकी बुद्धिसंगत व्याख्या प्रस्तुत की और ज्ञान-विज्ञान की रचना कर दी। इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि समस्त ज्ञान के निधान का कारण जिज्ञासा-संप्रेरित बौद्धिकता ही है। समस्त ज्ञान, नूतन अथवा पुरातन, एक अविच्छिन्न प्रवाह है जो मानव बुद्धि को प्रतिष्ठित करता है। प्राप्त ज्ञान के बौद्धिक अनुप्रयोग के द्वारा मानव ने अनेक सुख साधनों (रेडियो, टेलीविजन आदि) का आविष्कार कर दिया। अरस्तु ने मनुष्य को बुद्धि-सम्पन्न अथवा तर्कशील जन्तु कहा था। मनुष्य तर्कशील, विचारणाप्रधान एवं विवेकशील होता है और इस विशेषता के द्वारा उसने सभ्यता एवं संस्कृति को जन्म दिया है। ज्ञान-विज्ञान तथा संस्कृति-सभ्यता बुद्धि के ही चमत्कार हैं। बुद्धि सम्पन्नता की सहायक वाक्-शक्ति भी होती है। पशु की जीभ बड़ी होती है किन्तु वाणी मनुष्य की ही विशेषता

है। (खेद है कि मनुष्य अपनी बुद्धि सम्पन्नता तथा कटु एवं मिथ्या वाणी से विध्वंस में जुट रहा है)।

मानव की द्वितीय विशेषता उसकी नैतिक भावना है। हम व्याघ्र को यह नहीं समझा सकते हैं कि वह सौम्य एवं दुग्धप्रदायिनी गौ की हत्या न करे क्योंकि उसमें भले और बुरे का विवेक नहीं होता है। मनुष्य में नैतिक भावना नैसर्गिक होती है। ग्राम्य, अशिक्षित व्यक्ति में भी भले और बुरे की भावना जन्मजात होती है। असभ्य प्रदेश की बर्बरजाति के अशिष्ट मनुष्य में भी नैतिक भावना अवश्य होती है, भले ही वह अपरिष्कृत रूप में हो। इस विशेषता के आधार पर मानव ने नीतिशास्त्र की विरचना कर दी। पशु इस दिशा में असहाय है किन्तु मनुष्य अच्छा या बुरा कर्म करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। यदि वह स्वार्थवश अथवा संकीर्णतावश अन्याय एवं शोषण करता है तो उसका अन्तःकरण ही उसे कोसता है, भले ही धीरे-धीरे उसके अन्तःकरण को कालिमा का आवरण ढकता जाये और वह धूसरित दर्पण की भांति मलिन एवं निस्तेज हो जाये। परम विद्वान् तथा नितान्त निरक्षर व्यक्ति दोनों ही समान रूप से जानते हैं कि ईमानदारी, सचाई, सेवा, त्याग, परोपकार तथा ज्ञानप्राप्ति अच्छे हैं और बेईमानी, झूठ, अत्याचार बुरे हैं।

मानव की तृतीय विशेषता है सौंदर्य भावना। मनुष्य स्वभाव से सौन्दर्यप्रिय है। पशु सौन्दर्य के प्रति उदासीन होता है। प्राकृतिक सौंदर्य एवं रूप का लावण्य मनुष्य के मन को मुग्ध कर देता है। उदीयमान रवि, रात्रि के समय आकाश में छिटके हुए नक्षत्र, रजतमय चन्द्रमा, शुभ्र ज्योत्स्ना, शीतल, मन्द तथा सुरभित वायु, महकते हुए पुष्प, कलकलनिनादिनी सरिता, रंग-बिरंगा इन्द्र धनुष, कलरव करते हुए पक्षी, सुमधुर दिव्यस्मितयुक्त शिशु, स्वच्छ स्थान---ये सभी उसे चारु प्रतीत होते हैं। सौन्दर्यप्रेमी मानव की सौन्दर्य उपासना के फलस्वरूप ललित कलाओं का आविर्भाव हुआ। केवल चित्रों में ही नहीं, अपितु नृत्य, वादन, गायन में भी उसे सौन्दर्य का संदर्शन हुआ है। सौंदर्य को देखकर उसके मन में सहज ही आह्लादमय प्रतिक्रिया होती है। मनुष्य शुभकर्म एवं सद्गुणों में, सत्य और शिव में भी, सौन्दर्य का संदर्शन करता है। कदाचित् सौन्दर्य-भावना तथा भले-बुरे की नैतिक भावना परस्पर आबद्ध हैं तथा अन्योन्य आश्रित हैं। भलाई में सुन्दरता तथा बुराई में असुन्दरता प्रच्छन्न हैं।

सर्वोत्कृष्टता का मिथ्याभिमानी मनुष्य सृष्टि के अन्य समस्त जीवों की अपेक्षा अपने को अधिक महत्वपूर्ण तथा उन्हें अपने अधीन समझ कर न केवल अपनी स्वार्थपूर्ण सेवा में उनका उपयोग करता है बल्कि उन्हें सताता भी है। मनोरंजन के लिये मनुष्य वन में स्वच्छन्द विचरण करने वाले शक्तिमान् एवं

सुन्दर गज, सिंह आदि वन्य पशुओं को कठघरों में, पक्षियों को पिंजरों में बन्द करके रखता है, उन्हें अनेक यंत्रणा भी देता है। मनुष्य उन क्षेत्रों में भी जहां अन्न, फल, दुग्ध आदि सुलभ हैं, शौक के लिये जीव-वध करता है, उनका भक्षण करता है तथा पशु जगत् में व्यवहृत मत्स्य न्याय का अनुसरण करता है। कभी-कभी मनुष्य अनुसंधान के नाम पर प्रयोगशालाओं में पशुओं के साथ नृशंस व्यवहार करता है तथा साधारण सुख-सुविधा के लिए निर्ममतापूर्वक उनकी हत्या कर देता है। मनुष्य अकारण ही सुन्दर पुष्पों को तोड़कर, तथा पशु-पक्षियों को अनावश्यक रूप से सताकर अनैतिक आचरण करता है। यह अनैतिकता मनुष्य में सौन्दर्य भावना के अविकसित होने के कारण उत्पन्न होती है। सौन्दर्य भावना के विकसित होने पर ही मनुष्य प्राकृतिक रहस्यों एवं सौन्दर्य के प्रति जागरूक होगा, पशु जीवन (वाइल्ड लाइफ) के प्रति सकरुण होगा, अन्य जीवों से प्रेम कर सकेगा तथा उनसे उचित सहायता लेकर उनका सुपोषण करेगा। सौन्दर्यभावना से मन का परिष्कार होता है, उसके अभाव में मनुष्य निर्मम, क्रूर एवं अनैतिक हो जाता है। सौन्दर्य भावना मनुष्य को नैतिक बना देती है तथा नैतिक होने पर मनुष्य सौन्दर्य भावना का विकास कर सकता है। सौन्दर्य प्रिय व्यक्ति पाशविक वासना से मुक्त होकर दिव्य प्रेमतत्व के रहस्य को जान लेता है।

किन्तु मनुष्य की प्रमुखतम विशेषता उसकी आध्यात्मिक वृत्ति है। जहां बुद्धि का अन्त हो जाता है और बौद्धिकता परास्त हो जाती है, मानव की अन्तर्दृष्टि (इन्ट्यूशन) का प्रारम्भ होता है जो तर्कणा से परे होती है। इन्द्रिय-ज्ञान (सेन्स परसेप्शन) और बौद्धिक ज्ञान से परे अन्तर्ज्ञान होता है जिसके द्वारा इन्द्रियातीत एवं तर्कणातीत अनुभूति की उपलब्धि होती है। मनुष्य में गहरे स्तर पर एक उदात्त, दिव्य भावना रहती है जो उसे स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख एवं प्रवृत्त करती है। मनुष्य में दिव्यज्योति का निवास होता है। उसकी अन्तरात्मा में समस्त अभाव का अन्त करने की तथा पूर्ण हो जाने की एक हूक (स्प्रिचुअल अर्ज) होती है जो उसे परमात्मा की ओर उन्मुख करती है। असभ्य जातियों में भी परमात्मा की कल्पना का कोई न कोई रूप मिलता है और परमात्मा से संबंध जोड़ने के प्रयत्न ने उपवास, उपासना, भक्ति, प्रार्थना, ध्यान, योग आदि अनेक रूप धारण किये हैं। जिस प्रकार जल पृथ्वी पर कहीं भी हो, वह नद, नदी आदि के द्वारा अपना तल ढूंढ कर अन्त में समुद्र में जाकर मिल जाता है, उसी प्रकार सभी आत्माएं विविध प्रयत्नों से जाने-अनजाने परमात्मा की ओर ही अग्रसर होती रहती हैं मानो समस्त गोपांगना प्रेम माधुर्य के आदिस्रोत कृष्ण से आकृष्ट होकर स्वतः उनकी ओर प्रवृत्त हो रही हों। परमात्मा "कृष्ण" अर्थात् आकर्षक सनातन सत्ता है और

जिस प्रकार लौहखण्ड चुम्बक की ओर स्वयं खिंचे चले जाते हैं, उसी प्रकार अंशभूत आत्माएं अपने मूलस्रोत परमात्मा की ओर स्वयमेव उन्मुख एवं आकृष्ट होती हैं। परमात्मा एवं दिव्यता की ओर सहज आकर्षण मानव की अद्भुत विशेषता है।

मनुष्य को धन, पद, प्रतिष्ठा, सुत, पत्नी, परिवार, सुयश आदि समस्त सांसारिक सुख प्राप्त होने पर भी स्थायी शान्ति एवं सुख प्राप्त नहीं होते यदि वह अपनी आध्यात्मिक मांग की पूर्ति का प्रयत्न नहीं करता है। मानव के भीतर एक ज्योति है जो महाज्योति की ओर प्रवृत्त होकर उससे मिलने के लिये मानो आतुर है। यह एक विचित्र गुरुत्वाकर्षण है। इस आत्मज्योति को पहचान कर उसकी मांग पूरा करने के प्रयत्न से ही चिरस्थायी शांति एवं सुख की प्राप्ति होती है। जब तक मानव अपने मूल से वियुक्त रहता है, तब तक उसके अन्दर का हाहाकार कभी शान्त नहीं हो पाता। परिच्छिन्न ज्योति जब तक महाज्योति के साथ आत्मसात् नहीं हो जाती तब तक क्षण-क्षण में उसका प्रकम्पित एवं अस्थिर बने रहना स्वाभाविक ही है। आत्मा का परमात्मतत्त्व की ओर यह प्रबल आकर्षण, यह आकुल मांग, मानवेतर अन्य किसी योनि में सम्भव ही नहीं है। मनुष्य को जीवनयापन तथा सुखोपभोग के साधनों के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिये। मानव को केवल रोटी, कपड़ा, मकान तथा भौतिक सुखसामग्री ही नहीं चाहिये बल्कि उदात्त कुछ अन्य भी चाहिये जिसे दार्शनिक जेम्स ने "दैवी कुछ और भी" ("डिवाइन मोर") शब्दों में व्यक्त किया है।

मैं देह नहीं हूँ, आत्मा हूँ। आत्मा ने ही देह का शैशव, बाल्य, यौवन एवं वार्धक्य देखा है। आत्मा अमर है, अतएव मानव में अमर होने की इच्छा होती है। आत्मा सत् है, अतएव मनुष्य अपना स्थिर अस्तित्व चाहता है। "सदेव सोम्य इदमग्रमासीत्" (छांदोग्य)। सत्, रज, तम में, जो क्रमशः आत्मा, जीव, प्रकृति के गुण हैं सत् ही सर्वोपरि है। आत्मा सत् है। मानव का वास्तविक स्वरूप आत्मा ही है, देह नहीं है। देह तो स्थूल है। आत्मा के अमर होने के कारण ही मानव में अमर होने की इच्छा स्वाभाविक रूप से है। मानव की आत्म-समर्थन (सेल्फ एसरशन), आत्म-सम्मान (सेल्फ रिगार्ड, रिकगनीशन), आत्म-निर्भरता आदि प्रवृत्तियों के मूल में आत्मा का सत् एवं अमर होना है। मानव अमर होने के लिये यश प्राप्ति आदि का प्रयत्न करता है। वह सोचता है कि वह सन्तति, सुयश आदि के द्वारा अमर हो जायेगा। वह असत्, नश्वर, से सत्, स्थायी, की ओर बढ़ना चाहता है। "असतो मा सद् गमय" मानव की आंतरिक पुकार है। किन्तु, वस्तुतः, आत्मा में संस्थित होकर अथवा आत्मा का साक्षात्कार होने पर ही मनुष्य को अपने वास्तविक

अमर, सत् स्वरूप का भान हो सकता है। मनुष्य के पुण्यकर्म तो मन को पवित्र बनाकर आत्मानुभूति के लिये एक भूमिका तैयार करते हैं। विनाशी से अविनाशी की ओर बढ़ना, भोग से त्याग एवं योग की ओर प्रवृत्त होना मानव का सहज स्वभाव है।

चारों ओर सब कुछ परिवर्तनशील हैं, नश्वर है; शरीर भी नश्वर है। जन्म और मरण के कूलों से टकराती हुई जीवन की धारा प्रवाहित हो रही है। व्यक्ति उत्पन्न होते और उसमें विलीन हो जाते हैं किन्तु जीवन प्रवाह तो अनन्त है, अविनश्वर है। मनुष्य स्थिरता को पकड़कर बैठ जाना चाहता है और मिथ्या अहंभाव को पुष्ट करता रहता है किन्तु फिर भी भौतिक सुखोपभोग उसे मृत्यु और विनाश से मुक्त नहीं कर पाता है। सनातन अस्तित्व तो सत् स्वरूप आत्मा का है। भूल से "अहं" देहाभिमान के साथ जोड़ने से वह मिथ्या हो जाता है किन्तु देह से परे "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं तो ब्रह्म हूँ) की अनुभूति होने पर वह अपने वास्तविक स्वरूप में सुस्थित हो जाता है। मनुष्य का वास्तविक "अहं" आत्मा ही है, देहतादात्म्य से उत्पन्न "अहं" एक भ्रम है। अपने भीतर गहरे स्तर पर आत्मा का "अहं" ही मनुष्य में अमरत्व की लालसा उत्पन्न करता है जिसकी पूर्ति, भ्रमवश, मनुष्य देह के द्वारा, देह के सम्बन्धों (सुयश, सन्तति, सम्पत्ति आदि) के द्वारा करना चाहता है और भटकता ही रहता है। मैं देह नहीं, आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, यह अनुभूति ही मानव के अमरत्व प्राप्ति का हेतु है तथा उसे शान्त, स्वाधीन एवं मुक्त बना देती है।

सदैव जीते रहने तथा कभी न मरने की इच्छा आत्मा के अमरत्व की उद्बोधक है और मनुष्य की चेतना के गहरे स्तर पर जमी हुई है। सबको मरता हुआ देखकर भी उसे अपने मरने का विश्वास नहीं होता है क्योंकि उसे अपने (आत्मा के) अमरत्व का प्रच्छन्न आभास होता है। "मृत्योर्माऽमृतं गमय" (मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो)—यह मानव के मन की आभ्यन्तर पुकार है। आत्मा सत् है और उस पर काल का शासन नहीं है। "सत् श्री अकाल" का यही आशय है। बौद्धिक जिज्ञासा भी, जिससे प्रेरित होकर मानव वैज्ञानिक अनुसंधान करता है, गहरे, आध्यात्मिक स्तर पर परम सत्य की जिज्ञासा है, आत्मस्वरूप जानने की पिपासामात्र है जो भौतिक स्तर पर विविध रूप ग्रहण कर लेती है। जो सत् है, वही नित्य है, वही सत्य है, वही शिव है, वही सुन्दर है। सत् आत्मा ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का निधान है।

आत्मतत्त्व चित् है। जड़ पदार्थ में भी सुषुप्त चैतन्य है। सर्वत्र चैतन्य शक्ति व्याप्त है जो विश्व का संचालन कर रही है। भौतिक ज्ञान के प्रकाश के द्वारा बुद्धि में प्रकाश होता है आत्मज्ञान के प्रकाश के द्वारा आत्म-ज्योति का संदर्शन होता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" मानव की आध्यात्मिक पुकार

है। वह चेतना के समुद्र में निमग्न होकर, उसके साथ आत्मसात् होने पर ही पूर्णता का अनुभव करता है। चित्स्वरूप होने के कारण ही मनुष्य ज्ञान की अनवरत खोज करता है। ज्ञानस्वरूपता में वह अपनी पूर्णता का संदर्शन करना चाहता है।

आत्मा आनन्दस्वरूप है। अतएव मनुष्य स्वभाव से ही सुख चाहता है और उसके समस्त क्रियाकलाप सुखेच्छा से प्रेरित होते हैं। मनुष्य का मूल स्वरूप तो आनन्दस्वरूप है। आनन्द की संतान मनुष्य अनेक स्तरों पर आनन्द की खोज करता है तथा आनन्द पाकर ही शांत होता है। संसार के सभी भौतिक सुख मानो अगाध आनन्द सिंधु की सतही लहरें हैं। समस्त सुखों का मूल स्रोत आत्म स्वरूप आनन्द-उदधि है।

सुख की खोज में मनुष्य इन्द्रिय स्तर पर मधुर भोजन, चित्रपट, गायन आदि का अनुधावन करता है। परिपक्वबुद्धि होकर मनुष्य बौद्धिक स्तर पर साहित्यिक, कलात्मक, विचारात्मक सुख का अनुसरण करने लगता है और इन्द्रिय स्तर के सुखों को बौद्धिक सुख की अपेक्षा तुच्छ मान लेता है। इन्द्रिय स्तर पर बाह्य पदार्थों का सहारा लेकर तथा बौद्धिक स्तर पर विचारों एवं भावों का सहारा लेकर मनुष्य सुख का अनुभव करता है किन्तु सुख सदैव अन्दर ही उपजता है। गहरे, आत्मा के स्तर पर आनन्दानुभूति भी भीतर ही होती है तथा वह किसी प्रकार भी बाह्य पदार्थों पर आश्रित नहीं है।

सांसारिक अनित्य वस्तुओं से नित्य सुख की प्राप्ति असंभव है। सांसारिक सुख आनन्द की छाया-मात्र हैं। आध्यात्मिक मस्ती (सहज आनन्द जो आत्मा का गुण है) का परिचय न होने पर मनुष्य भौतिक स्तर पर मदिरा आदि अनेक मादक वस्तुओं में मस्ती ढूंढता हुआ भटकता फिरता है। शाश्वत सुख की प्राप्ति नित्यतत्त्व निज-आत्मस्वरूप से ही संभव है तथा इसके लिये किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के आश्रय की अपेक्षा करना सर्वथा भूल ही है। आत्म साक्षात्कार की भूख स्वाभाविक है। संसार के भोगों से जीव की आत्यन्तिक तृप्ति नहीं हो सकती है। खिलौना हाथ में लिये रहने से कुछ देर तक मन का बहलावा हो सकता है किन्तु उससे भूख शान्त नहीं होती है। यही कारण है कि धन, सत्ता, वैभव, यौन इत्यादि सुखों की प्रचुरता भी मनुष्य के मन को तृप्त नहीं कर पाती है और केवल आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर ही उसे शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। (हां, सांसारिक भोगों से ऊबे हुए तथा आध्यात्मिक क्षुधा से आर्त्त अनेक अबोध जन को कुछ पाखण्डी लोग आजकल किसी प्रकार चमत्कृत कर देते हैं तथा स्वयं "अवतार" बनकर उनको भ्रमित कर रहे हैं और नये-नये पन्थ बना रहे हैं। यह

शोचनीय है कि वे व्यक्तिपूजा की लिप्सा से ऐसा कर रहे हैं। स्वयं नष्टः परान् नाशयति।)

समस्त सुखों का मूलाधार आत्मा ही है जो आनन्दस्वरूप है। आत्मानन्द रसों का भी रस है, रसराज है। "रसौ वै सः", परमात्मा रसरूप ही है। भौतिक जगत् के सुख तो सापेक्ष होते हैं किन्तु आत्मानन्द नितान्त निरपेक्ष होता है। भौतिक सुख एवं दुःख के द्वन्द्व से मुक्त होकर अबाध आनन्द की सम अवस्था को प्राप्त होना जीवन की सफलता है, कृतकृत्यता है। पाशबद्ध जीव पशु है और पाशमुक्त हो तो पशुपति है, साक्षात् शिव है। मनुष्य संसार के समस्त सुख साधनों को पाकर भी, आत्मा से संस्पर्श बिना किये हुए, स्थायी सुख अथवा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता है। रसोमय प्रभु के मिलने पर भोगैश्वर्य की प्रवृत्ति, भोगलिप्सा, निवर्त्तमान हो जाती है।

लोक व्यवहार में आत्मनिष्ठ व्यक्ति प्रेममय होता है। प्रेम आत्मा का गुण है तथा प्रेम में आत्मा की व्यापकता निहित होती है। प्रेम व्यापक होता है और उसमें भौतिक स्वार्थ नहीं होता है किन्तु मोह संकीर्ण होता है और उसमें स्वार्थ की मात्रा अवश्य होती है। प्रेम का उदय होने पर क्षुद्र अहंभाव जो लोभ, मोह, घृणा एवं क्रोध का भौतिक कारण है, विलुप्त अथवा उदात्त (सबलीमेटेड) हो जाता है। प्रेम में तपस्या, सेवा, क्षमा, सहिष्णुता, उदारता, त्याग और परोपकार अन्तर्निहित होते हैं। प्रेम ही प्रगाढ़ होकर प्रभु के प्रति भक्ति एवं समर्पण का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रेमपूर्ण व्यक्ति अपने मन के साथ समायोजन (एडजस्टमैंट) कर लेता है तथा फलस्वरूप उसका व्यवहार अन्य सबके प्रति भी मधुर हो जाता है। जीव मात्र के साथ स्वार्थ रहित प्रेम करना तथा प्रेम एवं करुणा द्वारा समस्त सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव की आत्मा की मांग है।

यह आत्मा की ही कोई पुकार है कि मनुष्य को स्वतंत्र एवं स्वाधीन होना प्रिय है। मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकतम स्वतन्त्र एवं स्वाधीन रहना चाहता है क्योंकि गहरे स्तर पर उसकी अपनी आत्मा स्वतंत्र एवं स्वाधीन है।

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसल ने अपने जीवन की तीन प्रमुख विशेषताएं बताई थीं—(१) प्रेम की प्यास, (२) यातनाग्रस्त मानवता के लिये अपार करुणा, (३) ज्ञान की खोज। इन तीनों विशेषताओं का मूलस्रोत आत्मा ही है। प्रेम एवं करुणा के द्वारा व्यापक होने तथा ज्ञान की खोज करने के मूल में, आत्मा को जानने तथा उसे संलब्ध करने की प्रेरणा ही सक्रिय है। मनुष्य प्रेम के द्वारा व्यापक होना चाहता है। मानव अन्तर्ज्योति को देखना, उसके साथ तादात्म्य संसिद्ध करना तथा उसमें संस्थित होना चाहता है। "आत्मानं

विजानीत्" (वेद)। वह अनुभव द्वारा भौतिक पदार्थों के परिग्रह को निस्सार पाकर तथा भोगों से ऊपर उठकर "कुछ और भी उदात्त, कुछ और भी आनन्द-प्रद" (डिवाइन मोर) चाहता है। आत्मसाक्षात्कार उसका चरम लक्ष्य है, उसी से उसे परम शांति, परम आनन्द, अक्षय शांति, अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है, वही उसकी पूर्णता है।

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, अतः सत् चित् आनन्द की ओर स्वतः प्रवृत्त होना मानव के जन्मजात आध्यात्मिक संप्रेरण के कारण है। विकास क्रिया (इवोलूशन) के मूल में जीवन को स्थायी एवं पूर्ण बनाने की मानव की अपनी प्रेरणा है। असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं-गमय। (बृहदारण्यकोपनिषद्)। असत्य की ओर नहीं, सत्य की ओर चलो अंधकार की ओर नहीं, प्रकाश की ओर चलो। मृत्यु की ओर नहीं, अमृत की ओर चलो। लक्ष्य सत्य है, प्रकाश है, अमृतत्व है। असत् से सत्, तमस् से ज्योति, मृत्यु से अमृतत्व (अमरता) की ओर बढ़ना आत्मा की पुकार होने के कारण मानव का अपना स्वभाव है।

मनुष्य आदर्शों की प्रस्थापना तथा उनका परिपालन आत्मा की ऊर्ध्व-गामिता के कारण ही करना चाहता है। आत्मा अग्नि की भांति ऊर्ध्वगामी हैं। वेद में आत्मा का एक नाम अग्नि भी है। आत्मा और अग्नि ऊर्ध्वगामी होते हैं। आदर्शों की ओर बढ़ना मानो ऊर्ध्वगमन है। समाज में आदर्शवान् अथवा ऊर्ध्वागामी व्यक्ति का सम्मान होता है। ऊर्ध्वगमन मानवधर्म है और ऊर्ध्व-गमन द्वारा मनुष्य परमानन्द की प्राप्ति करता है। सामान्यजन श्रेष्ठ (आदर्श-वान्) व्यक्ति के आचरण का अनुसरण करने में अपना कल्याण समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति आदर्श चाहता है और जिन्हें वह आदर्शवान् समझता है, उनका अनुसरण करता है। मनुष्य ऊपर के स्तरों पर उठते ही रहना चाहता है। वह इन्द्रिय स्तर से बुद्धि स्तर पर, बुद्धि स्तर से आत्मा स्तर पर चढ़ते रहना चाहता है। आत्मा का प्रकाश पाने का प्रयत्न करना मानव का सहज धर्म है। कदाचित् स्वप्न में ऊपर उड़ना इस सहज प्रवृत्ति का द्योतक है। आत्मा उत्प्रेरक है। "अग्ने नय सुपथा" का यही अर्थ है। अग्नि की भांति ऊपर उठना सहज धर्म है, ऊर्ध्वगमन ही सुपथ है। ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः (गीता १४।१८) आसुरी वृत्ति से दैवी वृत्ति की ओर तथा भोग से त्याग की ओर उठना आत्मा के उत्प्रेरण का फल है। प्रभुभाव में विभोर होने पर मनुष्य हाथों को उपर उठा लेता है मानो मानसिक स्तर ऊंचा होने पर शरीर में भी ऊपर उठने की प्रति-क्रिया जागती है। ऊर्ध्व गमन में मनुष्य पशुबलिदान करता है जिसका अर्थ पशुहिंसा नहीं बल्कि पशुता-त्याग है। मन एवं इन्द्रियों पर संयम करना मानो सच्चा पशुबलिदान है।

शान्ति आत्मा का गुण है। आप निरन्तर शान्त रह सकते हैं किन्तु निरन्तर अशांत कदापि नहीं रह सकते हैं क्योंकि वह अस्वाभाविक है। सांसारिक दुःख-सुख से ऊपर, आध्यात्मिक स्तर पर रहने से आप संसार के कार्य करते हुए सहज शान्त रह सकते हैं। उपादानता होने पर ही निमित्त कारण अनुकूल अथवा प्रतिकूल बनते हैं।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का प्रयास आत्मतत्त्व के अनुरूप ही है। मनुष्य में नश्वर से अनश्वर, ससीम से निस्सीम तथा अंतवान् से अनन्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति आत्मा के अमरत्व एवं अनन्तत्व की ही बोधक है। मानव आध्यात्मिक स्तर पर परम-सूक्ष्म आत्मतत्त्व की अनुभूति करता है। वह दिव्यानुभूति अतीन्द्रिय एवं अनिर्वचनीय होती है तथा अतर्क्य होती है। आत्मा के संप्रेरण के कारण ही मानव न केवल मानवमात्र के बल्कि अनन्त जीवमात्र के प्रति उदार बनकर व्यापक होना चाहता है, और समष्टि के प्रति उदार तथा उसके साथ एकाकार होकर ही व्यक्ति सुख एवं शान्ति का अनुभव करता है। आत्मा के अनन्तत्व से संप्रेरित होने के कारण वह नक्षत्रों को पार कर अनन्त में उड़ना चाहता है। अन्तरिक्षयानिकी के जन्मदाता ने कहा था कि पृथ्वी मानव जाति का पालना है किंतु कोई उसमें सदैव नहीं रह सकता है। चन्द्रमा पर पैर रखने वाले चौथे मानव एलेन बीन ने कहा है कि मानव शीघ्र ही अन्तरिक्ष में बस्तियां बसायेगा। "चरैवेति" (आगे बढ़ चलो) उसकी आत्मा की ही पुकार है।

४

स्वान्तः सुखाय

महात्मा तुलसीदास ने रामचरितमानस के रूप में संस्कृति और धर्म का मूर्तिमान वाङ्मय विग्रह प्रस्तुत कर जनसमाज का अकल्पनीय हित किया। रामचरितमानस भारतीय धर्म, दर्शन, नीति, संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था के साहित्य के रूप में एक अनुपम कृति हैं। इसकी उत्कृष्टता इस तथ्य में निहित है कि विद्वत्समाज एवं जनसाधारण में इसकी लोकप्रियता समान है। काव्य की श्रेष्ठता का मापदण्ड उसका गंगा की भाँति सबके लिये हितकर होना है। इस दृष्टिकोण से रामचरितमानस अप्रतिम ग्रन्थ है। किन्तु इस लोक-कल्याण-कर ग्रन्थ के आदि में कृतिकार महात्मा तुलसीदास ने यह घोषणा नहीं की कि जनहित उनका उद्देश्य है। उसका उद्घोषित प्रयोजन है---स्वान्तः सुख, अपने अन्तःकरण का सुख।

प्रसिद्ध एवं उद्भट विद्वान् मम्मट ने काव्यनिर्माण के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा कि यश की प्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, विपत्तिविनाश, शिवेतर-क्षति तथा पर-निर्वृति अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति के लिये ही काव्य ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) हैं। विद्वद्वर भरतमुनि, आलंकारिक आचार्य भामह, रीतिवादी आचार्य वामन, तदनन्तर ध्वनिवादी आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य भोजराज, आचार्य कुन्तक आदि ने विभिन्न प्रयोजनों की चर्चा की है, किन्तु सब प्रयोजनों में मूर्धन्य अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है। यह आनन्द रसास्वादनरूप में निष्पन्न होता है। इसकी अनुभूति के समय रसयिता को अन्य ज्ञेय वस्तुओं का आभास भी नहीं रहता है। अतएव इसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है। काव्यरसास्वादन विलक्षण आनन्द है। किन्तु क्या यह रसानुभूतिजन्य सुख कवि को भी प्राप्त होता है, यह विवाद-ग्रस्त विषय है।

जहाँ काव्य के कुछ अन्य प्रयोजन सामाजिकों अथवा सहृदयजन के लिये हैं, कदाचित् यह रसचर्वणाजनित सुख भी कवि के लिये पूर्णतः नहीं है। आंशिक रूप में ही इसे कवि के लिये स्वीकार करने पर भी कवि की रसानुभूति कुछ पृथक् है, विलक्षण ही है। प्रत्येक दशा में मौलिभूत प्रयोजन अथवा मुख्य एवं पारमार्थिक प्रयोजन पर-निर्वृ ति (अथवा गहन आनन्दानुभूति) ही है जिसकी उपलब्धि किसी भी (विलक्षण) रूप में स्वयं कवि को भी अवश्य होती है।

सृजनात्मक प्रवृत्ति की संतुष्टि कवि को अनिर्वचनीय सुख प्रदान करती है। चित्रकार अपनी तूलिका के द्वारा, शिल्पी पाषाण पर अंकन के द्वारा तथा कवि सुन्दर तथा भावमय शब्द-चयन के द्वारा प्रकृति का चित्रण करता है, सौन्दर्य का सृजन करता है। कलाकार की भांति ही वैज्ञानिक भी पहले प्राकृतिक सौन्दर्य से संप्रेरणा उपलब्ध करता है, तदनन्तर अपने ढंग से उसका चित्रण करता है और उसके माध्यम होते हैं--तर्कसंगत सिद्धान्त एवं सूत्र (फार्मू ले)। वैज्ञानिक के चित्रण में बौद्धिक सौन्दर्य का पुट होता है और वह भी एक प्रकार का कलाकार ही होता है, जो सत्य की अविश्रान्त खोज में अपनी शक्तियों का होम कर तथा सांसारिक भोगैश्वर्य को तिलांजलि देकर, सत्य के समावेश द्वारा प्रकृति का बौद्धिक चित्रण कर देता है। दार्शनिक भी एक कलाकार होता है, जो सत्य के अनुसंधान हेतु अथक स्वाध्याय, मनन, चिन्तन में निमग्न रहकर प्रकृति के रहस्यों की व्याख्या के द्वारा उसका मानसिक चित्रण करता है तथा नवीन विचारों का सृजन करता है। वैज्ञानिक जीवन में स्पष्टता और सुविधा लाता है तथा साहित्यकार जीवन में रस की उत्पत्ति करता है। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में भी कवित्व का ही स्फुरण होता है।

सर्जनात्मक प्रवृत्ति, प्रबुद्ध होने पर, कलाकार को नव निर्माण के लिये विवश कर देती है। अनन्त परिश्रम, मनन, चिन्तन, अनुभूति तथा प्रयोग आदि क्रम के द्वारा उसे ज्ञान-ज्योति की एक झलक मिल जाती है। सत्यान्वेषी काल के भाल को उद्भासित कर देता है और प्रगतिपथ को ज्योतिपुंज के द्वारा आलोकित कर स्वयं धन्य हो जाता है। वेद महावाक्य है "सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म"। कवि "सत्य" का अवलम्बन लेकर ब्रह्म के समीप आ जाता है। वह गृहीत ज्योति की झलक में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का पुट देखता है तथा उसे मूर्त्तरूप देने का प्रयास करता है। इस स्थिति में वह नवरचना के द्वारा अवश्य ही जनकल्याण का सूत्रपात करने में समर्थ है, सक्षम है। वह मन में उदित भावों के झंझावात के कारण विवश हो जाता है कि प्राप्त नई झलक को एक सुमधुर रूप प्रदान कर दे। कदाचित् जिस प्रकार आत्मविभोर होकर पक्षी अंडा सेने में एक विवशता का अनुभव करता है, जिससे कि बाल पक्षी का सृजन सम्भव होता है, उसी प्रकार तन्मय होकर कलाकार भी अपने में एक बाध्यता का

अनुभव करता है, जिससे कि नई रचना का सृजन सम्भव होता है। यह नई रचना उसकी सर्वश्रेष्ठ एवं भव्यतम निधि हो जाती है जिसकी रक्षा एवं अमरता के हेतु वह सहर्ष अपने प्राणों की बाजी लगा सकता है। यह रचना उसे प्राणप्रिय होती है। सृजन क्रिया स्वयं ही एक अनूठा सुख होता है और वही कलाकार का सबसे अधिक बढ़कर पुरस्कार है जो उसे सृजनकाल में स्वतः प्राप्त होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का आभ्यन्तर ग्रहण (ग्रैस्प) तो सुखद है ही किन्तु कला के रूप में पुनः उसका बाह्य सृजन एक अनिर्वचनीय सुख है। सृजनात्मक क्रिया के साम्य के कारण ही कवि को ईश्वर की कोटि में माना गया है, अथवा ईश्वर ही मानो कवित्त सृजन के द्वारा कवि में अपने ईश्वरत्व का संदर्शन करा देता है। "कवि उर अजिर नचावहिं वाणी"। मंत्रद्रष्टा ऋषि की भांति वह भी मानता है, "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" अर्थात् मैं इस कल्याणी वाणी को मनुष्य मात्र के लिये दे दूं।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः (वेद)। वेद में "कवि" ब्रह्म का भी विशेषण है। मनीषी का अर्थ है, प्रज्ञावान्, राधाशक्ति अथवा आह्लादिनी शक्ति से युक्त। कवि द्रष्टा होता है, वह ब्रह्म के सदृश द्रष्टा होता है। जगत् दृश्य है, कवि "क्रान्तदर्शी" होकर भीतर और बाहर देखता है। उसे सम्यक् क्रान्तदर्शी होने के कारण अन्तः तथा बहिः का समन्वय करना होता है। "देखूं सबके उर की डाली"। संवेदनशीलता के कारण तथा क्रान्तदर्शी होने से ही उसके काव्य में "चमत्कार" का पुट आ जाता है।

कवि कर्म व्यापक होता है। कवि देश, विश्व, समस्त समाज एवं प्राणिमात्र के प्रति जागरूक होता है। गहन साधना एवं अनुभूति का परिपाक होने पर उसका अन्तस्तल काव्यधारा के रूप में प्रस्फुटित हो कर प्रवाहित होने लगता है। कवि संसार के प्रच्छन्न विधायक होते हैं। "कविं पुराणमनुशासितारम्" (गीता)। यहां कवि का अर्थ "सर्वज्ञ प्रभु" है। सचमुच कवि लोक में रसधारा प्रवाहित कर दैवी कर्म का सम्पादन करता है जिससे अपार जनहित होता है, जो लोकमंगल कारक होता है। "कविः करोति काव्यं, रसं जानाति पण्डितः। अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः"। कवि काव्य-जगत् का प्रजापति ही है।

यद्यपि धन, यश, कीर्ति इत्यादि कवि को पुरस्कार स्वरूप अथवा सत्कार स्वरूप प्राप्त होते हैं, तथापि वह उन्हें अपना उद्देश्य नहीं मानता है, उन्हें गौण एवं नगण्य मानता है। यश एवं प्रतिष्ठा की इच्छा से प्रेरित होने वाला व्यक्ति सात्त्विक भाव से सत्कर्म नहीं कर सकता है तथा वह यश प्राप्ति के कुचक्र में फंसकर यश प्राप्ति के अवसर ही ढूंढता रहता है। कवित्व-स्फुरण उसकी पूंजी है, जिसके फलस्वरूप उसे नानाविध लाभ सदैव प्राप्त होते रहते हैं। सत्य का

भावुक उपासक, कवि, अपने उद्देश्य को विस्मृत न कर, सामान्य सुखों के प्रपंच से अलुब्ध रहकर, अपनी साधना में अनवरत लगा रहता है, भोगभ्रमित होकर पथभ्रष्ट नहीं होता है। कवि की उदात्त काव्य साधना किसी भी तपस्वी की घोर तपस्या से कम कठिन नहीं होती है। कवि यथार्थ सत्य की खोज कर अन्धकार में प्रकाशदान करता है। सत्य ही संसार का श्रेष्ठ धन है। अतएव सत्य के अन्वेषण से बढ़कर जीवन का उपयोग अन्य कुछ नहीं है। सत्य ही सभ्यता का जनक है तथा पवित्रता एवं श्रेष्ठता का सिद्ध साधन है। सत्य का क्षेत्र अनन्त होता है। विश्व का समस्त ज्ञान कवि को प्रापणीय होता है। कोई साहित्य, "पवित्र एवं गोपनीय" की आड़ में होकर भी उसकी पहुँच से बाहर नहीं रह सकता है। वह जिन अनुभूतियों एवं परिणामों पर पहुँचता है, स्वतन्त्र होकर वह उन्हें सचाई से यथावत् व्यक्त करता है। उसे कोई दण्ड का भय दिखाकर भी मार्गभ्रष्ट नहीं कर सकता है।

वे मानवता के घोर शत्रु हैं, जो ज्ञानपथ के राही कवि के मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं अथवा उसे चिर अर्जित ज्ञानसामग्री के सुलभ होने में अथवा उसकी पूर्ण भावाभिव्यक्ति होने में बाधा डालते हैं। कौनसा देश, काल और समाज है, जहाँ सत्य की वाणी का पत्थर, बरछी, सूली, गोली, गाली से स्वागत नहीं हुआ है? फिर भी मानव ने सदा सत्य का साहसिक अन्वेषण किया और उसे स्वतन्त्र अभिव्यक्ति भी दी। उसकी यह अदम्य प्रवृत्ति एवं साहस ही उसके समस्त विकास का आधार है, उसकी समस्त प्रगति का मेरुदण्ड है।

गांधी बनने पर लोग केवल गाली ही नहीं देते हैं, उन्हें गोली मार कर ही सन्तोष मिलता है किंतु गांधी के स्वर को गोली भी बन्द नहीं कर सकती है। समाज में सत्कार की आशा और इच्छा छोड़ कर आत्म सन्तोष के लिये (स्वान्तः सुखाय) ही कर्म करने से मनुष्य निराशा से बच सकता है। इस संसार में त्याग, तपस्या, सत्य और अहिंसा का अन्त प्रायः गोली, शूली और बरछी ही हैं, भले ही बाद में लोग शहीद कह कर पूजा करें। सत्य के आराधक, समाज के सच्चे भक्त के मन का दर्द कोई एक ही पहचानता है। वह समाज के लिये जीता और मरता है और समाज प्रायः उसका अपमान ही करता है। तथापि वह अपकार करने वाले को क्षमा करता है और बदले में उपकार करता है। महात्मा ईसा ने शूली चढ़ाने वाले के लिये भी ईश्वर से प्रार्थना की। स्वामी दयानन्द ने विष देने वाले को धन देकर और भगाकर उसकी प्राणरक्षा की। महापुरुष की आत्मा की ऊंचाई का मापदण्ड सहनशीलता और क्षमा होते हैं। महापुरुष का किसी से रागद्वेष नहीं होता है और वह अपने मिशन के लिये जीता और मरता है। सूर्य स्वयं तप कर संसार को

प्रकाश और जीवन देता है। किसी की त्याग-तपस्या का क्या मूल्यांकन हो सकता है तथा क्या पुरस्कार संभव हो सकता है ? स्वान्तः सुख ही एक मात्र पुरस्कार है। इसके अतिरिक्त अन्य पुरस्कार के लिये काम करने वाला व्यक्ति सच्चा नहीं हो सकता है तथा वह निम्न कोटि का व्यक्ति होता है। सत्यप्राप्ति से उत्पन्न आत्म-सन्तोष उदात्त पुरस्कार होता है।

सत्य की खोज करने में कापरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, सुकरात आदि को भी कैसा यातनापूर्ण अपमान सहन करना पड़ा ? यदि सत्य कहना और सुनना कष्टप्रद न होता तो लोग ईसा पर पत्थर क्यों मारते, उन्हें शूली पर क्यों चढ़ाते, मार्टिन लूथर तथा ब्रूनो को जीवित ही क्यों जला देते, गांधी को गोली क्यों मारते, सुकरात को विष क्यों देते ? प्रायः असत्य प्रिय एवं सुखद प्रतीत होता है। सत्य को कहने और सुनने का साहस विरले व्यक्तियों में होता है। ऐरहीनियस ने जब स्टाकहाम विश्वविद्यालय को अपने नये विचार प्रस्तुत किये तो उसे प्रताड़ना प्राप्त हुई और घोर अपमान सहना पड़ा, जबकि कुछ वर्षों के पश्चात् उसे उन्हीं विचारों पर नोबल पुरस्कार मिला। ईर्ष्यालु तथा विचारहीन रूढ़िवादी व्यक्ति प्रायः सत्यानुसंधानरत मनीषियों की अवमानना ही करते हैं। न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्। यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥ अर्थात् जो किसी के गुणों को नहीं जानता है, वह उसकी निन्दा ही करता है। भीलनी मोती को छोड़कर चौंटली को ही पसन्द कर लेती है। अतएव सत्य का आराधक निन्दा-स्तुति से ऊपर उठकर सत्यान्वेषण करने में अपनी कृतार्थता समझता है।

मानव तो मरणधर्मा है किन्तु उत्कृष्ट कवि अपनी कृति के द्वारा अमर हो जाता है यद्यपि संसार में विरले ही उसका महत्व समझ पाते हैं। काव्यानां तत्त्वं किमपि जानाति विरलो भुवि। मार्मिकः को मरन्दानां अन्तरेण मधुव्रतम्॥ काव्य के तत्त्व को संसार में कोई एक जानता है, पुष्प रस का मर्म भौंरे के अतिरिक्त अन्य कौन जानता है ? सरस्वती का वरदान कवि को भौतिक लाभ न देकर जीवनकाल में एक अजीब मस्ती और मरणोपरान्त अमरता दे देता है। लक्ष्मी का प्रसाद मनुष्य को सुख के समस्त साधन, वैभव और ऐश्वर्य तो दे सकता है किन्तु न सुख दे सकता है, न अमरता ही।

कवि के सृजन का सत्कार मानो उसमें निहित ईश्वरतत्त्व का सम्मान है, उसका तिरस्कार मानो ईश्वर का ही तिरस्कार है। कवि ईश्वर की भांति द्रष्टा ही नहीं, स्रष्टा भी होता है। कवि की नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतंत्रा, नवरसरुचिरा भारती (वाग्देवी) सर्वोत्कृष्ट है। उसमें किसी न किसी मात्रा में स्रष्टा के गुण सन्निहित होते हैं, किन्तु भौतिकता, धनलोलुपता, यशकामना

अथवा क्षुद्र संकीर्णता धीरे-धीरे उन्हें विनष्ट कर श्रेष्ठ कवि को भी उपहसनीय बना सकती है।

सन्त तुलसीदास केवल काव्य रचयिता कवि ही न थे। वे सर्वप्रथम ईश्वर भक्त थे, उदात्त सन्त थे, महात्मा थे, तदनन्तर कुछ अन्य भी थे। उनका स्वान्तः सुख केवलमात्र कविजगत् का अनुभूत काव्यसृजन-सुख ही न था। उनका जीवन एक दिव्य साधना था और उनका काव्य आत्मकाव्य था। उनका "स्व" प्रभु में विलीन हो चुका था और वह कोई व्यक्तिगत संकीर्ण "स्व" नहीं रह गया था। विश्वात्मा का अन्तःकरण ही उनका अन्तःकरण था। लघु बिन्दु सिन्धु में सन्निविष्ट होकर स्वयं विशाल सिंधु हो चुका था। उनका देह, उनका इन्द्रियग्राम, उनका मन, उनकी बुद्धि, परमात्मा के दिव्य यंत्र बन गये थे। भक्त और भगवान् का तादात्म्य हो चुका था, दोनो आत्मसात् थे। अतएव उनका "स्वान्तः सुख" मानो विराट् का परमैश्वर्यजन्य परमानन्द था। "स्व" से उनका तात्पर्य, उपादान लक्षणा से, "स्वान्तःस्थ ईश्वर" से है। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" के अनुसार "स्व" का अर्थ "स्व में संस्थित ईश्वर" है। "स्व" अर्थात् स्वान्तःस्थ ईश्वर ही उनके लिये अर्चनीय एवं तर्पणीय था। हरि-प्रेरणा ही उनकी अपनी प्रेरणा थी। तुलसी दिव्य प्रेरणा के द्वारा यथानियुक्त होते थे, तथैव आचरण करते थे। परमार्थ, परार्थ अथवा विश्वार्थ ही तुलसीदास का स्वार्थ था। यदि प्रभु स्वयं राम रूप में दिव्य लीला कर रहे थे तो मानो वे स्वयं तुलसी के रूप में भक्तलीला कर रहे थे।

तुलसी ने हृदयोद्‌गार को सामाजिक स्तर पर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित किया है। तुलसी का मानस एक ओर विशुद्ध आनन्दोद्‌गार है तथा दूसरी ओर लौकिक एवं व्यावहारिक धरातल पर लोकसंग्रह की संरक्षा करने वाला सशक्त काव्य है। तुलसी ने स्वान्तः सुखाय काव्य रचना की किन्तु उसमें उन्होंने निज अनुभव पर आधारित लोकोक्तियों एवं लोक-परिपाटियों के माध्यम से लोकरुचि को परिष्कृत किया है तथा लोकमंगल एवं लोकमर्यादा के प्रति अपने कविधर्म एवं दायित्व का पालन किया है। जीवन-दर्शन की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए तुलसी ने लोकाचार को भी सुमर्यादित किया है। आन्तरिक अथवा एकान्तिक रसविभोरता में निमग्न रहकर भी लोकसंग्रह एवं लोकमंगल को परिपुष्ट करके तुलसी ने विलक्षण महानता का परिचय दिया है। उनका व्यक्तिगत आनन्दानुभूतिजन्य उद्‌गार लोकहित का सशक्त माध्यम बन गया है, उनका स्वान्तः सुख परहित हो गया है। यही है स्वान्तः सुखाय परजन हिताय च। स्वान्तः सुख तथा पर-जनहित, निजमंगल तथा लोकमंगल परस्पर आबद्ध हैं, एक ही प्रवाह के दो तट हैं,

एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। लोकमंगलकारी सार्वभौम रचना ही कल्याण सन्देश दे सकती है। कवि के सच्चे हृदयोद्गार अवश्य ही लोकमंगलकारी सिद्ध होते हैं।

तुलसी ने बिखरते हुए समाज को मर्यादाओं में बांधकर उसे समेटने तथा सुस्थिर करने का प्रयत्न किया, स्वस्थ मान्यताओं और मूल्यों को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करके भटकते हुए समाज का दिशा-निर्देशन किया तथा जन-जन को अपने, समाज के तथा प्रभु के प्रति कर्त्तव्य का बोध करा कर जनसमाज का अकल्पनीय हित किया। तथापि तुलसी के लिये मूलतः यह सब स्वान्तः सुखाय था। जनमंगल उनका निजमंगल था। रामचरितमानस की रचना के सम्पन्न होने पर इस महान् सर्जन के उद्देश्य "स्वान्तस्तम शान्ति" (अपने अन्तस्तल के अन्धकार की निवृत्ति) की ओर पुनः संकेत करते हुए तुलसी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस शिवकर, विज्ञान भक्तिप्रद, मायामोहमलापह, सुविमल, प्रेमाम्बुपूर एवं शुभ रामचरितमानस के अवगाहन से मनुष्य मात्र का कल्याण होना सुनिश्चित है, अतएव यह रचना लोकमंगलकारी है।

सामान्यतः स्वान्तः सुख ही स्वान्तस्तोष है, जो जीवन का श्रेष्ठ लाभ होता है।

"जीवनेऽस्मिन् महांल्लाभः स्वान्तस्तोषो निगद्यते,
स्वस्यान्तरात्मना सार्धम् अविरोधे तदिष्यते।"

अन्तरात्मा अथवा अन्तःकरण की वाणी वस्तुतः प्रभु की ही वाणी होती है। जीवन में यह परमोच्चलाभ है कि कोई मनुष्य राग-द्वेष, घृणा, क्रोध, पक्षपात, मोह, ममता से मुक्त तथा समता एवं प्रभुमयता से युक्त होकर, स्वच्छ अन्तरात्मा की पुकार सुनकर, प्रभु के यन्त्र के रूप में, उसके अनुसार ही आचरण करे। आत्मसमर्पणपरायण भक्त का आचरण प्रभुप्रीत्यर्थ होता है, प्रभु की प्रसन्नता ही उसका स्वार्थ है। उसका "स्व" तो प्रभु को समर्पित हो गया है, प्रभु के साथ आत्मसात् हो गया है। अतः वह सर्वत्र प्रभु का दर्शन करता है। जीवमात्र में आत्मौपम्य से सर्वत्र सम देखने वाला व्यक्ति योगी कहलाता है।

"भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्॥" (गीता)

अर्थात् भगवान् वासुदेव समस्त प्राणियों में बसते हैं, यह शाश्वत ज्ञान ही सारे धर्म का मूल है, सार है।

सच्चे मनुष्य के स्वच्छ अन्तःकरण की वाणी आत्मा की ही वाणी होती है, जैसे कि वासनाएं शरीर की वाणी होती हैं। आत्मा की वाणी अन्तःकरण की ध्वनि के रूप में तथा शरीर की वाणी वासना के रूप में प्रकट होती है। सच्चे

मनुष्य के स्वच्छ अन्तःकरण की ध्वनि निःसन्देह आत्मा की वाणी होती है। अन्तरात्मा की अदालत सबसे बड़ी अदालत है। अन्तरात्मा से बढ़कर कोई मित्र एवं समर्थक नहीं होता है। जिसने अन्तरात्मा को सच्चा साथी और गुरु बना लिया, उसे भय और चिन्ता कदापि सता नहीं सकते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि आत्मा तथा शरीर की ध्वनि एक दूसरे का खण्डन करती हैं। अन्तःकरण की वाणी का प्रतिरोध मानो आत्महत्या है। महात्मा गांधी का कथन था कि यदि कभी अन्तःकरण की ध्वनि मानने पर कोई भूल हुई प्रतीत हो तो वह अन्ततोगत्वा दोष न होकर उन्नतिदायक ही सिद्ध होगी। "असत्येन सत्यमीहते" अर्थात् सत्य का पिपासु असत्य, मिथ्या को प्राप्त होकर भी असत्य से सत्य की ओर बढ़ता है, सत्य को प्राप्त करता है, असत्य के द्वारा सत्य को प्राप्त करता है, पाप से पुण्य को प्राप्त करता है तथा स्थूल से सूक्ष्म को प्राप्त करता है।

जीवन के सभी क्षेत्रों में पवित्र साधक को प्रत्येक क्रिया स्वान्तः सुख के लिये ही करनी चाहिये, क्योंकि वह हमारे क्रियाकलाप का श्रेष्ठ पारितोषिक एवं पुरस्कार है। अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनकर, अपनी श्रेष्ठ योग्यता, क्षमता, शक्ति के अनुरूप कार्य करना ही हमारा परम धर्म है। हमें अपने "स्व" का क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ाते रहना चाहिये। केवल मैं और मेरा परिवार ही मेरे नहीं हैं, बल्कि नगर मेरा है, प्रान्त मेरा है, देश मेरा है, समग्र विश्व ही मेरा है। "अशरफुल मखलूकात" से मेरा आत्मीयता का नाता है। विचार, मनन, चिन्तन, वाणी और कर्म से प्राणिमात्र के साथ अपनापन मानकर, प्रेमभाव से परिपूरित होकर, निस्वार्थ सेवा करना ऐसा सुख है जो योगियों को भी अलभ्य है। "सेवाधर्मोऽति गहनः योगिनामप्यगम्यः"। ऐसा उदारमना व्यक्ति सेवा का बदला नहीं चाहता है और शुद्ध अन्तःकरण होने के कारण अपनी भूलों से भी शिक्षा प्राप्त कर सुधरता ही है। शुद्ध अन्तःकरण ही तो आत्मबल का मूल कारण तथा स्वान्तः सुख का आधार है।

प्रत्येक स्थिति में श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ वाणी, श्रेष्ठ कर्म अथवा स्वधर्मपालन वस्तुतः स्वान्तः सुख अथवा आन्तरिक सुख के लिये ही है। स्वान्तः सुख अथवा मनस्तुष्टि ही उनकी श्रेष्ठता का मापदण्ड है। जिस मात्रा में मनुष्य में वास्तविक श्रेष्ठता आ जाती है, उसी अनुपात में उसका अन्तस्तोष गहन एवं स्थायी होता जाता है। संसार के लोग हमें बुरा कहें, मूर्ख अथवा पाखण्डी भी समझें, इससे हमारा सम्बन्ध नहीं है, न हमें उससे प्रभावित होना चाहिये। हम अपने आचरण के विषय में ही उत्तरदायी हैं, न कि दूसरों के। संसार को प्रभुमय अथवा आत्मीय मानने वाले विशाल-हृदय व्यक्ति के मानसपटल पर दूसरों का घृणा-पूर्ण, क्रोधपूर्ण व्यवहार देखकर भी कटुता की रेखा नहीं खिचती है। ऐसा

मानना भी कि कभी तो सत्य का पता लगेगा ही, कभी तो लोग हमारी सचाई को जानेंगे ही, एक भूल है। दूसरे लोग हमारी अच्छाई को जानें, हम इसकी आवश्यकता ही क्यों समझें? अच्छा आचरण तो स्वान्तः सुखाय होना चाहिये। "धन्यवाद" के द्वारा भी अपने अच्छे व्यवहार की प्रामाणिकता की अपेक्षा दूसरों से क्यों करें? धन, कीर्ति, यश, पदोन्नति एवं पुरस्कार के लिये तथा दूसरों की प्रसन्नता के लिये ही काम करने वाला व्यक्ति गलत काम, अभद्र कार्य भी कर बैठेगा। मेरे विषय में दूसरों का क्या मत है, इससे मेरा सम्बन्ध ही क्यों हो? दूसरों से अपनी अच्छाई का प्रमाणपत्र लेने की इच्छा तो मेरी दुर्बलता है। दूसरे लोग मेरे कर्म से प्रसन्न होंगे या अप्रसन्न, इससे मेरा सम्बन्ध ही क्यों हो? यदि धन्यवाद, पुरस्कार, प्रशंसा की आशा करने पर हमें उनकी प्राप्ति न हुई तो हृदय में निराशा, कटुता, घृणा, विरोधभावना उत्पन्न होंगी जो कि हमें कर्त्तव्य मार्ग से भ्रष्ट कर देंगे।

लोकरंजन का श्रेष्ठ मार्ग है उदात्त कर्त्तव्य पालन (अथवा कर्म सम्पादन अथवा स्वधर्म पालन) के द्वारा आत्मरंजन। वह मेरी कर्त्तव्य-परायणता का मापदण्ड है। कर्त्तव्य-पालन में ही मेरी सफलता एवं सार्थकता निहित है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता)। कर्त्तव्य-पालन ही मानव का अधिकार है, फल देना तो प्रभु के अधीन है। अतः फल से हमारा क्या सम्बन्ध है? फल की इच्छा से काम करने वाला व्यक्ति कभी भी पथच्युत हो सकता है और उसका मानसिक सन्तुलन भी बिगड़ सकता है। कर्म करते हुए, तज्जन्य आत्मसन्तोष को ही उसका श्रेष्ठ पुरस्कार मानकर, कर्म को प्रभु के लिये समर्पण करने वाला व्यक्ति सदैव शान्त एवं सुखी रहता है। जिस कर्म से व्यक्ति को वास्तविक शान्ति प्राप्त होती हो, जो कि क्षणिक भौतिक सुख से सर्वथा भिन्न है, उसी से विश्व का भी कल्याण होगा। पवित्र अन्तःकरण की वाणी के अनुसार निस्स्वार्थ कर्म-सम्पादन (अथवा स्वधर्म पालन) के द्वारा एक ओर स्वान्तः सुख उत्पन्न होता है, दूसरी ओर जन-कल्याण भी होता है मानो ये दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च। अपना सुख जगत् के कल्याण में ही निहित है परकल्याणकारी दर्शन-ग्रन्थ 'समय सार' के महान् रचयिता अमृतचन्द्रदेव ने भी ग्रन्थ के प्रारंभ में ग्रन्थरचना से "मम-परम विशुद्धिः" (मेरा ही पवित्रीकरण) कह कर अपना ही स्वार्थ बताया। महापुरुष नम्रता के कारण परहित को स्वहित ही कहते हैं, परहित में ही अपना सुख तथा अपनी विशुद्धता मानते हैं। क्षुद्र व्यक्ति परसेवा का ढिंढोरा पीटते हैं। यदि हम किसी के विचार या कर्म से सहमत नहीं हैं, तो भी उससे वैर भाव क्यों मान लें? यदि किसी की दुष्टता का बलपूर्वक प्रतिरोध करना पड़े तो भी क्रोध और घृणा का परित्याग कर, तथा कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर, ऐसा

करें। वीरता अपनाकर भी क्षमा भाव रखें, क्षमा वीर का शृंगार है। समाज में अन्याय एवं अत्याचार का सक्रिय प्रतिरोध करने वाला तथा सद्भाव एवं निःस्वार्थ सेवा भाव से ओतप्रोत होकर धरा को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति असीम सुख एवं शान्ति का लाभ प्राप्त करता है।

व्यक्तिगत बातों में सहनशीलता एवं क्षमाभाव अपनाकर कर्त्तव्यपालन अथवा स्वधर्म पालन करते रहने का उपदेश सभी महापुरुषों ने किया है। अब्राहम लिंकन ने कहा था, "यदि मैं दूसरों के द्वारा की हुई अपनी आलोचना जानने और उनका उत्तर देने का प्रयत्न करूं तो मैं अपने कर्त्तव्य मार्ग से ही दूर हट जाऊंगा। मैं अपनी ओर से श्रेष्ठ आचरण करता हूँ और अन्त तक ऐसा ही करता रहूंगा। यदि मैं अन्त में अच्छा सिद्ध हुआ तो मेरी आलोचना निष्फल हो जायेगी। यदि मैं अच्छा सिद्ध न हुआ तो दस फरिश्ते भी मेरी अच्छाई सिद्ध न कर सकेंगे।" लिंकन ने यह भी कहा था "किसी से व्यक्तिगत झगड़ा न करो। जो व्यक्ति महान् कार्य करने के लिए कृतनिश्चय है, उसे व्यक्तिगत झगड़ों के लिये अवकाश ही कहाँ है? काटने वाले कुत्ते को राह दे दो, उससे झगड़ा मोल लेकर काटे जाने से क्या लाभ?" सांड के साथ सीधा टकराना नासमझी है। उसका उपाय युक्तिपूर्वक करना चाहिये। 'रहिमन ओछे नरन ते तजहु बैर अरु प्रीत। काटे चाटे स्वान के दुहूं भांति विपरीत॥' मन में सभी के लिये प्रेम होते हुए भी अधम प्रकृति वाले मनुष्य से संबंध न्यूनतम रखना व्यावहारिकता है। "जो हम से द्वेष करता है अथवा जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको हम आप (प्रभु) के न्याय एवं सामर्थ्य पर छोड़ते हैं।" 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।'

वास्तव में समाज को प्रभु का ही विराट् रूप मानने वाला महानुभाव भय एवं घृणा को छोड़कर, प्रेमसिक्त होकर, श्रेष्ठ आचरण के द्वारा स्वान्तः सुख के अर्जन से अपने को कृतकृत्य मानता है। किसी निकृष्ट युक्ति से प्रचुरतम धन, पद एवं यश पाने पर यदि मानसिक शान्ति, चैन, नींद लुप्त हो जाये, तो समस्त भौतिक उपलब्धि तुच्छ ही नहीं वरन् विषाक्त एवं घृणित प्रतीत होगी। विवेकशील व्यक्ति बाह्य जगत् की उपलब्धियों से चकाचौंध नहीं होता है, न उनसे आकृष्ट अथवा प्रलुब्ध होता है। स्थिरमति वह अपने आन्तरिक विचार-जगत् एवं आन्तरिक जीवन का महत्त्व समझकर स्वस्थ चिन्तन, सात्विक वाणी एवं श्रेष्ठ कर्म के सम्पादन से स्वान्तः सुख की निधि पाकर कृतार्थ हो जाता है।

गौतम बुद्ध ने महानिर्वाण के समय अपने प्रमुख शिष्य आनन्द को अन्तिम उपदेश करते हुए कहा था—'अप्पदीपो भव', अर्थात् स्वयं अपना दीपक बनो, अपना गुरु तुम स्वयं ही बनो, अपना प्रकाश स्तम्भ एवं पथ-प्रदर्शक तुम

स्वयं ही हो। स्वान्तः (अपना अन्तःकरण) ही अपना श्रेष्ठ शिक्षक एवं प्रेरणा स्रोत है। इंगलैंड के राजा आर्थर ने भी सर बैडिवर से अन्तिम शिक्षा के समय यही उपदेश किया था। अपना स्वच्छ एवं सबल अन्तःकरण ही हमारा श्रेष्ठ मित्र एवं गुरु है।

अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर ही विराजमान परमज्योति का संदर्शन करें, भीतर ही हमारे सुख और शान्ति का भण्डार है, भीतर ही सब कुछ है। बाहर तो व्यवहार जगत् है। बाहर के धन, भोग और यश भीतर के प्रकाश की तुलना में हेय एवं तुच्छ हैं। बाहर सुख के लिये न भटक कर, बाहर केवल क्रियाकलाप करते हुए, भीतर ही अपने आपको, अपने गुरु को तथा अपने परमेश्वर को देखने का प्रयत्न करो। "घट ही खोजहु भाई"--नानक। अपने भीतर के विशाल जगत् को प्रकाशित बिना किये हुए आप बाहर भटकते ही रहेंगे। अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी जीवन में सामंजस्य होना चाहिये। जिसने स्वान्तः (अन्तःकरण) का समुचित मूल्यांकन कर, उसके अनुरूप आचरण करना प्रारम्भ कर दिया, उसके जीवन में सुख का उदय हो गया, जीवन एक सुख बन गया।

५

गुडाकेश

महापुरुषों को चारित्रिक उपलब्धियों की सम्मानसूचक उपाधियों से विभूषित करना आर्य संस्कृति की परम्परा रही है। गुणीजन के गुणों का समादर करने से समाज में गुणों की प्रस्थापना एवं वृद्धि होती है। रामायण तथा महाभारत में गुणप्रकाशक विशेषणों का प्राचुर्य है। व्यवहार में ऋजुता (सीधापन, स्पष्टता) होने के कारण तृतीय पाण्डव का नाम "अर्जुन" हुआ और उसे "गुडाकेश" आदि अनेक उपाधियां भी प्राप्त हुईं। "गुडाकेश" का अर्थ है निद्राजित्, गुडाका (निद्रा) को जीतने वाला। यह मन तथा इन्द्रियों पर विजय पाकर ही संभव होता है।

निद्रा पर आंशिक विजय नेपोलियन ने भी प्राप्त की थी। वह युद्ध काल में कई दिनों तक अश्वारूढ़ रहते हुए, अश्वपृष्ठ पर ही चलते-चलते सो लेता था। नेपोलियन ध्यान की एकाग्रता के कारण एक ही समय में कई व्यक्तियों की बातें सुन लेता था। ऐसी ही किंवदंती हैदर अली सुल्तान के सम्बन्ध में भी है। आजकल अंतरिक्ष यात्रियों को किसी भी समय आदेश पाते ही सो जाने का अभ्यास कराया जाता है। किन्तु यह निद्रा पर आँशिक विजय ही है।

निद्रा का कारण क्या है? मनुष्य के शरीर में शारीरिक एवं मानसिक श्रम करने से एक विषैला तत्त्व उत्पन्न हो जाता है जो थकान के रूप में शरीर एवं मन को कुछ समय के लिये शिथिल एवं मन्द कर देता है। यह तत्त्व मद्य (एलकोहल) की भाँति शरीर के लिये विजातीय एवं वर्ज्य होता है और उसकी भाँति ही शरीर में तब तक हलचल उत्पन्न करता रहता है जब तक कि वह धीरे-धीरे निकल नहीं जाता है अथवा विलीन नहीं हो जाता है। प्रगाढ़ निद्रा के द्वारा इस विषाक्त, त्याज्य पदार्थ का शमन श्रेष्ठ प्रकार से होता है। उसकी मादकता के प्रभाव से निद्रा आ जाती है। शारीरिक थकान तथा मानसिक

थकान प्रायः एक दूसरे को उग्र कर देते हैं। एक प्रकार की थकान होने पर दूसरे प्रकार का थकान भी परिलक्षित होने लगता है और कुछ समय के पश्चात् रक्त-प्रवाह के द्वारा इस विषैले पदार्थ के समस्त देह में फैल जाने के कारण मनुष्य को पूर्ण थकान घेर लेती है। जो लोग प्रायः काम को एक बोझ मानकर करते हैं और उसमें रुचि एवं रस का अनुभव नहीं करते हैं, वे शीघ्र थक जाते हैं। थकान के लक्षण मांस-पेशियों, जोड़ों, इन्द्रियों तथा स्नायुसंस्थान में प्रकट होकर मनुष्य की शक्ति को क्षीण कर देते हैं। अल्प थकान का उपाय कार्य परिवर्तन, शुद्ध वायु सेवन तथा अल्प विश्राम हो सकते हैं किन्तु अत्यधिक थकान का उपाय केवल निद्रा ही होती है। फ्रांस के डा० एम० जोवट (Jouvet) के मतानुसार निद्रा का संबंध एक यौगिक सिरोटोनिन (Serotonin) से है जिसके मस्तिष्क में बढ़ने से निद्रा और घटने से अनिद्रा की स्थिति उत्पन्न होती है। निद्रा मस्तिष्क की परिपक्वता और स्वस्थता में सहायक होती है। सामान्य व्यक्ति के लिये रात्रि में सात-आठ घण्टे सोना और यदि संभव हो तो दिन में भोजन के पश्चात् अल्प विश्राम करना परम आवश्यक है। निद्रा का विधान प्रकृति की विलक्षण देन है। किन्तु कभी-कभी मानसिक तनाव बढ़ जाने पर मनुष्य निद्रा द्वारा विश्राम भी नहीं ले पाता है और वह अवस्था परम दुःखप्रद होती है। तथापि, तनाव का श्रेष्ठ तात्कालिक उपाय भी निद्रा (तथा ध्यान का अभ्यास) ही है।

यदि यह संभव हो सके कि शारीरिक एवं मानसिक श्रम करने पर भी विषैला, त्याज्य पदार्थ नाममात्र के लिये ही उत्पन्न हो तथा थकान न्यूनतम हो तो निद्रा की आवश्यकता भी अत्यल्प रह जायेगी। यह उपलब्धि होने पर, यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति अथवा संकल्प-बल के द्वारा जब चाहे तब तथा जितने भी अल्प समय के लिये चाहे उतने ही समय तक, सो सके, वह निद्राजित् ही कहलायेगा।

यह जान लेना आवश्यक है कि मस्तिष्क ही शरीर पर शासन करता है और शारीरिक थकान की अपेक्षा मानसिक थकान कहीं अधिक बढ़कर होती है। मानसिक थकान का कारण वास्तव में चिन्तन अथवा मनन नहीं होता है बल्कि तनाव, भय, चिन्ता आदि विकार होते हैं। मस्तिष्क भी, हृदय की भाँति, बिना थकान हुए, जीवन भर निरन्तर अनन्त काम करता रहता है और केवल मनोविकार ही उनमें थकान के लक्षण तथा रोग उत्पन्न करते हैं। मनोविकार मानसिक एवं शारीरिक रोगों के रूप में फूट निकलते हैं। रोग-अध्येताओं के अनुसार मधुमेह (डाइबेटीज़), उदर में व्रण (अल्सर), रक्तचाप, सिरदर्द (विशेषतः माइग्रेन), संधिशोध (अर्थराइटिस), अनेक त्वचा विकार, अजीर्ण, क्षय, दमा आदि रोग अन्य कारणों के अतिरिक्त भावनात्मक दबाव (इमोशनल प्रेशर) के कारण भी

उत्पन्न हो जाते हैं। मानसिक तनाव मन के प्रच्छन्न विकारों के कारण उत्पन्न होता है तथा अनेक शारीरिक रोगों का कारण बन जाता है। ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, क्रोध, उत्तेजना, क्लेश, चिन्ता, भय, आतंक, निराशा, प्रमाद, ग्लानि आदि मनोविकार हैं। समस्त मनोविकारों का मूल कारण केवल मोह है। "मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला"। यदि मनुष्य भोजन से प्राप्त ऊर्जा को इन विकारों के द्वारा प्रनष्ट न करे तो उसे अत्यल्प भोजन ही पर्याप्त हो जाये। मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों को जिस मात्रा में निर्विकार कर लेगा तथा मनो निग्रह, इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा आत्म-विजय प्राप्त कर लेगा, उसी मात्रा में वह निद्रा को भी जीत सकता है। रामायण में वर्णित है कि लक्ष्मण भी अप्रतिम रूप से निद्राजित् थे।

महात्मा गांधी भी इच्छानुसार सो सकते थे। वे जब भी और जितने समय के लिये भी आवश्यक समझते थे, तभी तथा उतने समय के लिये, कुछ सैकिंडों में ही सो जाते थे। प्रसिद्ध अँग्रेजी लेखक सी० ई० एम० जोड ने गांधी जी के संबंध में लिखा है, "यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि गांधी क्षण भर में ही सोचे हुए समय के लिये इच्छानुसार सो सकते हैं। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि वे भोजन बिना परिवर्तन किये हुये ही जान-बूझ कर शरीर-भार को बढ़ा अथवा घटा सकते हैं"। इस ख्यात लेख में जोड महाशय ने चिन्तारहित चिन्तन का मूल रहस्य मोह-त्याग ही बताया है।

जोड महाशय प्रश्न करते हैं, मानव जाति की कौन सी विशेषता उसे पशु जगत् से भिन्न करती है? कोई उत्तर देंगे—नेकी, आत्मबलिदान, नैतिक साहस। अरस्तु ने उत्तर दिया था— तर्क। वास्तव में चिन्तन मानव की विशेषता है, मानव का विशेषाधिकार है। चिन्तन का सार है साभिप्राय चिन्तन (अथवा अपेक्षित दिशा में सोद्देश्य चिन्तन)। साभिप्राय चिन्तन का सार है तर्क (अथवा तर्कसंगत चिन्तन जिसका अर्थ है समुपस्थित समस्या का हल ढूँढने के लिये तर्क के द्वारा मानसिक खोज करना और एक निष्कर्ष पर पहुँचना)। तर्क (अथवा तर्कसंगत चिन्तन) का सार है वस्तुपरकता अथवा बाह्यपदार्थपरकता। तर्कपूर्ण, वस्तुपरकचिन्तन का अर्थ है वस्तुस्थिति का निष्पक्ष यथातथ्य अध्ययन (अर्थात् निर्णय लेने में इच्छा, आशा आदि से ऊपर उठकर वस्तुस्थिति का अध्ययन)। वस्तुपरक चिन्तन का सार है तटस्थता (अथवा उस विषय तथा वस्तुओं के प्रति अपने से पृथक्ता का भाव जिनका हम अध्ययन कर रहे हैं)। किन्तु हमें स्वीकार करना पड़ता है कि केवल वस्तुओं के प्रति तटस्थता होनी ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि बड़े-बड़े चिन्तक एवं दार्शनिक तुच्छ बातों पर ही बौखला उठते है तथा भड़क जाते हैं। अतः अन्त में हमें कहना चाहिये कि तटस्थता का सार न केवल बाह्य पदार्थों के प्रति तटस्थता है बल्कि उसी प्रकार से अपने

प्रति भी तटस्थता अथवा आत्मविरक्ति (अर्थात् मोह-त्याग कर अपने व्यक्तिगत प्रलोभनों, आशाओं और इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं आदि के प्रति भी तटस्थता) है। अपने व्यक्तिगत प्रलोभनों, आशाओं और इच्छाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं से ऊपर उठने के लिये आत्मविजय पाना परमावश्यक है। इस प्रकार जोड महाशय की व्याख्या के अनुसार, आत्मविरक्ति अथवा आत्मविजय ही मानव की प्रमुख विशिष्टता है। यदि कोई आत्मविरक्त अथवा आत्मविजयी व्यक्ति अपने जीवन की शक्तियों का उपयोग सत्य पर आधारित सिद्धान्तों के लिये करता है तो वह एक श्रेष्ठ मानव है। ऐसे मानवरत्न को मानव की श्रेष्ठ निधि "आत्म बल" सुलभ हो जाती है। आत्मबल अथवा नैतिक बल के आधार पर वह अद्भुत चमत्कार कर दिखाता है। ऐसा महामानव अपने शरीर, इन्द्रियग्राम और मन को पूर्ण शासन में रखता है तथा ऐसा आत्मविजयी मानव-पुंगव निद्राजित् होता है। अतएव गुडाकेश होना सरल नहीं है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को "गुडाकेश" उपाधि प्रदान कर विशिष्ट सम्मान दिया। मोहशून्य, निर्लेप व्यक्ति शान्ति एवं सुख का अधिकारी होता है।

मोह-त्याग की महिमा अद्भुत है। मोह ही भय एवं दुःख का प्रधान कारण है तथा मोह-त्याग से असीम प्रच्छन्न बल आविर्भूत हो जाता है। मोह एक मिथ्या भ्रम है। यह शरीर की ममता से प्रारम्भ होता है। हम कुटुम्ब, जाति आदि के प्रति संकीर्ण ममत्व स्थापित कर धीरे-धीरे संकीर्ण होते जाते हैं। दूसरों की मूल्यवान् वस्तुओं के नष्ट होने पर, दूसरों के कुटुम्ब में मृत्यु होने पर हमें दुःख नहीं होता है; किन्तु अपनी साधारण वस्तु के नष्ट होने पर ही अथवा अपने कुटुम्ब में साधारण क्षति होने पर हमें दुःख, आघात का अनुभव होता है क्योंकि उनमें हमारा ममत्व होता है। दुःख का कारण वस्तुनाश अथवा देह-नाश नहीं है बल्कि हमारा मोह है। मोह से ही आशंका, चिन्ता और भय उत्पन्न होते हैं, मोह के कारण ही स्वकीय, परकीय का संकीर्ण भेद तथा घृणा और क्रोध उत्पन्न होते हैं जिनसे मन असन्तुलित हो जाता है। मोह से कर्म की प्रेरणा लेना अथवा मोह के कारण कर्म करना स्वस्थ नहीं हो सकता है। कर्त्तव्य भावना से ही कर्म की प्रेरणा लेना उचित होता है। अहंकार शून्य प्रभुभक्त जो जीवमात्र में ईश्वर का दर्शन करता है तथा अन्तर्प्रेरणा के आधार पर ही कर्म करता है, पाप-पुण्य, दुःख-सुख आदि द्वंद्वों से मुक्त रहता है। मोह के स्थान पर स्वस्थ प्रेम रखने से अभय-भाव का उदय होता है। प्रेम एक गुण है तथा मोह दोष है। प्रेम एक प्रकाश है, मोह अंधकार है। प्रेम का अर्थ है उदारता, सेवा, और त्याग। मोह का अर्थ है संकीर्णता, स्वार्थ और भोगलिप्सा। प्रेम सात्विक है, मोह तामसिक। मनुष्य में अमरत्व तथा मृत्यु दोनों ही स्थित हैं किन्तु मोह से मृत्यु और सत्य से अमरता प्राप्त होती है।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।। (महाभारत) ।

सच तो यह है कि "अहंभाव" के विकृत होने पर तथा उस विकृति को पुष्ट करते रहने पर मोह बढ़ता चला जाता है। "अहंभाव" से ही ममत्व उत्पन्न होता है। धन-सम्पत्ति, सत्ता, यश आदि को अपना मानकर तथा उनके लिये सिद्धान्त एवं सत्य का मार्ग छोड़कर भी लड़ते रहने से हम अपने "अहं" के मिथ्या रूप को पुष्ट करते रहते हैं। इसी कारण लोग छोटी-छोटी बातों में प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं, न कि सिद्धान्त का प्रश्न। "अहं" का मोह से गहरा सम्बन्ध है। यों कहिये कि मोह का मूल कारण "अहं" ही है। किसी के अपशब्द सुनकर हमारे विकृत "अहं" को ही चोट लगती है और हम क्रुद्ध हो जाते हैं। घृणा एवं क्रोध का उदय अहंभाव की टकराहट से ही होता है। "अहं" को उदात्त करने से मोह छूटता है तथा जीवन स्वच्छ एवं स्वस्थ हो जाता है। अपने "अहंभाव" को विनश्वर धन, सम्पति, सत्ता, पद, यश के आधार पर विकसित न करके, सत्य और प्रेम के आधार पर पुष्पित एवं पल्लवित करना चाहिये। तभी हम व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, इच्छा, आशा और निराशा से ऊपर उठकर मानवता के उदार सिद्धान्तों के लिये जीना और मरना सीख सकते हैं और तभी हमें जीवन का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्
काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः। गीता ५-२३

जो मनुष्य शरीरनाश से पूर्व जीवनकाल में ही काम तथा क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है, अर्थात् जिसने काम तथा क्रोध को जीत लिया है, वह इस संसार में योगी है तथा वही सुखी है। काम और क्रोध का मूल अहंकार है, काम (इच्छा) और क्रोध पर विजय पाना सुख प्राप्ति का रहस्य है।

जीवनमुक्त उसको कहते हैं जो जीवन काल में ही मुक्त हो जाता है, अहंभाव और कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। मोटर कार को न्यूटरल गीयर (neutral gear) में डालने पर मशीन तो चलती है किन्तु आगे पीछे नहीं हटती। जीवनमुक्त सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता है, अलिप्त रहता है। यही समरसता, समता अथवा समभाव है।

हम जीवन-पथ के पथिक हैं। कोई व्यक्ति न धन-सम्पत्ति लेकर जन्म लेता है, न उन्हें साथ लेकर कोई मरता है। कहै कबीर अंतकी बारी, हाथ झारि कै चले जुआरी। स्वामित्व की भावना से मोह उत्पन्न होता है किन्तु स्वामित्व तो एक मिथ्या भ्रम है। यदि शरीर भी मेरी अपनी निधि नहीं है और छूट जाना है तो अन्य वस्तुओं एवं व्यक्तियों में ममत्व तो नितान्त निराधार है। मैं तो आत्मा ही हूँ किन्तु शरीर के नाते लोक व्यवहार करना

जीवन यात्रा की सम्पन्नता के लिये आवश्यक होता है। भगवान् की प्रार्थना करने से तथा आदर्शों को प्रेरणास्रोत मानने से मोह शीघ्र छूटता है। परिवार आदि के प्रति अपना कर्त्तव्यपालन अवश्य करना चाहिए किन्तु मोह त्याग कर ही। मोह-त्याग का अर्थ यह नहीं है कि हमें व्यक्ति और वस्तु प्रिय न लगें। अप्रियता होना भी द्वेष है। प्रियता मोह से भिन्न है। प्रियता होते हुए भी, रुचि होते हुए भी, हम मोह से ऊपर उठ सकते हैं।

हम कर्म के समय पुरुषार्थ करें और फलप्राप्ति के समय सन्तोष धारण करें। पुरुषार्थ और सन्तोष का समन्वय होना श्रेयस्कर है। मिथ्या दंभ के आधार पर कृत्रिमता अपनाकर झूठे स्तर पर जीवनयापन करना क्लेशकारक ही सिद्ध होता है। उदारभाव से मानवमात्र को अपनाने तथा परमात्मा की कृपा पर दृढ़ विश्वास करने से असीम शांति और संबल प्राप्त होते हैं। नाव में बैठने पर सिर के ऊपर से गठरी उतारकर अलग रख देना चाहिये। प्रभु-कृपारूपी नौका में बैठने पर चिन्ता की गठरी अलग रख देना ही हितकर है। हमें वस्तुओं एवं व्यक्तियों का त्याग नहीं करना है, उनके प्रति मोह का झूठा नाता छोड़ना है। प्रेम एक स्वस्थ भाव है किन्तु मोह अस्वस्थ भावुकता है और त्याज्य है।

हमारा यह निरन्तर प्रयत्न होना चाहिये कि जिस प्रकार चलते हुए रहट के सभी डोल क्रम से नीचे उतरकर जलपूरित होते रहते हैं, हमारे जीवन का प्रत्येक पल भी गहन आतमस्तर पर आनन्दपूरित होता रहे और हम अन्तस्तल में शांत एवं आनन्दित होते हुए बहिर्जगत् में क्रियाकलाप करना सीखें। जीवन तो भीतर है। हमें मोहरहित होकर अनासक्त भाव से लोक व्यवहार एवं कार्यकलाप इस प्रकार करना चाहिये कि मन पर उसका न्यूनतम प्रभाव पड़े। भीतर का जीवन प्रमुख है तथा बाह्य क्रियाकलाप गौण है। मन के स्वच्छ होने पर बाह्य क्रियाकलाप भी अच्छा हो जाता है।

जयेत् आदौ स्वकं मनः (मुण्डकोपनिषद्)। सब से प्रथम अपने मन को जीतना चाहिये। मन को जीतने पर ही इन्द्रियों को जीता जा सकता है। मन को समझाकर धीरे-धीरे जीतने के बजाय बरबस इन्द्रिय निग्रह करना हानिकारक होता है। इन्द्रियों में रसना का विशेष महत्व है। जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ। मनुष्य का उत्थान और पतन जिह्वा (स्वाद और वाणी) के अधीन है। सुलेमान स्वाद को जीतकर ज्ञानी बना था। महात्मा गांधी ने स्वादजय को एक व्रत माना था। स्वादजयी ही कामजयी हो सकता है। स्वादरत तथा कामलीलारत व्यक्ति जीवन में कोई उपलब्धि नहीं कर सकता है। स्वाद एवं काम की एक सीमा होनी चाहिये। मन पर निग्रह करने के लिये एवं मन को मोह-विमुक्त करने के लिये अवचेतन मन की सहायता लेना आवश्यक है। अवचेतन मन

कभी नहीं सोता है। हमारा चेतन मन जिन विचारों को अपनाकर प्रतिपादित करता है, वे गहरे, अवचेतन मन में, उतर कर हमारे अंग बन जाते हैं और प्रबल होकर भविष्य में हमें प्रभावित करने लगते हैं। पहिले चेतन मन में स्वास्थ्य, आत्मविश्वास, उदारता, क्षमा, प्रेम, प्रसन्नता आदि के भावों की स्थापना करनी चाहिये जिससे कि धीरे-धीरे अवचेतन मन उन्हें स्वीकार कर ले। मन को स्वच्छ एवं शक्तिशाली बनाने के लिए भूल जाना और क्षमा करना अमोघ अस्त्र है। पुराने अपमान और क्लेश का बोझ मन को कमजोर और दुःखी कर देता है। विगत जीवन के अपमानों और दुःखों की स्मृति जीवन को बोझिल बना देती है तथा इससे प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। जीवन की रक्षा के लिये, प्रगति के लिये मानसिक पवित्रता नितान्त आवश्यक है। विगत अपमानों और दुःखों का निरन्तर स्मरण करने से न हम जी सकते हैं, न दायित्वों का निर्वाह कर सकते हैं। हँसकर उन्हें भूल जायें और जीवन के साथ समझौता कर लें तथा क्षमा से मन को निर्मल कर लें। ज्योंहि यह प्रतीत हो कि दोनों पैर उखड़ रहे हैं और प्रवाह बहाकर ले जा सकता है, विवेकशील व्यक्ति पीछे हट जाता है। ज्योंहि यह प्रतीत हो कि आवेशनदी हमें प्रवाहित कर रही है, हमारा तुरन्त पीछे हट जाना ही संयम कहलाता है। हमें सहज क्षमा को स्वभाव बना लेना चाहिये। कृत्रिम क्षमा निष्प्रभाव होती है। सच्ची क्षमा हृदय को निर्मल एवं सशक्त बना देती है तथा व्यक्तित्व को चमका देती है। स्मृति की पुरानी कटुताओं को चेतन मानस पटल पर लाकर क्षमाभाव द्वारा शमित कर देना चाहिये। क्षमा उत्तम प्रतिशोध होता है। न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्। समयो रक्षितव्यस्तु संतश्चारित्र-भूषणाः (वाल्मीकि रामायण)। श्रेष्ठ जन बुराई के बदले में बुराई नहीं करते हैं। सदाचार की रक्षा करनी चाहिये। सन्तों का आभूषण उनका सदाचरण होता है। प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत करने के लिये और जीवन में स्वस्थता तथा प्रसन्नता की ओर बढ़ने के लिये, विध्वंसात्मक एवं निषेधात्मक विचारों को छोड़कर, रचनात्मक विचारों पर आस्थासहित मनन करना चाहिये। मन को स्वच्छ, पवित्र बनाने से वह स्वस्थ एवं शक्तिशाली होता है। हमें कल्पनाएं भी अच्छी दिशा में ही करनी चाहियें। सात्विकता से साहस एवं प्रसन्नता का उदय होता है। हमारे चेतन मन में विविध प्रकार के भले तथा बुरे विचार आते रहते हैं। हम अपनी छांट के द्वारा उनमें से अच्छे विचारों को अपनाते रहने का प्रयत्न करते रहें। बुरे विचारों का भी बरबस दमन न करें बल्कि धीरे-धीरे भले विचारों की सहायता से उनका शमन करते रहें। मन के साथ मैत्रीभाव रखने से ही उसका निग्रह सम्भव होता है।

वर्तमान काल के विचार एवं संस्कार ही भविष्य का निर्माण करते हैं।

यदि भविष्य को सुखमय बनाना है, यदि वृद्धावस्था में शान्ति से जीवनयापन करना है, तो वर्तमान के विचार और कर्म को अच्छा बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। पुस्तकों से भी अधिक बढ़कर संगति का प्रभाव पड़ता है। घर में अच्छे व्यक्तियों के चित्र भी शान्ति प्रदान करते हैं। धनात्मक (पाजिटिव), अच्छे विचारों को प्रोत्साहन देना चाहिये। कुछ भी, अच्छे अथवा बुरे, विचार नष्ट नहीं होते हैं। हमारे प्रत्येक विचार, शब्द और कर्म, बीज हैं जिनका भविष्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि कुत्सित विचार बार-बार आयें तो हम उनके साथ सहयोग न करें। स्वागत न होने पर धीरे-धीरे वे अवांछित अतिथियों की भाँति आना बन्द कर देंगे। उनसे घबराने या टकराने की आवश्यकता नहीं है। प्रभुभक्त तो कुविचारों को भी प्रभु को समर्पित कर देता है। "भले, बुरे हम तेरे।" ईश्वर की भावमय प्रार्थना न केवल प्रारब्ध को बदल देती है, प्रत्युत् मन को भी निर्विकार कर देती है।

संयम के अभ्यास में हमें कभी किसी से कुछ न मांगने का व्रत लेना चाहिये। हम कर्त्तव्य पालन के द्वारा पदोच्चता के अधिकारी तो बनें और तदर्थ उचित प्रयत्न भी करें किन्तु याचक कदापि न बनें। मनुष्य दीन बनकर मानवता का घोर अपमान करता है तथा आत्मपतन कर लेता है। याचकवृत्ति आने पर मनुष्य में निष्क्रियता एवं निकृष्टता आ जाती है तथा स्वाभिमान छूटने पर मनुष्य घृणास्पद हो जाता है। सहायता मांगना और सहायता देना तो मानवीय है किन्तु दीन होकर याचना करना अधमता है। सहज मिलै सो दूध सम, माँगा मिलै सो पानी। कहै कबीर वह रक्त सम जामें ऐंचातानी। याचक में मरणकाल के चिह्न प्रकट हो जाते हैं--कंपन, मलिन मुख, दीन वचन, अस्पष्ट स्वर। वेपथुर्मलिनं वक्त्रं दीना वाग्गद्‌गदः स्वरः। मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके। अभीप्सित पद अथवा वस्तु न मिलने पर भी न दुःख मानें और न शिकायत करते घूमें। प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहना श्रेयस्कर है।

परनिन्दा से बचें। समाज के दोषों का ढोल बजाकर तथा व्यक्तियों पर कीचड़ उछालकर हम समाज में गन्दगी ही फैलाते हैं और किसी का सुधार नहीं कर सकते हैं। यदि समाज में सुधार करना चाहते हैं तो आत्म-सुधार से प्रारम्भ करें। आत्म सुधार करना मानो वृक्ष की जड़ को सींचना है तथा समाज-सुधार में लगे रहना मानो शाखाओं को सींचना है। नीतिज्ञ, नियतिज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ और ब्रह्मज्ञ होना सुलभ है; किन्तु अपने अज्ञान को जानने वाले, स्वदोष दर्शन करने वाले विरले ही होते हैं। नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः। ब्रह्मज्ञा अपि लभ्याः स्वाज्ञान ज्ञानिनो विरलाः॥ अपनी सच्चरित्रता का उदाहरण प्रस्तुत करना ही जनसुधार का श्रेष्ठ उपाय है। छिद्रान्वेषण से आप

अपने व्यक्तित्व के खोखलेपन का ढिंढोरा स्वयं पीट रहे हैं तथा समाज में कटुता और अपने मन में विष के बीज बो रहे हैं। दोषदृष्टि अपनाने से समाज में व्यर्थ संघर्ष और अपने मन में कटुता एवं अशान्ति उत्पन्न होंगे। "स्वयं अपने लिये अथवा किसी अन्य के लिये, क्रोध अथवा भय दिखा कर दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाला असत्य वचन, हमें न स्वयं बोलना चाहिये, न दूसरों से बुलवाना चाहिये।" (दशवैकालिक)। परपीड़ा सम नहीं अधमाई। किसी की निन्दा करना अथवा परनिन्दा को प्रोत्साहन देना त्याज्य है।

कुछ लोग यश प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मान कर भटक जाते हैं। यश की इच्छा से प्रेरित मनुष्य के कर्म सात्त्विक नहीं रह सकते हैं। वह यश के कुचक्र में फंस कर यश के अवसर ही ढूंढता रहता है। जीवन का लक्ष्य सुख प्राप्ति भी नहीं है। जीवन का उद्देश्य है पूर्णता का प्रयत्न, आदर्शों के अनुरूप विकास करना। सुख परछाईं अथवा वफादार कुत्ते की भांति पीछे-पीछे आता है। सुख को लक्ष्य मान कर सुख के पीछे चलने से सुख हमसे दूर भागता है, परछाईं की भाँति पकड़ में नहीं आता है। स्वधर्मपालन से सुख स्वयं पीछे भागता हुआ आता है। सुख की इच्छा त्यागने से सुख मिलता है।

अमेरिका आदि कुछ देशों में कईं संस्थाओं के द्वारा मानसिक नियंत्रण (mind control) की दीक्षा दी जा रही है। प्रभु का छोटा सा प्राणी भी मानवता की असीम सेवा कर सकता है। समाज की वस्तुस्थिति से उत्तेजित हो जाने के बजाय मानव समाज का अत्यधिक सुधार कर सकता है किन्तु वास्तव में आत्म-सुधार ही समाज-सुधार की आधारशिला है। धारणा बना लो (१) मेरी बढ़ती हुई मानसिक शक्तियां समाज की अधिक अच्छी सेवा करने के लिये ही हैं। (२) प्रतिदिन मैं प्रत्येक प्रकार से अधिक अच्छा ही अच्छा होता जा रहा हूं, कल की अपेक्षा आज अधिक अच्छा हूं। (३) मेरे रचनात्मक, धनात्मक (पाजिटिव) एवं स्वस्थ विचार मुझे प्रत्येक प्रकार से लाभ दे रहे हैं। किसी प्राणी के लिये मुझे दुर्भावना नहीं रखनी है। (४) अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं शक्तियों पर मेरा पूर्ण नियंत्रण है। मस्तिष्क एक प्रयोग-शाला है। मेरा अपने मस्तिष्क के प्रत्येक स्तर पर पूर्ण नियंत्रण है। (५) मुझे दूसरे लोगों के स्वास्थ्य एवं सुख के लिये प्रार्थना करनी चाहिये, यत्न भी करना चाहिये।

पश्चिमी जगत् में चिकित्सकों ने आध्यात्मिक शक्ति से रोगहरण (स्प्रिचुअल हीलिंग) की महत्ता को स्वीकार किया है। अस्पतालों में भी रोगी चिकित्सा के साथ इस दिव्य चिकित्सा का सहारा लेने लगे हैं। आध्यात्मिक अथवा दिव्य शक्तियों से युक्त कोई मनुष्य माध्यम (मीडियम) बन कर अपनी अतीन्द्रिय (साइकिक) शक्ति से रोग निवारण कर देता है। ऐसा आध्यात्मिक व्यक्ति प्रभु-प्रार्थना का

आश्रय लेता है क्योंकि ईश्वरीय शक्ति ही कल्पनातीत कार्य कर सकती है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध आध्यात्मिक चिकित्सक हैरी एडवर्ड्‌स की पुस्तक 'द एविडेन्स फार स्प्रिट हीलिंग' में सहस्रों ऐसे रोगों के निवारण के प्रमाण अंकित हैं जिन्हें चिकित्सकों ने घातक अथवा असाध्य घोषित किया था। अनेक रोगियों के रोग दूर से ही, बिना भेंट किये हुए ही, दूर किये गये। जे० बर्नाड हटन ने भी अपनी पुस्तक 'हीलिंग हैन्ड्‌स' में ब्रिटेन के आध्यात्मिक चिकित्सक जार्ज चैपमैन के द्वारा सहस्रों रोगियों के असाध्य रोगों के निवारण की विशद चर्चा की है। जहां बौद्धिक शक्तियां और वैज्ञानिक सहायता निष्फल हो जाती हैं वहां आत्मिक शक्तियां सफल हो जाती हैं। आत्मा सचमुच ही शरीर और बुद्धि से परे एक भिन्न तत्त्व है जो दिव्य है। आत्मा का भोजन प्रार्थना है। सभी आत्मिक चिकित्सकों का अभिमत है कि प्रभु के भरोसे पर चिन्ता एवं भय का त्याग करना आवश्यक है। ईश्वर भक्त सन्तों की चमत्कारिक ढंग से रोग निवारण करने की घटनाएं होती रहती हैं। सन्त सब देशों में, सब जातियों में, सब धर्मों में होते हैं तथा सन्तभाव का विद्वत्ता से कोई संबंध नहीं होता है। प्रायः सन्त मंत्र (नामजप) का सहारा लेते हैं। मंत्र शक्ति के साथ खेल नहीं होना चाहिए। मंत्र शक्ति का उपयोग लघु स्वार्थों की पूर्ति वा निकृष्ट इच्छाओं की तृप्ति अथवा धनादि भौतिक वस्तुओं के उपचय तथा लोक-प्रदर्शन द्वारा अहंकार तुष्टि के लिये अथवा व्यर्थ ही नहीं करना चाहिये तथा यशादि की इच्छा छोड़कर केवल परोपकार के लिये अथवा आध्यात्मिक प्रगति के लिये करना चाहिये। मंत्र शक्ति गुरु अथवा सिद्ध पुरुषों के प्रति श्रद्धा तथा ईश्वर शक्ति के विश्वास पर ही आधृत होती है।

मन की शक्तियों का स्रोत मनुष्य की आत्मा है जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ एवं सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का अंश है। मन की शक्तियां अपार, अनन्त एवं विचित्र हैं। मन की बेतार (वायरलैस) शक्ति विविध तरंगदैर्घ्य (वेवलेंग्थ) पर समाचार प्रसारित करती है तथा ग्रहण भी करती है। मन की रेडार शक्ति दूरस्थ व्यक्तियों एवं वस्तुओं का दर्शन कर लेती है तथा रूप को प्रसारित भी कर सकती है। मन के तारों के छोर (टरमिनस) जुड़ते ही तुरन्त समाचार पहुंच जाते हैं। ये अद्‌भुत बेतार के तार हैं। मन की शक्तियां दिक्काल (स्पेस, टाइम) पर विजय पा लेती हैं। मानसिक शक्ति के सहारे असाध्य रोग ठीक किये जा सकते हैं और अकल्पनीय कार्य अद्‌भुत ढंग से सम्पादित किये जा सकते हैं। मानव ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से बौद्धिक शक्तियों (विचार, तर्क इत्यादि) से चमत्कृत है किन्तु अभी मन की प्रच्छन्न गहराइयों से अनभिज्ञ है। मनुष्य प्रार्थना, ध्यान आदि के द्वारा प्रभु से सच्चा नाता जोड़कर तथा पवित्र विचार एवं कर्म (प्रेम, क्षमा, सेवा पर आधारित

कर्म) करते हुए मानसिक शक्तियों को जाग्रत एवं विकसित कर सकता है। मन में प्रभु की झलक दीख सकती है मनुष्य की आत्मा में विश्व की समस्त घटनायें ऐसे प्रतिबिम्बित होती हैं जैसे एक जल बिन्दु में समस्त आकाश के नक्षत्रगण। योगी के लिये विश्व करबदरसदृश हो जाता है।

मन की उन्नति ही मनुष्य की सच्ची उन्नति है। कर्म भी मन की उन्नति का एक साधन है। मन की उन्नति के लिये, मस्तिष्क के संबल के लिये, वैज्ञानिक नई औषधियों (स्मृति बढ़ाने के लिये साइलर्ट इत्यादि) की खोज कर रहे हैं किन्तु वास्तव में मौन, ध्यान, आध्यात्मिक साधना से बढ़कर अन्यत् कुछ नहीं है। वैज्ञानिकों के अनुसार मानवशरीर की कोशिकाओं के भीतर दो मूलभूत रासायनिक जैविक तत्व हैं—डियोक्साई रिबोन्युक्लीक एसिड (डी०एन०ए) तथा रिबोन्युक्लीक एसिड (आर०एन०ए)। मनुष्य के मस्तिष्क की कोशिकाओं में उसकी चिन्तन शक्ति, स्मरण शक्ति, सीखने की शक्ति को प्रभावित करने वाली अत्यन्त सूक्ष्म आर०एन०ए० रासायनिक क्रिया होती है। (आर०एन०ए के इंजेक्शन से परम दुर्बल एवं विकृत मस्तिष्क भी स्वस्थ हो जाते हैं)। जिस प्रकार नवीनतम औषधियों (साइलर्ट आदि) के प्रयोग से आर०एन०ए० एंज़ाइम तेजी से बनकर स्मरणशक्ति को कई गुना बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार से मौन, ध्यान एवं आध्यात्मिक साधना भी मस्तिष्क को सबल बना देते हैं। ध्यान से शरीर के कण कण में विद्युत आवेश को जगाकर रोगाणुओं को निकाला जा सकता है। रागद्वेषमुक्त, अहंकारमुक्त व्यक्ति ही आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र बनकर विद्युत-चुम्बकीय एवं आध्यात्मिक बल द्वारा अनेक चमत्कार कर सकता है।

ध्यान की सरल पद्धति अपनाकर हम मन को बलवान् एवं शान्त बना सकते हैं। केवल परमात्मा की कृपा से ही हम दीन-दुखी जन की सेवा कर सकते हैं। एक मनुष्य संसार के किसी भी सुदूर कोने में स्थित दूसरे मनुष्य की सेवा सद्भाव एवं प्रार्थना के द्वारा कर सकता है। अपने को भाग्य अथवा कर्मफल के पाश में बंधा हुआ समझकर विवश मानने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता है। जैसी भी परिस्थितियां हों, उनमें सुखपूर्वक रहना सीखना चाहिये। सुख देने से सुख मिलता है। हमें जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलना होगा।

मौन तथा ध्यान विचारों को स्वच्छ, स्पष्ट एवं सबल बनाने में सहायक होते हैं। हम दिन भर दूसरों के साथ रहकर दूसरों की बातें सुनते हैं तथा दूसरों के विषय में बातचीत करते रहते हैं। किन्तु कभी-कभी एकान्त में बैठकर हमें कुछ समय अपने साथ बिताना चाहिये तथा अपनी भी बातें सुननी चाहियें और अपने को सुधारने का संकल्प एवं प्रयत्न करना चाहिये। हमने

जो अपराध किये हों तथा जो कुछ भी कटु अनुभव हुए हों, हानि अथवा अपमान हुए हों, उन्हें बरबस भूलने का अथवा उनकी स्मृति को दबा देने का प्रयत्न कुण्ठा उत्पन्न कर सकता है। जो कुछ भी हुआ हो, उसे स्मरण कर उसके साथ समझौता, समायोजन करना, उसका मानसिक समाधान करना (मन को क्षमादान आदि से संतुष्ट करना) कटुस्मृति के शमन का श्रेष्ठ उपाय है।

समस्त प्राणियों के लिये, जीवमात्र के लिये, मंगलकामना करने से, सब के लिये सद्भावना करने से, मन पवित्र एवं बलवान् होता है, संकीर्णता से ऊपर उठता है, व्यापक होता है तथा विश्व के साथ एकाकार हो जाता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सभी जीव सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी का कल्याण हो, कोई दुखी न रहे—यह लोकमंगलकारी भावना मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाती है।

मनुष्य प्रकृति से अधम, मध्यम और उत्तम होते हैं। अधम व्यक्ति तो सब को कष्ट ही देते हैं, स्वार्थरत रहते हैं। वे स्वयं सजधज कर रहते है तथा दूसरों को सुखपूर्वक जीने नहीं देते हैं। उनके मानवदेह में मानो विष भरा रहता है। विषरस भरा कनकघट जैसे। उनका स्वभाव बर्र की भांति होता है। पर अकाज लगि तनु परिहरहीं, जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं। यह निकृष्ट वृत्ति है। मध्यम व्यक्ति कठोर होकर भी सत्कार्य करते हैं। हृदय प्रीति मुख वचन कठोरा। उनका स्वभाव मधुमक्खी की भांति होता है जो डंक तो मारती है किन्तु मधुसंचय भी करती है। उत्तमजन (सन्त) समाज के लिये सब प्रकार से उपयोगी होते हैं। उनका स्वरूप और स्वभाव गौ की भांति होता है। गौ जीवन में तथा मरने पर भी दधीचि की भांति परोपकारी रहती है। सन्तजन का जीवन समाज के लिए होता है तथा उनमें कहीं स्वार्थ नहीं होता है। संत सरलचित जगत हित॥ साधुचरित सुभ चरित कपासू, निरस विसद गुनमय फल जासू। जो सहि दुःख परछिद्र दुरावा, वंदनीय जेहि जग जस पावा। एक ओर ओला है जो खेती को गलाने के लिए अपने शरीर को गला देता है तथा दूसरी ओर कपास है जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों का तन ढक देता है। आत्मसंयमी ही परोपकाररत हो सकता है। सन्त पारस मणि से बढ़कर होता है। पारस में अरु सन्त में, बहुत अन्तरो जान। वह लोहा कंचन करै, यह करै आप समान॥

अतीत के बन्धनों से मुक्त होने का उपाय उनका शमन है। अतीत पैर में बंधी हुई चक्की की भाँति बाधक होता है, अतएव उसके साथ मैत्री करना,

परमावश्यक है । अतीत के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके ही हम उसके बुरे प्रभाव से मुक्त हो सकते हैं। अतीत से छूटने के लिये रोने अथवा दूसरों के समक्ष अपराध स्वीकृति कर लेने की अपेक्षा भी कहीं अधिक अच्छा ढंग पुरानी घटनाओं को नये, स्वस्थ दृष्टिकोण से देख कर उन्हें समझ लेना तथा उनके साथ सामञ्जस्य स्थापित कर लेना है । मनुष्य से भूल होना स्वाभाविक ही है तथा दूसरों को क्षमा करसे से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपने को क्षमा कर देना है । जो व्यक्ति अपने को क्षमा नहीं कर सकता है, वह दूसरों को भी क्षमा नहीं कर सकता है। क्षमा दैवी गुण होता है । क्षमा ईश्वर का स्वरूप है, ईश्वर की ही विभूति है (गीता १०-३४) । जो क्षमा नहीं करता, यदि क्षमा करना संभव है, वह निर्दय है, अधम है । क्षमा उत्तम पुरुष का गुण है । क्षमा मनुष्य को महान् एवं धन्य बना देती है ।

भूल करना मानवीय है। संसार में किस मनुष्य ने जाने-अनजाने भूल नहीं की है ? क्या भूल करने वाले व्यक्ति के लिए जीवन में कोई रास्ता ही नहीं रहा ? यदि मनुष्य अपनी भूलों का स्मरण ही करता रहे तो वह उनके बोझ से दब कर मर जायेगा । भूलों की निरन्तर स्मृति उसका दमघोट देगी । अपराध भावना (गिल्ट सेन्स) बनी रहने से मनुष्य अपने गुणों को भी दोष समझने लगता है, अपने को दीन-हीन मानने से निकम्मा हो जाता है, उसका आत्म विश्वास लुप्त हो जाता है, जीवनी शक्ति का शोषण होने लगता है, वह दूसरों पर भी सन्देह करने लगता है तथा ऋणात्मक (नेगेटिव) विचार उसे भ्रमित एवं भ्रष्ट कर सकते हैं । अतः अपराध भावना से मुक्ति प्रथम आवश्यकता है। पश्चात्ताप करने से मन में भूल के संस्कार मिट जाते हैं, दग्ध हो जाते हैं । विवेकपूर्ण एवं सरल पश्चात्ताप मन को स्वच्छ कर देता है। सात्विक पश्चात्ताप एक स्वयं-प्रदत्त दण्ड है जो बाह्य दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। बाह्य दण्ड मनुष्य की अपराध वृत्ति को द्विगुणित कर सकता है। (यदि बाह्य दण्ड देना आवश्यक हो तो किसी नैतिक प्रक्रिया से उसे मानसिक पश्चात्ताप कराना चाहिये जिससे कि दण्ड प्रायश्चित बन जाये) । प्रायश्चित के अतिरिक्त भूल से मुक्त होने के लिये प्रार्थना अमोघ उपाय है । जब मनुष्य अपने को क्षमा नहीं कर पाता है तथा समाज भी उसे क्षमा नहीं करता है, प्रभु उसे भी क्षमा कर देते हैं । प्रभु का द्वार सबके लिये सदैव खुला हुआ है । प्रभु को हृदय से पुकारने से उसकी कृपा मिल जाती है । ग्वाला अपनी सब गायों को छोड़कर एक भटकी हुई गाय को ढूँढ लाने के लिये आतुर रहता है । प्रार्थना के द्वारा मन नितांत निर्मल हो जाता है । प्रार्थना मनुष्य को प्रभु के समीप ला देती है और प्रभु की दिव्यता मनुष्य का रूपान्तर कर देती है, उसे उदात्त एवं दिव्य बना देती

है। यदि ईश्वर क्षमाशील न होकर केवल कठोर न्यायकर्ता ही हो तो वह एक यंत्र मात्र है; दिव्य नहीं है। प्रभु प्रेम और क्षमा का अगाध समुद्र हैं। भक्तिभाव से लिये हुए प्रभु के नाम की पाप हरण करने की जितनी क्षमता है, घोर पापी उतना पाप कर भी नहीं सकता है। नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः। तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः (विष्णु पुराण)। प्रार्थना से मन के विकार धुल जाते हैं और मनुष्य दिव्य हो जाता है। वाल्मीकि डाकू से ऋषि एवं महाकवि बन गये। भावपूर्ण शब्द प्रार्थना बन जाते हैं। ज्ञानाग्नि निश्चित ही पापभावना को भस्म कर सकती है तथा भक्ति-जल उसे धोकर मन को पवित्र बना सकता है। जैसे घर के द्वार खोलते ही सूर्य तम को ध्वस्त कर देता है, मन को प्रभु की ओर उन्मुख करते ही प्रभु का प्रकाश मन को पवित्र बना देता है, मनुष्य को निष्कलुष एवं निष्पाप बना देता है। अपि चेत् सुदुराचारो भजते मां अनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वत् शांति निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ गीता ९।३०,३१ अर्थात् पापी भी प्रभु को प्राप्त करके पुण्यात्मा हो जाता है। यह प्रभु की अलौकिक दिव्यता के कारण संभव हो जाता है। सम्मुख होइ जीव मोहि जबहीं, जन्म-कोटि अघनासहिं तबहीं। ईश्वर के सन्मुख होने पर कर्मफल दग्ध हो जाता है। जिस प्रकार रोगीजन का रोग औषधि से दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापीजन का पाप भी पुण्यकर्मों से नष्ट हो जाता है। भेषजेन यथा व्याधि-रपगच्छति रोगिणः। पुण्येनापि तथा मन्ये पापं नश्यति पापिनः (पुरुषपरीक्षा)। शिव संकल्प एवं धनात्मक विचारों का उदय होने पर अशिव संकल्प एवं ऋणात्मक विचारों का शमन हो जाता है और व्यक्ति का व्यक्तित्व ही बदल जाता है।

जीवन को उत्कृष्ट एवं सुखमय बनाने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये तथा इसके लिये पूर्ण प्रयास करना चाहिये। हम दुःखी क्यों रहें? सुखी बनने का निश्चय करके हम अवश्य सुखी बन सकते हैं। जीवन की सार्थकता अपूर्ण से पूर्ण की ओर, नश्वरता से अमरता की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होने में तथा आत्मा को निर्बन्ध करने में है। गुडाकेश अर्थात् इन्द्रियजित् एवम् मोहमुक्त होना इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये महत्त्वपूर्ण पग हैं। मोहमुक्त व्यक्ति जीवन की गहराइयों को देख और समझ सकता है तथा उसके जीवन में सुख का सहज समावेश हो जाता है।

६

राम की विनयशीलता

जीवन में विविध कार्यों के सम्पादन के लिये विविध प्रकार की शक्तियों के उपचय की आवश्यकता होती है, किन्तु उनके उपयोग का कोई सुदूरसंस्थित आदर्शात्मक उद्देश्य भी होना चाहिये। दुष्ट प्रकृति के लोग परपीड़न में ही सुख का अनुभव करते हैं तथा सत्पुरुष अपनी पूरी शक्तियों को जुटाकर परहित करने में अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं। यही आशय एक श्लोक में भी व्यक्त हुआ है।

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

खल पुरुष विद्या को विवाद के लिये, धन को मद के लिये, बल को परपीड़न के लिये प्रयुक्त करता है। सत्पुरुष, इसके विपरीत, विद्या को ज्ञान संवर्द्धन के लिये, धन को दान देने के लिये तथा बल को पर-रक्षण के लिये उपयुक्त करता है।

समाज व्यवस्था के हित में दण्ड के द्वारा दमन की आवश्यकता होती है और एतदर्थ शक्ति का उपयोग करना एक कर्त्तव्य हो जाता है। महाभारत में राजदण्ड की महिमा का गान करते हुए भीष्म कहते हैं, 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥' अर्थात् दण्ड प्रजाओं पर शासन करता है, प्रजाओं की रक्षा करता है तथा जब सब सोते हैं, दण्ड जागता है (दण्ड के भय से दुष्ट अपनी दुष्टता से रुकते हैं और सामान्य जन सुख पूर्वक सो सकते हैं)। अतएव विद्वज्जन दण्ड को ही धर्म कहते हैं। राजदण्ड राजधर्म का अङ्ग होता है अथवा वह राजधर्म का ही एक स्वरूप है। दण्ड-विधान के अभाव में समाज में अराजकता, अव्यवस्था, पाशविकता, उद्दण्डता, अपराध वृत्ति एवं हिंसा व्यापक हो जाते हैं। भीष्म कहते हैं कि यदि समाज में दण्ड का विधान न हो तो प्रजा विनष्ट हो जायेगी तथा बलवान्

बलहीन को ऐसे ही खा जायेंगे जैसे बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है। दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विवश्येयुरिमा प्रजाः। जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ यदि शासक पराक्रमशील न हो तथा दण्ड न दे सके तो सत्ता उसे छोड़कर चली जाती है और वह अपमानित हो कर निन्दा का पात्र बन जाता है। आवश्यकता होने पर साहसपूर्वक दण्ड देना व्यवस्था के हित में होता है। दण्ड का भय दुष्टों को सीमा के भीतर बांध कर रखता है। दण्ड प्रकृति का विधान है। पशुजगत् में बन्दर और बिल्ली भी अपने बच्चों को पंजे से मारकर समझाने का प्रयत्न करते हैं। "दण्डो दमयतामस्मि" (गीता)। उचित दमन करने वालों के दण्ड में भी प्रभु का निवास है। दण्ड हेतु बलप्रयोग, अन्त में विवश होने पर तथा अन्य सभ्य साधन विफल होने पर ही किया जाना चाहिये। दण्ड अपराध के अनुरूप, उपयुक्त, यथेष्ट तथा समीचीन होना चाहिये।

दण्ड देने वाले सत्ताधारी व्यक्ति के लिये मन को शान्त रखते हुए, सोद्देश्य क्रोध प्रदर्शन अथवा अभिनय करना भी आवश्यक हो जाता है। "अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।" सत्तावान् मनुष्य को अवसर आने पर सत्ता के अधिरक्षण के लिये अमर्ष अथवा रोष का आभास कराना अत्यावश्यक होता है। आदर्शों पर चलने वाले व्यक्ति के, विशेषतः तेजस्वी प्रशासक होने पर, अकारण अथवा द्वेषवश विरोध करने वाले मनुष्यों की संख्या बढ़ जाती है किन्तु वे उससे स्वयं ही भयभीत रहते हैं। भाण कहता है--- यस्यामित्रा न बहवो, यस्मान्नो द्विजते जनः। यं समेत्य न निन्दति स पार्थ पुरुषाधमः ॥ अर्थात् जिसके अनेक (दुष्टगण) शत्रु न हों, जिससे अनेक (दुष्ट गण) भयभीत न हों, एकत्र होकर (दुष्टगण) जिसकी निन्दा न करते हों, वह (सिद्धान्तवादी सत्ताधारी) मनुष्य तो निकृष्ट (तेजहीन) है। प्रशासक के द्वारा कठोर होकर दुष्टता दमन करने पर दुष्टगण का समूहों में एकत्रित होकर उसके विरुद्ध षड़यन्त्र रचना और भयभीत रह कर चुपचाप अनर्गल प्रचार करना स्वाभाविक ही है। दुष्टगण का भयभीत होना सत्ताधारी की तेजस्विता एवं अमर्ष को प्रमाणित करता है। साधारणजन अमर्षशून्य व्यक्ति की अवहेलना करने लगते हैं और शत्रु उसका न तो आदर करते हैं, न उसका भय ही मानते हैं। "ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः" अर्थात् मनुष्य प्रज्वलित अग्नि को नहीं लांघ सकता है, वह भस्म के ढेर को ही लांघ देता है। तेजस्वी व्यक्ति का अपमान कौन करे? सत्ता की प्रतिष्ठा के संदर्भ में दण्ड और कोप के प्रदर्शन का विशेष महत्त्व है।

कोप और क्षमा का सन्तुलन तराजू के दो पलड़ों की भांति ठीक रहना चाहिये क्योंकि व्यवहार जगत् में किसी एक का भी अतिरेक होना समाज हित

की घोर हानि कर सकता है। प्रचण्ड कोप तथा अतिशय क्षमा वर्ज्य है। वेदव्यास का वचन है--न श्रेयः सततं तेजो, न नित्यं श्रेयसी क्षमा। अर्थात् न सदैव कोप करना अच्छा है और न सदैव क्षमादान ही। लोकव्यवहार में उचित अवसर आने पर ही क्षमा करना चाहिये। केवल आध्यात्मिक अभ्यास करने वाले सन्त के लिये सदैव क्षमा करना सर्वथा समुचित एवं शोभनीय है। आध्यात्मिक सन्त करुणा-स्वरूप होता है तथा उसके लिये क्षमा की कोई मर्यादा एवं सीमा नहीं होती है। उसकी महानता क्षमा के अतिरेक में निहित होती है तथा उसकी क्षमा दण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होती है। किन्तु राम तो मर्यादापुरुषोत्तम शासक थे और वे लोक के समक्ष दण्ड एवं क्षमा की मर्यादा का आदर्श प्रस्तुत कर रहे थे।

कर्मपथ से भागनेवाला व्यक्ति जीवन में भटक जाता है। कर्म से पलायन कायरता है। संसार सागर तैर जाने के लिये है। भाग कर मनुष्य कहाँ जाये? स्वधर्म पहिचानना और उसका पालन करना कर्तव्य है। राज्य सत्ता छोड़ कर तथा वन में जाकर तपस्या द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर महापुरुषों को समाज में पुनः आकर यही उपदेश करना पड़ा कि मोह त्याग ही सच्चा त्याग है तथा केवल बहिरंग वस्तु-त्याग निरर्थक है। राजा राम ने आज्ञापालन हेतु राजसिंहासन को तृणवत् मान कर उसे सहर्ष छोड़ दिया तथा मोह उनके मार्ग में बाधक न हो सका किन्तु उचित समय आने पर राम ने मोहरहित होकर राजसत्ता का संचालन भी किया। राजा के लिये राज संचालन करना कर्तव्य है, दायित्व-निर्वाह है, स्वधर्म पालन है। यदि सभी पलायन करेंगे, दायित्व छोड़ेंगे, तो समाज संचालन कौन करेगा? राम ने मोह से ऊपर उठकर राज्य का त्याग किया और आवश्यकता होने पर संचालन भी। राम ने लोक के समक्ष मर्यादा का आदर्श प्रस्तुत किया। जीवन के अनेक आयाम होते हैं। राम का जीवन सर्वांगीण है, एकांगी नहीं है। राम पूर्ण पुरुष हैं।

दण्ड और अमर्ष के पीछे दण्डयिता के मन में सद्भाव अवश्य होना चाहिये। प्रतिशोध की दुर्भावना को छोड़कर, पाप का प्रतिरोध करने की पवित्र भावना से प्रेरित होकर, दण्ड देना पुण्यकारक होता है। प्रतिशोध की भावना छोड़कर दण्ड देना धर्म सम्मत है। प्रतिशोध तथा दण्ड में भेद है। प्रतिशोध अनैतिक होता है, दण्ड नैतिक होता है।

शौर्य प्रदर्शन के पृष्ठ में आधारभूत सहज मार्दव एवं माधुर्य होने पर व्यक्तित्व में दीप्ति एवं आकर्षण उत्पन्न हो जाते हैं। केवलमात्र बल के लिए ही बलप्रयोग करना तो पशुतासूचक होता है तथा उसमें एक नीरसता अथवा नृशंसता की गंध आ जाती है। शौर्य की महिमा विनम्र भाव में निहित होती है। क्रोध और दृढ़ता में भेद है। दृढ़ता एवं कठोरता आवश्यक हो जाते हैं

किन्तु क्रोध सर्वदा त्याज्य होता है। यदि मनुष्य व्यक्तिगत रागद्वेष से ऊपर उठकर कर्तव्य भावना से प्रेरित हो रहा है, उसके लिये क्रोधरहित होकर दृढ़ होना नितान्त संभव है। कठोर पग उठाने पर भी हृदय मृदु एवं मधुर ही रहना चाहिये। राम जो युद्धकाल में वज्र से भी अधिक कठोर प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे अन्तस्तल में कुसुम की अपेक्षा भी अधिक सुकोमल हैं। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। कठोर पग उठाकर भी हृदय में कठोरता न आने देना तथा स्वभाव को मृदु एवं मधुर रखना चरित्र का चरमोत्कर्ष है। राम के वाम कर में धनुषबाण है किन्तु दक्षिण कर सदैव रक्षा का आशीर्वाद एवं आश्वासन देता है। "चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा"। चित्त में दया धारण कर कल्याण के हेतु ही समर में कठोरता अपनाई जाती है। कठोर परिस्थिति के समुपस्थित होने पर कठोर पग उठाते हुए भी कटुता का मधुर प्रत्युत्तर देना चारित्रिक महानता है। शूर व्यक्ति कभी क्रूर नहीं होता है।

राम विषम स्थिति देखकर पलायन नहीं करते हैं बल्कि उत्साहपूर्वक उसका डट कर सामना करते हैं। विनम्रता एवं शालीनता गुण हैं किन्तु उनका अर्थ कायरता कदापि नहीं होता है। राम पहिले समन्वय का प्रयत्न करते हैं और समन्वय के विफल होने पर बलपूर्वक दुष्टता का प्रतिरोध करते हैं। समुद्र के द्वारा अनुनय-विनय के तिरस्कृत होने पर ही राम ने उस पर शरसन्धान किया। हनुमान तथा अंगद के दौत्यकर्म के विफल होने पर तथा समन्वय की संभावना विलुप्त होने पर ही विवश होकर राम ने सैन्य सहित आततायी रावण का वध किया।

राम पराक्रमी हैं किन्तु उनके पराक्रम का सौन्दर्य उनकी निरभिमानता एवं विनयशीलता में निहित है। राम शक्ति, शील और सौन्दर्य के निधान हैं। शीलं परं भूषणम्। शील श्रेष्ठ आभूषण होता है। विद्या विनय से तथा बल शील से सुशोभित होते हैं। विद्या विनयेन शोभते। निर्भीकता नम्रता से ही सुशोभित होती है। राम अपने शौर्य एवं पराक्रम पर गर्व नहीं करते हैं और उसका कहीं बखान भी नहीं करते हैं। राम विचार एवं व्यवहार में मृदु हैं। जैसे कविकुल शिरोमणि तुलसी स्वयं उत्कृष्ट कवि होकर भी अपनी विनम्रता का परिचय देते हैं वैसे ही उनके उपास्य राम सर्वगुणसम्पन्न होकर भी परम विनयशील हैं। भौतिक स्तर पर अभावजन्य दीनता तो वास्तव में कायरता होती है, किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर मनोनिग्रहजन्य दीनता आन्तरिक दृढ़ता की परिचायक होती है। (तुलसी की विनयपत्रिका अनन्य भक्तिजन्य दैन्य की समुत्कृष्ट निधि है, करुणा रस की सुखद स्रोतस्विनी है, अहं के पूर्ण विलीनीकरण एवं उदात्तीकरण का ज्वलन्त उदाहरण है, आत्मसमर्पणजन्य भक्तिमय आत्मनिवेदन है, जिसमें अनन्त आह्लाद एवं शक्ति सन्निहित है। तुलसी चातक

की भाँति प्रभु से कुछ नहीं चाहते हैं, केवल भक्ति के दान की याचना करते हैं। सांसारिक वस्तु मांगने वाला व्यक्ति दीन होता है किन्तु जगन्नियन्ता के साथ आत्मसात् होने के प्रयत्न में अहं का विसर्जन करने वाला भक्त तेजोमय होता है, सबल एवं समर्थ होता है। तुलसी की विनयपूर्ण दीनता उनके आत्मबल, दृढ़ निष्ठा एवं महानता की द्योतक है। "जाहि न चाहिये कबहुं कछु तुम सन सहज सनेह" तुलसी के प्रेमका आदर्श है। प्रभु के प्रति दीन तुलसी आत्मा के धनी हैं। मनुष्य के प्रति दीन होना दीनता है, प्रभु के प्रति दीनता तो अहंकार विमुक्ति द्वारा संबलप्राप्ति है।) दीनता सन्तों का गुणप्रकर्ष होती है। दीनता (विनम्रता) का मुखौटा धारण करना सरल है किन्तु दीन होना कठिन है। आध्यात्मिक स्तर पर दीनता का अर्थ है निरभिमान होना, निरहंकार होना। तुलसीदास दीन थे। अपने संबंध में तुलसी कहते हैं--

> कवि न होऊँ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
> आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना॥
> भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा॥
> कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहऊं लिखि कागद कोरे॥

साधारणतः प्रभुता पाकर अथवा पराक्रम दिखाकर मनुष्यों में मदमत्तता आ जाती है और वे अपने गौरव का स्वयं बखान करने लगते हैं, किन्तु राम तो विनीत हैं।

विनम्र राम के विपरीत रावण स्वमुखप्रशंसा में दक्ष है। रावण अंगद से कहता है--

> सुनु सठ सोइ रावन बल सीला। हरगिरि जान जासु भुजलीला॥
> जान उमापति जासु सुराई। पूजेऊँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई॥
> सिर सरोज निज करहिं उतारी। पूजेऊँ अमित बार त्रिपुरारी॥
> भुज विक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह कें उरसाला॥
> जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरऊँ जाई बरिआई॥
> जिन्ह के दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे॥
> जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥
> सोई रावण जग विदित प्रतापी। सुनेहि न श्रवण अलीकप्रलापी॥

इसी प्रसंग में रावण आगे कहता है।

> कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
> मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेऊं चराचर झारि॥

> सठ साखामृग जोरि सहाई। बांधा सिंधु इहइ प्रभुताई॥
> नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होंहि ते सुनु सब कीसा॥

मम भुज सागर बल जल पूरा। जँह बूड़े बहु सुर नर सूरा।।
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा।।
दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। भूप सुजस खल मोहि सुनावा।।
जौ पै समर सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुन गाथा।।
तो बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।।
हर गिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू।।
सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस।।
जरत बिलोकेऊँ जबहि कपाला। विधि के लिखे अंक निजभाला।।
नर के कर आपन बध बांची। हंसेऊ जानि विधि गिरा असांची।।
सोऊ मन समुझि त्रास नहिं मोरे। लिखा विरंचि जरठ मति भोरे।।
आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।।

स्वमुख प्रशंसा मनुष्य की लघुता को सिद्ध करती है। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैः गुणैः। स्वयं प्रख्यापित गुणों से इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है। आत्मा न स्तोतव्यः। आत्मश्लाघा कदापि नहीं करनी चाहिये (जूलियस सीज़र भी आत्मप्रशंसा करने के लिये कुख्यात था)।

उग्र परशुराम के गर्वीले शब्दों को सुनकर आत्म परिचय देते हुये विनम्र राम कहते हैं--"राम मात्र लघुनाम हमारा, परशु सहित बड़ नाम तिहारा।"

युद्ध स्थल पर राम स्वयं ही नीति का वर्णन करते हुए तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन करते हैं जो कि क्रमशः गुलाब, आम और कटहल के समान होते हैं। एक (गुलाब) फूल देते हैं, एक (आम) फूल तथा फल दोनों ही देते हैं और एक (कटहल) में केवल फल ही लगते हैं। मनुष्यों में, एक कहते हैं (करते नहीं हैं), दूसरे कहते हैं और करते भी हैं तथा तीसरे, जो श्रेष्ठ हैं, केवल करते हैं किन्तु वाणी से कहते नहीं हैं। राम रावण से क्षमा मांगते हुए उसे समझाते हैं--

जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार मंह पुरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा।।
एक सुमन प्रद एक सुमन-फल एक फलइ केवल लागई।
एक कहहिं, कहहिं करहिं अपर, एक करहिं कहत न बागई।।

श्रेष्ठ पराक्रमी राम अपने पराक्रम का स्वयं वर्णन कभी नहीं करते हैं बल्कि अन्य जन के द्वारा प्रशंसा होने पर भी संकोच का ही अनुभव करते हैं।

राम के व्यवहारसौष्ठव का रहस्य उन के स्वभाव-माधुर्य में निहित है। राम शीलसिंधु हैं अतएव सौम्यदर्शन हैं। राम का स्वभाव सभी को सुख देता

है। राम की प्रशंसा उन के बैरी भी करते हैं। उनका बोलना, मिलना और विनय सब का मन हर लेते हैं। राम जब किसी से बोलते हैं, उनके मुखारविन्द से अमृत स्रवण होता है। राम जब किसी से मिलते हैं, उन के सौमनस्य, सौरस्य, सौन्दर्य, माधुर्य से सभी मुग्ध हो जाते हैं। राम जब विनयपूर्ण व्यवहार करते हैं, सभी उनके वशीभूत हो जाते हैं। "अत एव काम्यते"। राम से भेंट की कामना सभी के मन में रहती है तथा राम से सभी आकृष्ट होते हैं। राम अपने स्वभावगत गुणों के कारण सुख स्वरूप हैं, मंगल मोद निधान हैं।

पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहिं सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि विनय मन हरहीं॥

बलशाली राम शील संकोच के सिंधु हैं, उनका स्वभाव सरल है।

सील सकोच सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ॥

राम की माताएं भी उन्हें शालीनता एवं निरभिमानता का पाठ सिखाती हैं। वे कहती हैं कि यज्ञ-रक्षा के लिये धनुष उठाने वाले राम की सफलता का कारण तो मुनि कृपा है।

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम वचन सब माता॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि विधि तात ताड़का मारी॥
मारे निसाचर विकटभट समर गनहि नहि काहु।
मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु॥
मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥
मख रखवारी करि दुहुं भाई। गुरु प्रसाद सब विद्या पाई॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥
कमठ पीठि पबि कूट कठोरा। नृप समाज महुं सिवधनु तोरा॥
विस्व विजय जसु जानकि पाई। आये भवन व्याहि सब भाई॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥

परम बलवान् रावण का वध करने पर उसका श्रेय भी राम स्वयं नहीं लेते हैं। भालुओं एवं कपियों को इस महान् कार्य के सम्पादन का यश देते हुये राम उनसे कहते हैं--तुम्हरे बल मैं रावनु मार्‌यो। राम अपने को निमित्त-मात्र मानते हैं, अन्यथा बल तो मानो भालुओं एवं कपियों का ही था।

संग्राम विजय के पश्चात् पुष्पक विमान पर बैठकर जब राम अयोध्या लौट रहे हैं, वे जानकी से लक्ष्मण, हनुमान, अंगद आदि के शौर्य की प्रशंसा करते हैं किन्तु यह नहीं कहते हैं कि मैंने दैत्यराज रावण और कुम्भकरण का वध किया। उनके वध की चर्चा कर्मवाच्य में करते हुए, उसकी गौणता प्रदर्शित करते हैं तथा स्वयं उसका श्रेय नहीं लेते हैं।

कह रघुबीर देखु रन सीता । लछिमन इहाँ हत्यो इन्द्रजीता ।।
हनुमान अंगद के मारे । रन महि परे निसाचर भारे ।।
कुम्भकरन रावण द्वौ भाई । इहाँ हते सुर मुनि दुखदाई ।।

हाँ, इसके उपरान्त राम अपने एक कार्य की चर्चा सोल्लास करते हैं--वह है शिवलिङ्ग की स्थापना ।

इहाँ सेतु बांध्यों अरु थापेउँ सिव सुख धाम ।
सीता सहित कृपानिधि संभुहि कीन्ह प्रनाम ।।

अयोध्या में लौट आने पर राम ने सब सखाओं को बुलाकर उनसे वसिष्ठ मुनि की अर्चना कराई तथा उन्हें ही अपनी सफलता का यश देते हुए राम कहते हैं--

"गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे । इन्ह की कृपा दनुज रन मारे ।।"

उसी स्थल पर राम मुनि से कपियों की प्रशंसा करते हुए अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन करते हैं--

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कंह बेरे ।।
मम हित लागि जनम इन्ह हारे । भरतहु ते मोहि अधिक पियारे ।।

राम हनुमान जी से कहते हैं--

सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ।।
प्रति उपकार करऊँ का तोरा । सनमुख होई न सकत मन मोरा ।।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ कर विचार मन माहीं ।।

गीतावली में राम हनुमान से कहते हैं--

देवे को न कछू रिनियां हौं धनिक तु पत्र लिखाऊं

कृतज्ञता का गुण चरित्र को आकर्षक बना देता है । सत्पुरुष उपकार का विस्मरण नहीं करते हैं । न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।

राम "मानद अमानी" हैं । सबको मान देना तथा स्वयं अमानी रहना विनयमूर्ति राम की विशेषता है । अमानी जन की प्रशंसा करते हुए राम कहते हैं--

सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ।।

राम सत्ताधारी होकर अपने आश्रितजन को सदैव आदर देते हैं--

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान ।
तुलसी कहूं न राम से साहिब सील निधान ।।

राम वृक्षों की शाखाओं पर कूदने वाले कपियों को अपने समान बनाकर उनके साथ सखा-का-सा व्यवहार करते हैं । धन्य है पराक्रमी राम का शील तथा उनकी विनयशीलता !

रावण के वध के पश्चात् राम विभीषण को अपने शत्रु रावण की अन्त्येष्टि क्रिया संस्कार करने का आदेश देते हैं--"करहु क्रिया परिहरि सब सोका"। राम ने अन्याय के प्रतिरोध में तथा न्याय के समर्थन में पवित्र भाव से आततायीजन को उचित दण्ड तो दिया किन्तु न उनका अपमान किया और न उनका बुरा सोचा। अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। अंगद को दौत्यकर्म सौंपते हुए भी राम अपने परम शत्रु के हित का चिन्तन करते हैं "काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतही सोई"। राम रावण के राज्य को नहीं हड़प लेते, न रावण से व्यक्तिगत शत्रुता मानकर उससे घृणा ही करते हैं। राम सिद्धान्त एवं मर्यादा की रक्षा के लिये युद्ध करते हैं। उनमें दर्पजनित उद्दण्डता नहीं है।

धर्म का पुट आने पर राजनीति लोककल्याणकारिणी हो जाती है तथा इसके विपरीत जब धर्म राजनीति का घिनौना दास हो जाता है, राजमद के कारण समाज में त्राहि-त्राहि मच जाती है। राम लोकरंजन को ही आत्मरंजन मानते थे तथा राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर भी राम तो मानो तपस्या ही कर रहे थे। आत्मोत्सर्ग एवं त्याग का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करके भी राम परम विनम्र थे। धन्य है राम की विनयशीलता!

७

राम की संघर्षशीलता

साधारण जन सारे जीवन भर तुच्छ स्वार्थों एवं निरर्थक विवादों में ही फंसे रहकर अपनी शक्तियां नष्ट कर देते हैं और अन्त में कालकवलित होने पर वे लोक में सदा के लिये विस्मृत हो जाते हैं। उनके मरणोपरान्त उनकी कोई चर्चा नहीं होती, उनके लिये कोई गीत नहीं गाये जाते, उनका उल्लेख भी कहीं नहीं होता। बरसात की रात में असंख्य कीट-पतंग न जाने कहां से आकर पृथ्वी पर छा जाते हैं और प्रातःकाल सूर्योदय होते ही सब धराशायी होकर मिट्टी में मिलने पर पैरों से रौंद दिये जाते हैं। उनके जीवन में कभी कोई चमक नहीं आ पाती है। किन्तु इसके विपरीत, महापुरुष स्वार्थों से ऊपर उठकर तथा भौतिक सुख, पद, प्रतिष्ठा, सत्ता, यश, धन आदि के प्रलोभन से अछूते रहकर आदर्शों, सिद्धान्तों एवं मूल्यों के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर देते हैं और मानवता के लिये प्रकाशदीप बनकर सदा के लिये अमर हो जाते हैं।

इतिहास उनके नाम और यश को स्वर्णिम अक्षरों में सुरक्षित रखता है जो सदुद्देश्य के लिये संघर्ष करते हैं। इतिहास मानव-संघर्ष की ही कहानी है। जिस व्यक्ति के जीवन में संघर्ष नहीं है, उस में विशेषता ही क्या है? संघर्ष के बिना जीवन नीरस है। जय-पराजय से ऊपर उठकर सत्य और न्याय के लिए संघर्ष करने वाला व्यक्ति कुछ उपलब्धि प्राप्त कर लेता है। संघर्षशील जीवन रोचक होता है, संघर्ष में सौन्दर्य होता है। सीधे मैदान में चलते-चलते उकताहट एवं ऊब हो जाती है। ऊबड़-खाबड़ तथा ऊंचे-नीचे पहाड़ पर गिरकर और उठकर चलने का उल्लास अद्भुत होता है। विषमता को देखकर घबराने के बजाय उसके साथ सीधा टकराने से ही तो उस पर विजय पा सकते हैं। नदी की गति में बाधक पत्थर ही उस के प्रवाह में संगीत उत्पन्न करते हैं। सत्यनिष्ठा संघर्षशील व्यक्ति का कवच होता है। संघर्षशील

व्यक्ति ही दूसरों को प्रेरणा दे सकता है। सत्य और न्याय के लिये संघर्ष करने वाला व्यक्ति सुर तथा असत्य और अन्याय के लिये लड़ने वाला व्यक्ति असुर होता है। सत्य के लिये संघर्ष करना मानो ईश्वर का कार्य करना है। सत्य का समर्थन एवं असत्य का प्रतिरोध करना कर्मयोगी का पावन धर्म होता है। सत्य के लिए जीवित रहना, सत्य के लिए संघर्ष करना और सत्य के लिये प्राणोत्सर्ग करना सत्यसंध व्यक्ति का स्वभाव हो जाता है।

स्वार्थ-लोलुप व्यक्ति के लिये संघर्ष कष्टदायक होता है किन्तु आदर्शवान् महापुरुष के लिये आदर्शों एवं मूल्यों की प्रस्थापना हेतु संघर्ष करना सहज तथा सुखद होता है, भले ही उसे कठोर विषमता का सामना करना पड़ता है। महापुरुष अन्यजन के लिये प्रेरणास्रोत बन जाते हैं। राम का आचरण सब काल में अनुकरणीय है। राम के संघर्ष में कहीं अधीरता अथवा विक्षोभ नहीं है, राम सहज शान्त, धीर और गंभीर हैं।

राम समस्त जीवन भर सद्सिद्धान्तों एवं श्रेष्ठ मूल्यों के लिये संघर्ष करते रहे। युवा राम का तुच्छ स्वार्थ हो सकता था––राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर सत्ता की बागडोर संभाल लेना तथा वैभव एवं ऐश्वर्य में निमग्न हो जाना। किन्तु पिता ने माता कैकेयी को एक वचन दिया था और राम ने उसके पालन के द्वारा दोनों का ही मान करना अपना परम कर्त्तव्य समझा। यदि राम की दृष्टि राजसत्ता पर होती तो उन्हें कैकेयी पर रोष आता किन्तु राम ने कैकेयी को कभी भूल से भी दोष न दिया और उनका अत्यधिक सम्मान किया। कैकेयी के कारण दशरथ ने इच्छा के प्रतिकूल राम को वन-गमन का स्पष्ट अथवा अस्पष्ट आदेश दिया। कैकेयी के कारण अयोध्या में सब कुछ अस्तव्यस्त हो गया तथा राजा का परिवार भी बिखर गया। कैकेयी के कारण अयोध्या पर संकट के बादल मंडराने लगे किन्तु उदार राम ने कैकेयी को कभी भी विपत्तिमूल नहीं समझा। राम के मन में कैकेयी के प्रति अपार ममता एवं श्रद्धा थी। राम की त्याग-भावना और सहज उदारता ने कैकेयी के निष्ठुर एवं निष्करुण हृदय को अन्त में जीत ही लिया। यह घृणा पर प्रेम की, असत्य पर सत्य की, अंधकार पर प्रकाश की, संकीर्णता पर उदारता की विजय का अनूठा उदाहरण है। राम सदैव पूज्य जन का मान करते थे तथा दुष्ट जन को दण्ड देते थे। माता होने के कारण कैकेयी राम के लिये सदैव अर्चनीया ही रही।

राजतिलक के स्थान पर राज्य से निष्कासन तथा वनगमन होने को भी नवविवाहित एवं तरुण राम ने माता-पिता का आशीर्वाद ही समझा। आहूत-स्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च, न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोप्याकार विभ्रमः। सुमंत्र ने, राम को वन में छोड़कर अयोध्या लौटने पर, दशरथ से कहा––मैंने

श्रीराम के राजतिलक के लिये बुलाये जाने पर तथा उसी समय वनगमन की आज्ञा सुनने पर उनके आकार में जरा सा भी परिवर्तन नहीं देखा। राम ने राजतिलक और वनगमन की आज्ञा को समान रूप से देखा। यदि राम ने निर्वासन के विरुद्ध अभियान किया होता और अपने कर्त्तव्य को भूलकर अधिकार की दुहाई दी होती तथा हिंसात्मक पग उठाये होते तो राम राम न रहते तथा परिवार में कलह एवं अयोध्या में गृहयुद्ध हो जाते, मर्यादा टूट जाती और चारों ओर अशांति ही अशांति छा जाती। राम संकीर्ण न थे और सहज उदार थे। स्वार्थमय प्रलोभन उन्हें छू नहीं सकते थे। आस्थाएं और आदर्श उनके जीवन का अंग बन चुके थे। राम के लिये त्याग-भाव सहज ही था।

कैकेयी की कठोरता राम के लिए वरदान बन गई। राज्याभिषेक के शुभावसर पर विरस राग अलापने वाली तथा विषमता उत्पन्न करने वाली क्रूर एवं कपटी कैकेयी ने दशरथ पुत्र राम को पतितपावन राम बनने का अवसर दे दिया। कैकेयी ऐसी परिस्थिति का कारण बन गई जिसमें राम का चरित्र उज्ज्वल होकर चमक उठा, राम के व्यक्तित्व में निखार आ गया। वनवास ने राम के प्रच्छन्न गुणों को प्रस्फुटित कर दिया और राम जनोद्धारक, राक्षसहन्ता एवं ऋषिकुल रक्षक के रूप में एक नई भूमिका का निर्वाह करने लगे। अपार धैर्य, अदम्य साहस, अद्भुत शौर्य और उदात्त आचरण इत्यादि राम के गुण संघर्षकाल में पुष्पित एवं पल्लवित हो गये। राम ने वनवास के भीषण संकटकाल में अयोध्या से कोई सहायता न मांगी यद्यपि वहां उनके परम आज्ञाकारी अनुज भरत शासन चला रहे थे। राम ने स्वयं ही मित्रता आदि संबंध जोड़ कर सेना जुटाई, सेतु निर्माण किया, संग्राम संचालन किया तथा युद्ध किया। यह अद्भुत पराक्रम था, अनुपम संघर्ष था। यदि राम के जीवन से संघर्ष निकाल दें तो राम एक साधारण राजपुत्र रह जायेंगे। राम क्या हैं, यह देखने का अवसर कठिन परिस्थिति में ही हो सकता था। संघर्ष के द्वारा ही राम ने मानव जाति को आदर्श पालन, दृढ़ता, साहस, सदाचार, करुणा, औदार्य, परोपकार का अमर संदेश दिया। यदि हम राम को चमकाने का श्रेय कैकेयी को दें और संघर्ष को चरित्र की कसौटी कहें तो उपयुक्त ही होगा।

समाज में कुछ लोग सत्ता पाकर दूसरों को सताने में, उन्हें आतंकित एवं त्रस्त कर, उनके अधिकार छीनने में, सीधे-सच्चे लोगों के घर उजाड़कर उन्हें बरबाद कर देने में तथा अकारण ही दूसरों को पैरों के नीचे रौंदने में एक अनोखे सुख का अनुभव करते हैं। असज्जन शक्ति का दुरुपयोग ही करते हैं और उसमें उन्हें गर्व का आभास होता है। सत्पुरुष ऐसे दुष्टों को चुनौती देकर उनके साथ जूझ जाते हैं और जनहित में संघर्ष मोल ले लेते हैं। अन्याय

के आगे झुकना, अत्याचारी के सामने गिड़गिड़ाना अधमता है। अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्। अर्जुन की दो प्रतिज्ञा थीं--अन्यायी के सामने न दीनता दिखाना और न कायरता से भाग खड़े होना। संघर्ष करना, सत्य की रक्षा के लिये सतत् युद्ध करना सत्य के प्रहरी का पुनीत कर्त्तव्य है। कायर आत्मघात कर लेते हैं, अथवा मनोदाह को अन्तस्तल में छिपा कर मौन बैठ जाते हैं। किन्तु अत्याचार और अन्याय का प्रतिरोध करने से व्यक्तित्व में निखार आता है, प्रभावोत्पादकता बढ़ती है और असीम सुख एवं सुयश की प्राप्ति होती है। साहसी व्यक्ति दया की भिक्षा नहीं मांगता है, दृढ़ता से सच्चे अधिकार की मांग करता है और सत्य की प्रस्थापना के लिए संघर्ष करता है।

दैवी तथा आसुरी जनों में परस्पर युद्ध होना स्वाभाविक ही है। सत्य का प्रबल समर्थन करते हुए भी अनेक बार बीच-बीच में पराजय आती हुई दिखाई देती है किन्तु अन्ततोगत्वा दैवी शक्तियों की विजय तथा आसुरी शक्तियों की पराजय अवश्य होती है। सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्यनिष्ठ व्यक्ति किसी अत्याचारी से व्यक्तिगत वैर नहीं करता किन्तु वह उस की असत् वृत्तियों से एवं आसुरी शक्तियों से जन-हित के लिये अवश्य टकरा जाता है। सत्य के प्रति आस्था एवं निष्ठा से युक्त होकर असत्य के साथ लड़ने वाले व्यक्ति को परम सुख एवं अमर यश की प्राप्ति होती है। महापुरुष सत्ता के मद में चूर होकर दूसरों को सताने वाले, दूसरों को रौंदने वाले आततायियों को चुनौती देकर संकटपूर्ण संघर्ष मोल ले लेते हैं और इस जग में अमर यश के भाजन होते हैं। सत्य की रक्षा के लिये हृदय में अदम्य उत्साह उन्हें संघर्ष से पार कर देता है।

राम ने वन में जाकर अनेक दुष्टों का वध किया और ऋषि मुनियों की रक्षा की। राम ने राक्षस कुल नायक रावण को दल-बल सहित परास्त कर दिया। राम के पास कोई सेना न थी। वानर सेना तो निमित्त मात्र ही थी। राम के सत्य ने रावण के आसुरी बल को ध्वस्त कर दिया। राम सत्य के प्रतीक थे। राम की विजय सत्य की विजय हुई।

राम ने प्रजा के समक्ष भोग को ठुकरा कर त्याग एवं तपस्या को चुना। राम का अनुसरण कर सीता, लक्ष्मण, भरत, कौशल्या और प्रजाजन ने भी स्वार्थ एवं संकीर्णता को छोड़कर सेवा और परमार्थ का ही मार्ग अपनाया। एक राम ने अयोध्या की जनता को उदारता और त्याग का पाठ सिखाकर नयी दिशा दे दी। एक महापुरुष अपना ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत कर असंख्य जन को त्याग की राह दिखा देता है।

राम ने कैकेयी का ऐसा सम्मान किया कि कौशल्या, भरत, लक्ष्मण तथा

जनता को भी उसके प्रति आदर-सत्कार करना पड़ा। एक राम के मृदु व्यवहार ने परिवार एवं अयोध्यावासियों की कटुता को शान्त कर दिया। राम ने माता कैकेयी को प्रेम से जीत लिया और उनकी निष्कपटता ने उसे मुग्ध कर लिया।

कैकेयी ने प्रलोभनवश, मोहवश एक भूल की थी। राम ने माता को माता का ही पद देकर उसे अपनी ममता से अपना लिया। कैकेयी के हृदय को पश्चात्ताप की अग्नि ने शुद्ध कर दिया। कैकेयी के नेत्रों से अविरल अश्रुओं की गंगा-यमुना ही प्रवाहित होने लगी। राम ने उदारता से संकीर्णता को तथा त्यागवृत्ति से भोगवृत्ति को जीत लिया किन्तु दूसरी ओर वन में अत्याचारी रावण की चुनौती स्वीकार करके उसके साथ संघर्ष किया और उसे परास्त कर दिया। रामादिवत् व्यवहरितव्यं न रावणादिवत्। राम ने आदर्श प्रस्तुत किया है, अतएव रामादि आदर्शवान् महापुरुषों की भांति व्यवहार करना चाहिये, न कि रावणादिजन की भांति। विनयशील राम पूज्यों की पूजा करते थे, संघर्षशील राम दण्डनीय आततायियों को दण्ड देते थे। संघर्ष में सत्य की विजय हुई, असत्य की पराजय हुई। संघर्षशील राम ने सत्य की पताका को आकाश में ऊंचे फहरा दिया।

८

अत्याचार का प्रतिरोध

(जटायु का अमर बलिदान)

मानव की जीवनयात्रा में उसके पथ को आलोकित करने वाले तथा दिशा-निर्देशन करने वाले सच्चे दीपस्तम्भ उसके आदर्श एवं मूल्य होते हैं। उनके सतत अनुगमन एवं परिपालन से ही मानव को निःश्रेयस की उपलब्धि होती है। यदि जीवन में कहीं उचाट, उकताहट, ऊब, नीरसता अथवा विरसता सन्निविष्ट हो जाये और रिक्तता का सा अनुभव होने लगे तो हमें जान लेना चाहिये कि हम पथ से भटक गये हैं और लक्ष्य से विमुख हो गये हैं। भगवद्-दर्शन, जन-सेवा, ज्ञानार्जन, कलासिद्धि, अन्वेषण, अनुसंधान, सद्भाव-प्रसार इत्यादि किसी भी लक्ष्य को यथारुचि ग्रहण कर, जीवन में उसका अधिकतम समावेश करना मानो जीवन को सारमय बना देना है। अपने क्रियाकलाप का एक निश्चित उद्देश्य निर्धारित करना तथा उसकी पूर्ति का प्रयत्न करना जीवनयात्रा को सोद्देश्य, सफल एवं सार्थक बना देता है। सचमुच आदर्शों के बिना हमारा अस्तित्व ही एक दुःखद भार बन जाता है, जिसका वहन हमें मूक पशु की भाँति अन्त तक करना होता है।

आदर्शों के पालन में हमें अनेक कष्ट सहने होते हैं। भगवान् राम ने दुस्सह संकटों से ग्रस्त होकर भी आदर्शत्याग नहीं किया। महापुरुष संकटों से भयभीत नहीं होते हैं, वरन् वे स्वयं उन्हें आमंत्रित करते हैं तथा सहर्ष उनका आलिंगन करते हैं। कदाचित् ज्यों-ज्यों मनुष्य आदर्श पालन करते हुए संकटों में से गुजरता हुआ आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वह महान् होता जाता है तथा उसे गहन एवं स्थायी सुख की अनुभूति होने लगती है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण की एक सूक्ति है--न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति। कैसा अमर संदेश सन्निहित है इन थोड़े से शब्दों में! कल्याण (सेवा-परोपकार) के मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति कभी,

किसी काल में, दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है। परोपकाररत व्यक्ति का धवल यश अनन्त काल तक अमिट रहता है। जिसके जीने से अनेक लोग जीते हैं, जिसका जीवन दूसरों की जीवनरक्षा के लिये है, वही तो वास्तव में जीवित है। अपना पेट तो कौवा भी चोंच से भर लेता है। यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति, काकोऽपि किं न कुरुते चंच्वा स्वोदरपूरणम्। जब परोपकारी गृध्रराज जटायु प्राणोत्सर्ग कर रहा था, शुभदर्शन श्रीराम ने उससे कहा, "परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन्ह कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं"।

यदि अवसर पड़ने पर मनुष्य आदर्शों के अनुरूप आचरण न कर सके तथा उनकी मौखिक चर्चा ही करता रहे, तो उसे हम आदर्शवान् नहीं कह सकते हैं। आदर्श की सार्थकता उसके चिन्तनमात्र में नहीं, बल्कि उसके पालन में निहित है। यदि हम अन्याय और अत्याचार को कुत्सित मानते हैं, तो व्यावहारिक जगत् में कितनी बार हम सामने डटकर उसका प्रतिरोध करते हैं? समाज में पाप की वृद्धि का एक प्रमुख कारण यह भी है कि हममें बुराई को बुराई कहने का तथा उसे निर्मूल करने का साहस नहीं रह गया है। सच्चाई हमें बोलने, कुछ करने के लिये प्रेरित करती है किन्तु भयवश हम गूंगे हो जाते हैं, हृदय के पवित्र उद्गारों को बुद्धि तोड़-मरोड़ देती है। हमारी वाणी आत्मा के स्वरों में नहीं बोलती है। 'कोउ नृप होउ हमहि का हानि' की मनोवृत्ति व्यक्ति एवं समाज के लिये घातक सिद्ध होती है। कर्त्तव्य की उपेक्षा और कायरता चारित्रिक दोष हैं जिनकी भर्त्सना होनी चाहिये। सत्य को जान कर और कर्त्तव्य को पहिचान कर भी निष्क्रिय रहना कायरता है। व्यक्ति से घृणा न करते हुए भी हम बुराई का सबल प्रतिरोध कर सकते हैं। महात्मा गांधी कहते थे कि जिस मात्रा में हम बुराई का प्रतिरोध करेंगे, उसी मात्रा में हम निर्मल एवं सबल होते जायेंगे तथा परमात्मा के समीप होते जायेंगे। अन्याय के प्रति प्रबल असहमति एवं क्षोभ (रिसन्टमैन्ट) प्रकट करना धर्म-संगत होता है। हम आवश्यकता पड़ने पर मन को अक्रुद्ध, शान्त एवं सन्तुलित रखकर कर्त्तव्य स्वरूप दण्ड भी दे सकते हैं। सात्विक रोष पुण्यमय होता है, पुण्य की रक्षा करता है। आज हमारे सामने कोई घोर अन्याय हो रहा हो तो हम उसे देखा-अनदेखा करके, उपेक्षा भाव से, पलायन कर जाते हैं तथा डरते हैं कि कहीं हम पर ही आक्रमण न हो जाय। अनेक तथाकथित "सन्त" (जो निम्न पैशाचिक सिद्धियों तथा युक्तियों द्वारा अबोधजन को चमत्कृत कर देते हैं तथा स्वयं अवतार अथवा भगवान् बन जाते हैं) भी स्वार्थमय सुखोपभोग के कुचक्र में फंसकर आततायीजन की शोषणवृत्ति तथा कुटिलता की सराहना कर देते हैं। तुलसी ने कहा था—

सचिव वैद गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राजधर्म तन नीति कर, होई वेगहि नास ।।

वैद्यो गुरुश्च मंत्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा। शरीर धर्म कोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ।। अर्थात् जिस शासक के वैद्य, गुरु और मंत्री सदा "हां" में "हां" करते हों, शीघ्र ही उसके शरीर, धर्म और कोष क्षीण हो जाते हैं। भले व्यक्तियों की निस्तेजता बुराई को बढ़ा देती है तथा कालान्तर में भलाई बुराई से पराजित एवं अपमानित हो जाती है। अकारण ही अथवा भय से किसी की हां में हां करना अनुशासन नहीं होता है। स्वार्थरत व्यक्ति निर्भीक सम्मति नहीं दे सकते हैं। हां, सम्मति प्रदान के मूल में सद्भावना होना आवश्यक है। ऐसी विचित्र हमारे समाज की यह दशा हो गयी हैं, जिससे सर्वत्र तीव्रता से पाप पनप रहा है।

वीर जटायु ने सीता की रक्षा करने में प्राणदान देकर अन्यायप्रतिरोध का एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। रामचरितमानस में हम जहां भरत के भ्रातृ-प्रेम, सीता की पति-भक्ति, हनुमान की स्वामि-भक्ति और शबरी की प्रभु-भक्ति की प्रशंसा करते हैं, वहां जटायु का अत्याचार-प्रतिरोध भी उतना ही प्रशंसनीय हैं। सीता का करुण क्रन्दन सुनकर वृद्ध जटायु ने प्राणों की बाजी लगा दी और बलपूर्वक सीता को ले जाने वाले क्रूर रावण को चुनौती दे दी। नृशंस मलेक्ष के हाथ में पड़ी हुई कपिला गाय की भांति सीताजी असहाय दशा में घोर विलाप कर रही थीं। जटायु ने यह देखते ही सीता को साहस बंधाते हुए कहा, "हे पुत्रि सीते, भय मत कर, मैं अभी इस राक्षस का नाश कर दूंगा"। फिर जटायु रावण की ओर इस प्रकार बलपूर्वक झपटा मानो पर्वतों की ओर वज्र छूटता हो, तथा उसने रावण को ललकार कहा, "रे दुष्ट, खड़ा क्यों नहीं होता? क्या तूने मुझे नहीं देखा है?" कृतान्त के समान भीषण जटायु को आगे बढ़ता हुआ देखकर रावण मन में विविध अनुमान करने लगा और बोला, "अरे! यह तो बूढ़ा जटायु है जो मेरे कररूपी तीर्थ में अपने प्राण छोड़ना चाहता है"।

जटायु युद्ध करने से पूर्व रावण को कुमार्ग त्याग कर सन्मार्ग पर आने का सदुपदेश देना चाहता था। अतः वह बोला, "हे रावण, देवी जानकी को छोड़ दे, और कुशलपूर्वक घर चला जा, अन्यथा तुझे सपरिवार अति घोर रामरोष-पावक में शलभ की भाँति जल जाना होगा"। रावण के द्वारा इस चेतावनी की अवहेलना किये जाने पर जटायु ने साहस-पूर्वक दौरात्म्यपूर्ण रावण को बाल पकड़कर रथ से नीचे उतार लिया। जटायु ने देवी सीता को एक ओर बैठाकर रावण के शरीर को चोंच मारकर विदीर्ण कर दिया। खिसिया कर रावण ने क्रोध में तलवार निकाल ली और जटायु के विशाल पंख काट डाले। रावण

सीता को रथ पर चढ़ाकर शीघ्रता से चल दिया। सीताजी व्याध के हाथ में पड़ी हुई हिरनी की भाँति असहाय थीं। जटायु छटपटाता रह गया, किन्तु उसे सन्तोष था कि उसने बूढ़ा होकर भी अपना कर्त्तव्य पालन किया और तदर्थ अपने पंख तक कटवा लिये। यह महान् शौर्य एवं आदर्शपालन हेतु आत्म-बलिदान का ज्वलन्त उदाहरण था।

सीताजी की खोज करते हुए कृपावारिधि श्रीराम ने जटायु को पक्षहीन पड़ा हुआ देखकर उसे सुकोमल करकमलों से स्पर्श किया और उसके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। इसी भूमिका में श्रीराम ने कहा, "परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन्ह कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं।" जटायु ने श्रीराम के समक्ष ही प्राणोत्सर्ग कर स्वर्गारोहण किया। श्रीराम ने अपने हाथों से उसका दाहकर्म आदि किया और इस प्रकार उसका विशेष समादर किया।

इस प्रकार रामायण में एक ओर रावण है जो उत्तमकुल में उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है और राक्षस कहलाता है तथा दूसरी ओर सीता का आर्त्तनाद सुनकर उसकी रक्षा हेतु प्राणों की आहुति देने वाला वृद्ध जटायु है जो गीध होकर भी स्तुत्य है। वास्तव में कुल का प्रताप मनुष्य को अर्चनीय नहीं बनाता है, कर्म ही स्तुत्य अथवा निन्द्य बनाता है। पुलस्त्य ऋषि के पौत्र, विश्वश्रवा के पुत्र, रावण से हनुमान ने कहा--रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका, तेहि ससि महुं जनि होहु कलंका। आगे फिर अंगद कहते हैं--

"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती, शिव विरंचि पूजेहु बहु भांती ।।
बर पायेहु कीन्हेहु सब काजा, जीतेहु लोकपाल सब राजा ।।
नृप अभिमान मोह बस किंवा, हरि आनिहु सीता जगदम्बा ।।

तुलसीदास रामचरितमानस में चरित्र की उज्ज्वलता को ही प्रतिष्ठित करते हैं, उत्तमकुलोद्‌भवता, जाति, धन, तथा अन्य उत्कर्ष को प्रतिष्ठित नहीं करते। एक ओर राम क्षत्रिय होकर आततायी ब्राह्मण रावण का वध करते हैं तथा दूसरी ओर निषाद को हृदय से लगाते हैं एवं शबरी भीलनी के झूठे बेर खाते हैं।

आज समाज को आवश्यकता है, जटायु जैसे साहसी पुरुषों की जो निर्भीकतापूर्वक विश्व के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में छाये हुए पापाचार, अनाचार, अत्याचार और दुराचार के विरुद्ध न केवल जोरदार आवाज उठायें बल्कि उसका डटकर सामना करें और स्थिति से पलायन न करें और धन्य हैं राम सरीखे महामानव, जो गृध्र के प्रति भी अश्रुपूर्ण भावभीनी श्रद्धांजलि देते हैं तथा कृतज्ञता प्रकाशन करते हैं।

राघौ गीध गोद करि लीन्हें ।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहुं अरघ जल दीन्हें ।
पितु ज्यों गीध क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो ॥

अन्याय एवं अत्याचार के प्रतिरोध में, वृद्ध एवं अशक्त जटायु के द्वारा महाबली रावण को चुनौती देने का साहस स्तुत्य है और धन्य है न्याय की रक्षा हेतु उसका सहर्ष प्राणोत्सर्ग करना! जटायु की धवल कीर्ति अमर है और अमर है उसका दिव्य बलिदान।

* * *

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन ॥ (उपनिषद्)

अर्थात् जहां से मन सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उस परब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी नहीं डरता है। आदर्शों एवं मूल्यों का महत्त्व समझने वाला वीर पुरुष आत्मबलिदान के द्वारा कृतकृत्य हो जाता है।

Page

९

धर्मयुद्ध

इस चराचरात्मक संसार में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है। सभी "विशेषों" में एक "सत्ता सामान्य" अनुस्यूत है। जगत् गतिशील है, जीवनवान् है, यद्यपि कहीं जीवन प्रकट एवं स्फुट है और कहीं प्रच्छन्न। स्थूल सृष्टि मानो अन्तर्निहित ईश्वर का बाह्य आवरणमात्र है। स्थूल सृष्टि के मध्य में अथवा उसके पृष्ठ में उसका मूलाश्रय परमात्मा विराजमान है। हमें विश्व में जो कुछ भी हलचल दीख पड़ती है, उस सबके पीछे उस सब के आधारभूत प्रभु की चैतन्य सत्ता एवं शक्ति का अनन्त अविच्छिन्न प्रवाह है। जैसे समुद्रादि में कोई भयावह तूफान उठा हो किन्तु फिर भी नीचे तह पर गम्भीर, शान्त, प्रबल जलधारा का अबाध प्रवाह होता है, वैसे ही इस दृश्यमान जगत् के मोहक आवरण के नीचे भी अखण्ड चैतन्य सत्ता का आनन्दस्वरूप, गम्भीर, शांत एवं शक्तिमान प्रवाह है। यही दिव्य प्रवाह तो ईश्वर है। जैसे स्थूल मानव देह में सूक्ष्म रूप से आत्मा व्याप्त है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी सूक्ष्मरूपेण परमात्मा व्याप्त है। सर्वत्र बसने वाला होने से ही उसका नाम "वासुदेव" है। "भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः"। सर्वत्र रमण करने वाला वही लोकाभिराम राम है। वह प्रभु सभी गतिशीलता, क्रियाकलाप, "फ्लक्स" का मूलाधार, स्रोत एवं स्रष्टा होकर भी उससे अस्पृष्ट है, दूर है, द्रष्टामात्र है। परात्पर ब्रह्म ऐसा चित्रविचित्र है।

जीव का कल्याण इसमें निहित है कि वह अपने शक्तिस्रोत प्रभु के साथ ज्ञानात्मक, भावात्मक अथवा आध्यात्मिक एकता का नाता स्थापित करके इस प्रकार जीवन निर्वाह एवं कर्म करे कि वह प्रभु की भाँति कर्म से लिप्त न हो। गीता में भगवान् श्री कृष्ण का वाक्य है "न मां कर्माणि लिम्पन्ति" अर्थात् कर्म मुझे लिप्त नहीं करते हैं। ईशावास्य उपनिषद् में भी हमें निर्लिप्त होकर

आचरण करने का उपदेश दिया गया है। "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"। कर्म करते हुए भी तटस्थ एवं निर्लेप रहना, तल्लीन होते हुए भी लिप्सा-मुक्त रहना ही जीवनयापन की श्रेष्ठ कला है, उसका साफल्य है।

गम्भीर शान्ति एवं शक्ति प्रभु का लक्षण है। जहाँ शान्ति, वहाँ शक्ति। शान्ति एवं शक्ति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भी परम ब्रह्म की भाँति अन्तस्तल में परम शान्त, गम्भीर एवं सशक्त होता है। वह दुःखों में अनुद्विग्न, सुखों में विगतस्पृह होता है और वीतराग होने के कारण भय-क्रोध से ऊपर उठकर, स्थितधी होकर, व्यवहार करता है। वह जानता है कि क्रोध से उत्तेजनामय चित्त-क्षोभ होता है, बुद्धि की प्रखरता विनष्ट होती है, मूढ़ता आती है तथा स्मृति-विभ्रम होने पर विनाश हो जाता है। आत्मा के प्रकाश एवं प्रसाद से सब दुःखों का अन्त हो जाता है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, मन का दुःख-सुख रूपी मैल कट जाता है। ब्राह्मी स्थिति में बुद्धि-स्थैर्य होने पर इन्द्रियाँ तथा मन संयमित हो जाते हैं। ब्राह्मी स्थिति अथवा स्थितप्रज्ञता में मनुष्य समरस हो जाता है जहाँ न राग, न द्वेष, न भय, न क्रोध। वहाँ तो अजस्र शान्ति, शक्ति, सहज प्रसन्नता रहते हैं। जैसे हिमाद्रि के उत्तुंग शृंग पर चढ़कर भूतल के क्रियाकलाप निस्सार प्रतीत होते हैं वैसे ही ब्रह्म-स्थित व्यक्ति को भी लौकिक दुःख-सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं।

"समोऽहम् सर्व भूतेषु" (भगवान् सभी प्राणियों में समान रूप से रहते हैं) का सिद्धान्त मानने वाला व्यक्ति भला क्यों किसी का विरोध करे, क्यों किसी से लड़े, क्यों किसी का अपमान करे? वह तो प्राणिमात्र में प्रभु का दर्शन करने के कारण सभी का सत्कार करता है, प्रेम करता है और सेवा करता है और यही प्रभु की पूजा है। "सियराममय सब जग जानी, करहूं प्रणाम जोरि जुगपानी"। "उमा जे रामचरणरत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहिसन करहिं विरोध"॥

भक्तहृदय जानता है कि जैसे ब्रह्माण्डरूपी देह में परमात्मा का आवास है, वैसे ही मानव कलेवर में आत्मा का आवास है। यह आत्मा उस परमात्मा का अंश है, ब्रह्माग्नि की स्फुलिंग है, ब्रह्मसिन्धु की बिन्दु है। अतएव भगवत्तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति प्राणिमात्र के सत्कार द्वारा उसमें स्थित अनन्त ब्रह्माण्ड-नायक प्रभु का ही समादर करता है। वह निष्काम कर्म करने वाला सुजन स्वधर्माचरण करता है तथा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास को परमार्थ में ही लगाता है। वह लौकिक दुःख-सुख की स्थिति में उनसे प्रभावित न होकर समरस तो होता है किन्तु वह शुष्क एवं नीरस अथवा पाषाण के सदृश कठोर नहीं होता। प्रभु के प्रति भक्तिरस ही प्राणियों के प्रति प्रेमरस का रूप ग्रहण करता है। परोपकार करना तत्त्ववेत्ता के लिये व्रत होता है। वह कठोरता पर मृदुता से,

कटुता पर प्यार से, अपराध पर क्षमादान से, अपकार पर सहिष्णुता से, पाप पर पुण्य से विजय पाने का प्रयत्न करता है। अहिंसा, सत्य उसके आयुध होते हैं जिनके द्वारा वह हिंसा, पाप, अत्याचार, अनाचार, मिथ्याचार, दुराचार एवं असत्य से युद्ध करता है। "हिंसितश्च न हिंसेत्"––व्यक्तिगत रूप में हिंसित होकर भी सत्पुरुष को हिंसा नहीं करनी चाहिये। वह व्यक्तिगत मान-अपमान के हेतु नहीं, अपितु सिद्धान्तों, मूल्यों की रक्षा के हेतु संघर्ष एवं युद्ध करता है। वह पाप से घृणा करता है, पापी से नहीं। वह ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, हिंसाभाव से प्रेरित नहीं होता है अपितु अन्याय, असत्य का दमन करना उसके लिए मानो जगतीतल से अंधकार हटाना है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं––'धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' (२-३१) अर्थात् वीर पुरुष के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह समीचीन है कि पूर्णतः लोकविरक्त परम सन्त एवं संन्यासी तो सदैव चरमसीमा तक भी केवल सात्विक आयुधों (सत्य, अहिंसा) का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु लोकव्यवहार में कोई भी उदात्त पुरुष (विशेषतः प्रशासक) क्या करे ? सन्तधर्म, गृहस्थधर्म तथा प्रशासकधर्म में भेद है। वैराग्यवान् सन्त के लिए वैरागी सन्त आदर्श होता है किन्तु प्रशासक के लिये श्रेष्ठ प्रशासक अनुसरणीय होता है। दोनों के आदर्श भिन्न होते हैं।

रामभद्र लोकनायक के रूप में लोक-मर्यादा का पालन करते थे। इसी कारण मर्यादा पुरुषोत्तम राम आदर्श मानव थे। वे उदात्त, शीलवान, करुणार्द्र, समुज्ज्वल, निष्कलुष, निष्कपट, गम्भीर, प्रियदर्शन, सरल एवं सुभग थे और उनके पावन हृदय में कोमल एवं मार्मिक भावनाओं की अन्तस्सलिला छिपी हुई थी। किन्तु सरस, सहृदय, करुणामय, सहिष्णु एवं क्षमाशील होते हुए भी वे दृढ़ता-पूर्वक सत्य-संध एवं कर्त्तव्यनिष्ठ थे, पराक्रमी एवं वीर थे, तेजस्वी एवं ओजस्वी थे। वे कुसुम से भी अधिक सुकोमल थे तथापि वज्र से भी अधिक कठोर थे। "वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि"। राम मानवीय शक्तियों के चरम विकास के श्रेष्ठ प्रतीक हैं। मर्यादापालक राम का व्यक्तित्व पूर्ण है और मानवता को शाश्वत प्रेरणा देता है।

"अति कोमल रघुवीर सुभाऊ"। जब सहृदय राम ने राक्षसों के द्वारा साधुओं एवं जनता का प्रपीड़न देखा तो उन्हें उसके निराकरण का उपाय करना पड़ा क्योंकि "ताटस्थ्य" का अर्थ निष्क्रियता नहीं है बल्कि फल में अनासक्ति है। राम ने जनरक्षा करने का प्रण किया, 'निश्चरहीन करौं महि भुज उठाई पन कीन्ह'। राम ने राक्षसों का हनन तब किया जब सात्विक ऋषिगण के उपदेश का भी उन पर कोई प्रभाव न हुआ। दण्ड देना भी प्रभु का विधान होता है। जब मत्त गयन्द विनाशलीला करता है, उसका उपाय

अंकुश ही होता है। जनहित में, शासन हेतु, मर्यादा पालन हेतु, पवित्र दृष्टि से, प्रेमभाव से ही, श्रीराम माता की भाँति दण्ड भी देते हैं। "चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च द्रष्टा" अर्थात् चित्त में दया धारण करके ही जनकल्याण के लिए युद्ध में कठोरता अपनाई गई।

"जिमि सिसुतन व्रन होई गोसाईं, मात चिराव कठिन की नाईं।
जदपि प्रथम दुख पावई, रोवहि बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर।।
तिमि रघुपति निज दास करि हरहिं मान हित लागि।
तुलसीदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि।।"

इस प्रकार दुर्दमनीय राक्षस को दण्ड देने के हेतु उसके साथ युद्ध करना भी धर्मपालन ही होता है। जब कोई वीर व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष, घृणा एवं क्रोध से ऊपर उठकर सिद्धान्तों एवं मूल्यों के प्रस्थापनार्थ अथवा निरपराध व्यक्ति वा जनसमुदाय की रक्षा के हेतु युद्धरत होता है, वह युद्ध "धर्मयद्ध" है। बल का प्रयोग व्यक्तिगत घृणा एवं क्रोध को छोड़कर भी हो सकता है। शौर्य प्रदर्शन मन को शान्त रखकर, क्रोध का त्याग करके भी होना सम्भव है। अन्याय एवं अत्याचार को देखकर क्षोभ (रिसेन्टमैन्ट) होना और स्पष्टतः प्रबल असहमति एवं प्रबल प्रतिवाद (लाउड प्रोटेस्ट) प्रकट करना धर्म्य हो जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अक्रुद्ध रह कर भी आततायी को दण्ड दे सकते हैं। वीर क्रोध छोड़कर भी कठोर हो सकते हैं तथा दुष्टों का दमन करके धर्म पालन कर सकते हैं। शीतल, शान्त और अनुद्विग्न व्यक्ति सन्तुलित रहकर आवश्यक प्रहार कर सकता है; जैसे ठंडा लोहा ही गर्म लोहे को पीट सकता है। यदि युद्ध केवल हिंसापूर्ण मारकाट के लिये, बर्बरतापूर्ण अत्याचार के लिये, प्रलयोपम विध्वंस के लिये, मिथ्या दर्प की तुष्टि के लिये तथा पर-स्वापहरण के लिये हो तो निश्चय ही वह पापमय है। ऐसा युद्ध न केवल विनाशकारी ही होता है अपितु विजय देकर भी पतनकारक होता है, क्योंकि कोई व्यक्ति, जाति अथवा देश घृणा पर आधारित होकर जीतने और जीने से कभी सुख तो पा ही नहीं सकता है अपितु अचिर ही स्वयं ध्वस्त हो जाता है। नीटशे का अनुयायी हिटलर भौतिक बल के द्वारा "आनन्द प्राप्ति" का दुस्स्वप्न देखता था। भौतिक बल के उपासक बम में "सौंदर्य" देखने का भ्रम करते हैं। मुसोलिनी आधुनिक युग में युद्ध के ही हेतु युद्ध करने के लिये कुख्यात हुआ। युद्धोन्माद कुत्सित होता है। न जाने क्यों महत्वाकांक्षा का भूत सिर पर चढ़ाये हुए, विनाशलीलारत एवं युद्धोन्मादी सिकन्दर तथा नेपोलियन को महान् कहा जाता है? युद्ध आवश्यक हो सकता है किन्तु हिंसावृत्ति एवं युद्धोन्माद तो

सर्वथा निन्दनीय हैं। युद्ध स्वयं ही एक समस्या होती है और उससे किसी समस्या का समाधान कभी नहीं होता है। विनाश और पतन का दूसरा नाम युद्ध है। युद्ध की अग्नि में जन और धन, इन्सान और ईमान का होम हो जाता है। किन्तु भारतीय दार्शनिक चाणक्य की उक्ति है "कुर्यात् हिंसने प्रतिहिंसनम्" अर्थात् विवश होकर ही, हिंसा के प्रत्युत्तर में, हिंसा करनी चाहिये। श्रीराम की भी उक्ति है "रिपु पर कृपा परम कदराई।" राम समाज के रिपु को ही रिपु मानते थे। श्रीराम ने नीतिवश धर्म-युद्ध किया और जहां फटकार से ही काम चल गया, वहां युद्ध को बचाया।

करुणानिधान राम के विनय की समुद्र के द्वारा अवहेलना होने पर उन्हें कहना पड़ा--"भय बिनु होई न प्रीत" तथा "सठ सन विनय कुटिल सन प्रीति, सहज कृपन सन सुन्दर नीति। ममतारत सन ज्ञान कहानी, अति लोभी सन बिरति बखानी। क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा, ऊसर बीज बए फल जथा।" प्रभु के शरसन्धान करने पर उदधि के उर में ज्वाला जागृत हो गई और तब वह विकल होकर, विप्र रूप धारण कर, अभिमान त्यक्त करके, कनक थाल में मणियां लिये हुए श्रीराम के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। नीति वाक्य है--

"काटेहि पई कदरी फरई कोटि जतन कोउ सींच।
विनय न मान खगेस सुनु डाटेंहि पई नव नीच॥"

श्रीराम तो कोमल चित्त थे ही, तुरन्त समुद्र को क्षमा कर दिया। किन्तु राम ने उसे क्षमा पात्र बनाकर ही क्षमादान किया, अन्यथा क्षमा तो कायरता थी। क्षमा करना भी सशक्त वीर को ही शोभा देता है। दिनकर जी कहते हैं-- 'क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो'। दुष्टता का दमन अथवा दुष्ट को क्षमादान करना बल से ही सम्भव है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के मन में हिंसावृत्ति एवं शत्रुभाव तो न था।

महाभागा राजेश्वरी देवी सीता का हरण करने वाले रावण को भी मर्यादा पुरुषोत्तम ने सर्वप्रथम प्रेम से ही सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया। तदर्थ उन्होंने अंगद को रावण के पास दूत के रूप में प्रेषित किया। परम चतुर बालितनय से श्री राम ने कहा, "काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतही सोई।" इस वचन से राम जी के हृदय में सन्निहित रिपु के प्रति भी मंगल-भावना स्पष्ट होती है। अंगद ने कहा, "हे रावण! तुम उत्तमकुल में उत्पन्न होकर कुमार्गगामी हो गये। भय त्यागकर श्रीराम की शरण जाओ। क्षमादान मिलेगा"। किन्तु ज्ञानलवदुर्विदग्ध को तो ब्रह्मा भी रंजित नहीं कर सकता है।

अंगद ने बल परिचय भी दिया और नीति का वर्णन भी किया किन्तु रावण तो तब मलिनबुद्धि था। अंगद से पूर्व इसी प्रकार हनुमान भी असीम बल का परिचय दे चुके थे और नीति वर्णन कर चुके थे और राम की ओर से क्षमादान का आश्वासन दे चुके थे। "गये शरण प्रभु राखि हैं तव अपराध बिसारि।" अंगद ने बल परिचय हेतु यह स्पष्ट कर दिया था कि हनुमान तो केवल सुग्रीव का अनुचरमात्र है, "सो सुग्रीव केर लघुधावन।" युद्ध में बल-प्रयोग करने से पूर्व बल का परिचय देना परम आवश्यक होता है क्योंकि कभी-कभी बल परिचय देने से ही कार्य सिद्धि हो जाती है तथा युद्ध बच जाता है। अंगद ने बल-संकेत के अभिप्राय से रावण के मुकुट तक उठाकर फेंक दिये। सत्य की प्रतिष्ठा एवं अत्याचार का दमन करने के हेतु राम को अब प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाना ही पड़ा। जब साम नीति का प्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ, तब साधुता के परित्राण के लिये, पाप के विनाश के लिये, धर्म की स्थापना के लिये आदर्श पुरुष श्रीमद्राघवेन्द्र राम को दण्डनीति से बल-प्रयोग के द्वारा रावण का वध करना पड़ा। आवश्यकता होने पर अहिंसा की रक्षा हिंसा से, शान्ति की रक्षा युद्ध से, ब्रह्मतेज की रक्षा क्षात्रबल से, शास्त्र की रक्षा शस्त्र से, ज्ञानबल एवं संस्कृति की रक्षा सम्पूर्ण बल से करना अभीष्ट होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के हृदय में हिंसाभाव न था। राम ने कभी घृणा-ईर्ष्या को हृदय में स्थान नहीं दिया और उन्होंने बल का प्रयोग भी, वैरभाव को छोड़कर, सद्भाव से प्रेरित होकर ही किया था। अतएव राम ने युद्ध के पश्चात् विभीषण को रावण का क्रियाकर्म संस्कार करने का आदेश दिया और रावण के भाई को ही रावण की लंका दे दी। यह था धर्मयुद्ध का आदर्श।

इसी प्रकार, महाभारत में यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं दौत्य-कार्यभार संभालकर अत्यधिक प्रयत्न किया कि युद्ध न हो; किन्तु दुर्दान्त दुर्योधन मोहान्ध था। विवश होकर पाण्डवों को संग्राम भूमि में आना पड़ा और स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सारथी होकर पाण्डव-विजय में योगदान किया। किन्तु रणक्षेत्र में ही ब्रजेशनन्दन श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देकर जीवन की सच्ची राह दिखा दी। कौन किसे मारता है ? आत्मा अजर, अमर, अछेद्य, अभेद्य है। 'नायं हन्ति न हन्यते'। आत्मा न किसी को मारता है, न किसी से मार दिया जाता है। कौन किसका सम्बन्धी है ? सभी एक हैं। आत्मज्ञान होने पर हत्या करना नहीं बनता है।

"वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थः कं घातयति हन्ति कम्॥" (गीता)। नित्य आत्मा को शस्त्र भी छिन्न नहीं कर सकते हैं। "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि।" "अच्छेद्योऽयं।" आत्मवित् को मृत्यु से क्या भय ? यदि योद्धा धर्म-युद्ध करता है तो उसे मरने और मारने को समान मानना

चाहिये क्योंकि धर्मयुद्ध में मरना एवं मारना दोनों पुण्यकारक हैं। नश्वर शरीर तो धर्मपालन का एक साधन है, अतः धर्म हेतु इसके नाश होने पर क्लेश क्यों? अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बार-बार "नैवं शोचितुमर्हसि" (शोक न कर) ऐसा उपदेश दिया। जन्मने वाले की मृत्यु निश्चित है फिर मरने का क्या शोक? "तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" धर्मयुद्ध से अधिक श्रेयस्कर एवं कल्याणकारक वीर योद्धा के लिये अन्यत् क्या है? स्वधर्मपालन ही श्रेष्ठ होता है। मोहकलिल से छूट कर कर्त्तव्यपालन करना ही श्रेयस्कर है। स्थितप्रज्ञताजन्य समभाव होने पर, कर्त्तव्य-पालन हेतु मारने पर दोष नहीं होता है। अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः। सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।" समभाव में स्थित होकर लाभ-हानि की चिंता न करके कर्त्तव्यभाव से युद्ध करना कोई पाप नहीं, पुण्य है। यदि वह धर्मयुद्ध, केवल प्रभु-समर्पण भाव से, भगवत्प्रीत्यर्थ ही हो तो भगवत्प्राप्ति का साधन भी है।

गीता के अनुसार न तो अहिंसा परम धर्म है, न हिंसा ही परम धर्म है, बल्कि कर्म (कर्त्तव्य-पालन) ही परम धर्म है। हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य, बुराई और भलाई का निर्णय भावना से होता है। हम ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक स्तर पर ऊंचे उठते हैं, पहिले मानव मात्र में और तदनन्तर जीवमात्र में ईश्वरीय तत्व का दर्शन होने लगता है तथा उनके प्रति आत्मीयता का भाव जागृत हो जाता है, अहिंसा-भाव व्यापक हो जाता है। हम जिस स्तर पर हों उसके अनुरूप आचरण करना अभीष्ट होता है। आज मकड़ी, मच्छर मारना अथवा आततायी को मारना उचित हो सकता है किन्तु पूर्ण अहिंसक होने पर वह अनावश्यक हो जाता है। साधारण जीवन में अतिवाद वर्ज्य है तथा मध्यम-मार्ग व्यावहारिक है। निर्वैर भाव से हिंसा का प्रतिरोध हिंसा के द्वारा करना तथा उपयुक्त अवसर आने पर क्षमा करना धर्म्य है। अहिंसा तो भाव में होनी चाहिये अर्थात् मन घृणारहित, वैररहित, प्रतिशोधरहित होना चाहिये। युद्ध के लिये ही युद्ध करना, विनाश के लिये ही युद्ध करना, हिंसा है, किन्तु मूल्यों एवं आदर्शों की रक्षा के लिए युद्ध करना अहिंसा-सम्मत है। अन्तर्प्रेरणा के अनुसार कर्म करना परम धर्म है। "अहिंसा वैरत्यागः" (पतंजलि)। निर्वैर होकर हिंसा के प्रतिरोध में हिंसा करना अहिंसा ही है। प्रशासक के लिये राम आदर्श हैं जो वाम हस्त में दुष्टों के दमन के लिये धनुषबाण धारण करते हैं तथा दक्षिण हस्त से सन्तों की रक्षा के लिये उन्हें आश्वासन एवं आशीर्वाद देते हैं। दुष्ट दमन से ही समाजरक्षा संभव होती है। वीतराग महात्माओं के लिये पूर्ण अहिंसक महात्मा (गुरु नानक, भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, ईसा,

रामकृष्ण परमहंस इत्यादि) आदर्श होते हैं; किन्तु प्रशासकों के लिए राम आदर्श हैं। पूर्ण अहिंसा (कायिक, वाचिक एवं मानसिक अहिंसा; बहिरंग एवं अन्तरंग अहिंसा) विरक्त संन्यासी के लिये संभव है। साधारण व्यक्ति के लिये आवश्यकता पड़ने पर कर्त्तव्यरूप में विवेकसम्मत एवं सीमित हिंसा करना धर्म्य है।

प्रज्ञा के प्रतिष्ठित होने पर तथा इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि के संयमित और सुनिर्मल होने पर धर्म पालन हेतु युद्ध करना मानो प्रभु की लीला में सक्रिय योग देना है। ईश्वर एक महान् चित्रकार है। जब कोई चित्रकार एक चित्र बनाकर उसे मिटाता है तो हमें बुरा प्रतीत होता है, क्लेश होता है किन्तु कुछ समय में वह चित्रकार उस स्थान पर पुनः पहिले की अपेक्षा अधिक सुन्दर चित्र बना देता है। ऐसे ही महान् कलाकार ईश्वर बार-बार विनाशलीला के द्वारा भी मानो नवसृजन एवं विकास कर रहे हैं। विनाश भी सृजन एवं विकास का आवश्यक अंग है। प्रभु के इस महान् सृजन कार्य में दण्ड, विनाश एवम् मृत्यु का भी एक प्रमुख स्थान है।

"कत्ल मूज़ी क़ब्ल ईज़ा" अर्थात् आततायी शत्रु को, आक्रमण एवं हानि करने से पूर्व ही नष्ट कर दो। आततायिनमायान्तं हन्यादेव अविचारयन् अर्थात् आये हुए अन्यायी, आततायी को बिना विचार किये हुए शीघ्र ही मार देना चाहिये। कवि कालिदास कुमारसंभव में कहते हैं—शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः। अर्थात् दुष्ट स्वभाव वाले दुर्जन का शमन अपकार के बदले अपकार से, न कि अपकार के बदले उपकार से, होना चाहिये। केवल बल-प्रयोग की ही भाषा समझने वाले दुष्ट की दुष्टता का उपाय, अपकार का उपाय, दण्ड है। यह दण्ड व्यक्ति एवं समाज के हित में होता है। देश रक्षा के लिये सेनापति शत्रु की सेना को पीछे से घेरकर उस पर आक्रमण करता है तथा सेनानी रणक्षेत्र में धरती पर लेटकर, अपने को छिपाते हुए, शत्रु पर गोली चलाता है। जनहित में दुष्ट दमन के लिये दण्डयिता का नीतिवश छिपकर अपराधी को दण्ड देना धर्म्य है यदि वह विवशता हो। रण चढि करिय कपट चतुराई, रिपु पर कृपा परम कदराई।

वीरों के उस उल्लास, रोमांच एवं पुलकपूर्ण उत्तेजना का शब्दों में वर्णन कौन कर सकता है जो उन्हें तब प्राप्त होता है जब वे आततायी को विनष्ट करने के हेतु समर में साक्षात् मृत्यु से भी जूझ जाते हैं। एक महान् युद्ध के पश्चात् हेनरी चतुर्थ ने क्रिलौन से व्यंग्योक्ति की, "वीर क्रिलौन, अपने को अब फांसी पर चढ़ा दो। हम युद्धक्षेत्र में शान से लड़े और तुम वहां न थे।"

वीरों में अद्भुत आत्म-विश्वास होता है। राम ने युद्ध से पूर्व ही विजय को सुनिश्चित मानकर समुद्रजल से विभीषण के मस्तक पर तिलक कर दिया।

वीर शिवाजी जीतने के लिये ही रण में जाते हैं । "साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत है ।" भारत की स्वतंत्रता का श्रेय जहां एक ओर महात्मा गांधी तथा उनके अहिंसक अनुयायियों को है, वहां दूसरी ओर स्वतंत्रता संग्राम में प्राण फूंकने वाले अमर बलिदानी भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, मदनलाल ढींगरा, अशफ़ाकुल्ला खां इत्यादि हिंसक क्रांतिकारियों को भी है । सब का अपना-अपना स्थान है । शहीदे-आज़म भगतसिंह तथा उनके साथियों ने अपने प्राणों की आहुति देकर राष्ट्र को जगाना शुरू किया था । महात्मा गांधी राष्ट्र चेतना को अहिंसा पालन के द्वारा उन्नत कर रहे थे । आदर्श-प्रेरित पौरुष की विजय होती है, शस्त्र तो निमित्तमात्र होते हैं ।

प्रभुभाव में स्थित होकर जीवमात्र के प्रति प्रेम, समादर, परोपकार, सेवा, त्याग आदि का उदात्त भाव होना ही चाहिये और अचलप्रतिष्ठ एवं सम (राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों से ऊपर) होकर, प्रभु प्रेरणा के अनुसार स्वधर्मरूप कर्म करते रहना चाहिये । अन्तःकरण पवित्र होने पर आवश्यकता के अनुसार, युद्ध अथवा क्षमा जैसा भी उचित प्रतीत हो, समत्व भाव से अपना लेना चाहिये । "न दैन्यं न पलायनम्"--किसी विषम परिस्थिति में न दीनता दिखायें, न उससे भाग खड़े हों बल्कि समता और साहस से सामना करें । आवश्यकता पड़ने पर वीर अपना लहू बहाकर राष्ट्र के अस्तित्व एवं सम्मान की रक्षा करते हैं तथा तलवार की नोकों से भौगोलिक सीमाओं को बदल देते हैं । बलिदान के द्वारा वीर नये कीर्तिमान स्थापित करते हैं । वीर के लिये कुछ भी दुष्कर अथवा कठिन नहीं है । बाण भट्ट कहते हैं--

> अंगनवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् ।
> वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ।।

अर्थात् प्रतिज्ञा करने वाले पराक्रमी वीर के लिये पृथ्वी आंगन के, समुद्र छोटी नाली के, पाताल एक गड्ढे के और सुमेरू पर्वत (चींटियों की) बाम्बी के समान हो जाते हैं ।

पाप एवं दुष्टता के दमन के लिये वेदोपदेश है--"बाधमाना अप द्विषः" "आ कीवतः सललूकं चकर्ष ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य ।" अर्थात् दुष्टता को शस्त्रादि से निर्मूल कर सौजन्यवृद्धि, सुखवृद्धि करें । वीर के जीवन में संघर्ष करने पर ही तेज निखर कर चमकता है और व्यक्तित्व सुदृढ बनता है । गीता में सौमनस्य तथा शौर्य का, अध्यात्म तथा लोकव्यवहार का एक सुन्दर सामंजस्य है । "मामनुस्मर युध्य च" अर्थात् प्रभु का स्मरण करते हुए कर्त्तव्य-निर्वाह हेतु अधर्म एवं पाप से युद्ध करो । यह युद्ध मूलतः प्रेम के द्वारा तथा

आवश्यकता होने पर बलप्रयोग के द्वारा करना चाहिये। किन्तु पवित्र लक्ष्य सदैव एक ही है--पुण्य की स्थापना एवं रक्षा तथा स्वधर्म पालन के द्वारा भगवान् की सेवा। "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।" अर्थात् स्वकर्म (कर्त्तव्य) करना भी प्रभु की अर्चना है जिससे मानव सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। श्रीकृष्ण कहते हैं--

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।" (गीता १८-१७)

"जिसके अन्तःकरण में कर्त्ता भाव (मैं कर्त्ता हूँ) नहीं है और जिसकी बुद्धि अलिप्त, अनासक्त है, वह सबको मारकर भी वास्तव में न तो मरता है, न बंधता ही है।" जैसे अग्नि, वायु और जल के द्वारा किसी प्राणी की हिंसा होने पर भी हिंसा नहीं होती है, वैसे ही देहाभिमानरहित, स्वार्थरहित तथा लोकहितरत व्यक्ति के द्वारा हिंसा भी हिंसा नहीं होती है। आसक्ति, स्वार्थ और अहंकार के बिना हिंसा हिंसा नहीं रहती है तथा कर्तृत्व-अभिमान के बिना कर्म अकर्म होता है। ऐसा व्यक्ति पाप से नहीं बंधता है। कर्तृत्वाभिमान न होने पर, निस्स्वार्थ भाव से पुरुष द्वारा लोकदृष्टि में की हुई हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं होती है। "उन्नतं मानसं यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम्" अर्थात् जिसका मन (मनोबल) ऊँचा है, उसका भाग्य भी ऊँचा होता है। मनोबल, जो पराक्रम एवं शौर्य का मूलाधार है, विजय का प्रदाता होता है। पवित्र भाव होने पर ही मनोबल ऊँचा हो सकता है। द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य मण्डलभेदिनौ। परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखः हतः॥ ये दो व्यक्ति सूर्य मण्डल भेदन करते हैं, दिव्यलोक को प्राप्त होते हैं--योगी और रण में पीठ न दिखा कर मारा गया वीर।

"अस्माकम् इन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस् ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु॥"
(ऋग्० १०-१०३-११)

इन्द्र हमारा हो जब ध्वज इकट्ठे हों, हमारे शस्त्र (बाण) विजयी हों, हमारे वीर रण में विजय प्राप्त करें। हे देवगण, आक्रमण में हमारी रक्षा करो।

"प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छत।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥" (ऋग्०१०-१०३-१३)

हे वीरो! आगे बढ़ो और जीतो, परमात्मा तुम्हारी रक्षा करे। तुम्हारे शस्त्र सबल हों जिससे कि तुम अनाहत रहो।

येन शुक्लीकृताः हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ।।

जिसने हंसों को श्वेत बनाया, शुकों को हरा बनाया तथा मयूरों को चित्रित कर दिया, वह प्रभु तेरा कल्याण करेगा ।

* * *

जय भारत

(भारत महिमा)

भारत वसुंधरा का शिरोमुकुट है और इस की महिमा विचित्र है । भारतीय संस्कृति निराली है और अत्यन्त प्राचीन है । भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता का कारण उसके आधारभूत कालजयी मूल्य हैं । साहित्य की उत्कृष्टता का आधार संस्कृति की उत्कृष्टता होती है । संस्कृति से विमुख होकर जीवनप्रद साहित्य की रचना संभव नहीं होती है । भारतीय संस्कृति मानवता की संस्कृति है जिसके मूल सिद्धान्त सार्वभौम एवं सार्वकालिक हैं । अतएव शंकराचार्य ने भारत की महिमा के संबंध में कहा--स्वदेशो भुवनत्रयम् (भारत ही त्रैलोक्य है) ।

भारत ने ऋषि-मुनियों को अवतारों का भी पूज्य तो माना किन्तु अवतार का पद कर्मयोगी कृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम राम को दिया जिनसे गृहस्थ जन को व्यावहारिक जीवन में प्रेरणा प्राप्त हो सके ।

भारत की यह भी एक उल्लेखनीय विशेषता रही है कि भारत ने कभी किसी एक व्यक्ति को धर्म प्रवर्तक के रूप में स्वीकार नहीं किया । राम और कृष्ण को अवतार का पद तो दे दिया गया किन्तु उन्हें भी धर्म प्रवर्त्तक के रूप में स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि धर्म में अनादितत्त्व है ।

यह गर्व का विषय है कि भारत ने राम और कृष्ण की परम्परा का निर्वाह किया तथा भारतीय वीरों ने कभी विदेशों में जाकर लूटपाट अथवा हिंसात्मक आक्रमण नहीं किये, न तलवार के जोर से धर्म अथवा संस्कृति का प्रचार ही किया । तलवार से संस्कृति की रक्षा की, सद्सिद्धान्तों की रक्षा की । भारत ने बल का उपयोग आत्म-रक्षा के लिये किया, पर-विनाश-लीला के लिये कदापि नहीं किया । महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य "रघुवंश" में दिग्विजयी रघु को धर्मविजयी कहा है क्योंकि उसने किसी की भूमि को नहीं हड़पा ।

सर्व-धर्म-समादर भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है । सभी मतों का सत्कार करना भारत की सांस्कृतिक परम्परा है । सत्य का संदर्शन अनेक मार्गों के अवलम्बन से हो सकता है । ईश्वर को अनेक रूपों में देखा जा सकता

है। अतएव भिन्नमतावलम्बीजन का सम्मान करना धार्मिकता एवं आस्तिकता का प्रथम लक्षण है। धर्म निरपेक्षता का सच्चा अर्थ केवल धर्म सहिष्णुता ही नहीं, बल्कि सर्व-धर्म-समादर है। भारत में अणुवाद के प्रणेता कणाद तथा चार्वाक जैसे अनेक महान् नास्तिकों को भी ऋषि का पद दिया गया है। विचार-स्वातन्त्र्य, विचार-सहिष्णुता एवं विचार समादर विचार के विकास में सहायक होते हैं। भारत विचार-प्रधान देश है।

भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है धर्माचरण अथवा कर्त्तव्यपालन। मेक्स-मूलर कहते हैं कि भारतीय संस्कृति में कर्त्तव्य पर बल दिया गया है, पाश्चात्य संस्कृति में अधिकार पर। पाश्चात्य देशों में अधिकार प्राप्ति के लिये युद्ध हुए हैं, रक्तक्रांति हुई है। भारत के महापुरुषों ने कर्त्तव्यपालन के आदर्श प्रस्तुत किये तथा अपने अधिकारों की मांग नहीं की। राम और भरत ने अधिकार की दुहाई नहीं दी। केवल अधिकार की मांग का अर्थ है स्वार्थपूर्ण सुखोपभोग की कामना तथा सत्ता की गंध। कर्त्तव्यपालन का अर्थ है परमार्थ, त्यागपूर्ण बलिदान। अधिकार प्राप्ति के द्वारा इच्छापूर्ति करना पतनकारक एवं दुखदायक होता है, कर्त्तव्यपालन के द्वारा आदर्शपूर्ति करना उन्नायक एवं आनन्ददायक होता है। कर्त्तव्यपालन का अर्थ है स्वधर्मपालन। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (गीता)। अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये, अपना कर्म छोड़कर दूसरों का कर्म करना भयावह है। यदि रणक्षेत्र में योद्धा युद्ध छोड़कर अभियन्ता (इंजिनियर) का कार्य करेगा तो वह भयानक है। देह में सब इन्द्रियां (आँख, नाक, कान इत्यादि) अपना-अपना ही कर्म करती हैं। शहद के स्वाद का ज्ञान जिह्वा ही करती है, अन्य इन्द्रियां नहीं करती हैं। स्वधर्म पालन से ही राष्ट्र की उन्नति होना संभव है।

भारतीय संस्कृति अपने भौगोलिक परिवेश एवं व्यापक परम्पराओं से जुड़ी हुई है तथा उसकी अपनी विशेषताएँ हैं जिनकी परिगणना करना कठिन है। किसी अन्य देश की संस्कृति का उपरोपण (ग्राफ्ट) करना, विनिमय करना अथवा आयात करना संभव नहीं होता है, यद्यपि उसे अपनी संरचना में समाविष्ट किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति तत्त्वतः आध्यात्मिक संस्कृति है, भौतिकवादी नहीं है। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वेद (विशेषतः ऋग्वेद) उपनिषद, वाल्मीकि रामायण, व्यास महाभारत (विशेषतः गीता), बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन हैं। संस्कृत भारतीय संस्कृति का प्रमुख माध्यम है। ऋषियों का ब्रह्मज्ञान, शाश्वत सत्य दर्शन, तप, आतिथ्य, धर्माचरण, हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा, राम की कर्तव्यनिष्ठा,

कृष्ण का कर्मयोग, बुद्ध की करुणा, महावीर की अहिंसा भारतीय संस्कृति की अमूल्य थाती हैं।

भारत में ऋषि-मुनि, साधु-संन्यासी स्वयं मर्यादा में रहकर समाज को कर्म एवं मर्यादा का पाठ सिखाते थे, एक व्यवस्था देते थे। अनेक विरक्त ऋषि-मुनि, साधु-सन्त (न केवल एक व्यक्ति या एक पुस्तक) समाज के लिये प्रेरणा स्रोत थे तथा जन जीवन को पवित्र रखते थे। सत्ताधारी उनका सत्कार करते थे, अतएव समाज में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की अपेक्षा स्वार्थवृत्ति एवं भोगैश्वर्य को तुच्छ समझा जाता था। ज्ञानी धर्माचार्य सत्ता पर सात्विक नियंत्रण रखते थे। सत्ता निरंकुश नहीं होती थी। वास्तव में जन-जीवन के सात्विक, पवित्र एवं सुव्यवस्थित होने पर दण्ड विधान एवं राजसत्ता अनावश्यक हो जाते हैं। धर्म का अर्थ है ईश्वर के प्रति तथा समाज के प्रति कर्त्तव्य पालन करना। धर्म के साथ सम्पूर्ण कर्म जुड़ा हुआ है। धर्म मनुष्य के लिये अभ्युदय (लौकिक उन्नति) तथा निश्रेयस (आत्मकल्याण) का द्वार खोल देता है। युद्ध भी धर्म (कर्तव्य) के कारण होना चाहिये और युद्ध में धर्म (मर्यादा, सीमा, उद्देश्य) का पालन होना चाहिये। धर्म का व्यापक अर्थ है नैतिकता, प्रेम, सेवा, त्याग और बलिदान।

आधुनिक सभ्यता के कारण आज अनेक देशों में समृद्धि होने पर भी जन जीवन में व्याप्त निम्न कोटि की पाशविक प्रवृत्तियों (धन एवं सत्ता की लोलुपता के कारण संघर्ष, स्वच्छन्द यौनाचार, भोगवाद इत्यादि) के निपटारा करने और उनका समाधान करने तथा सन्तुलन लाने की समस्या जटिल एवं प्रमुख होती जा रही है; किन्तु भारत के मनीषियों ने ऊर्ध्वदृष्टि होकर तत्त्वदर्शन, सत्य-साक्षात्कार, आनन्दानुभूति तथा जीवन में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के समावेश करने को मानव की प्रमुख समस्या समझा और उसका समाधान करने पर बल दिया। जीवनकाल में ही मनुष्य नर से नारायण बन सके, कर्म करते हुए भी जल-कमलवत् निर्लिप्त रह सके, शरीर के परिवेश से मुक्त होकर दिव्य जीवन का आस्वादन कर सके, निम्न स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ में जुट सके, समाज के लिये सुख और शान्ति का स्रोत बन सके, यह भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है।

भारतीय संस्कृति ने समाजहित एवं जनहित को दृष्टि में रखकर मर्यादा पालन पर बल दिया है। स्वच्छन्द यौनाचार समाज के लिये अभिशाप है। यौन-प्रणय विवाहित जीवन का एकाधिकार है अतएव वैवाहिक वचनबद्धता का निर्वाह समाज व्यवस्था के हित में आवश्यक है। विवाह से पूर्व प्रणय निन्द्य है तथा विवाहोपरान्त स्तुत्य है। गृहस्थ धर्म-स्थल एवं कर्म-स्थल है। "मातृवत् परदारेषु" (परस्त्रियों के प्रति पवित्र दृष्टि) समाज व्यवस्था एवं व्यक्तिगत

उत्कर्ष के लिए तथा नारी-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये नितान्त आवश्यक है। आध्यात्मिक स्तर पर प्रणयसूत्र बन्धन "प्रेम" होता है, दैहिक स्तर पर पाशविक आकर्षण "वासना" होती है। सहज यौन-प्रवृति का उदात्तीकरण एवं मर्यादा-पालन बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर तक उठने के लिये तथा मानव बनने के लिये आवश्यक है। भारतीय संस्कृति वर्जना एवं दमन को अनुचित समझ कर उदात्तीकरण एवं शमन पर बल देती है। गृहस्थ धर्मपालन उसका एक माध्यम है। माता (और बहन) के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों के प्रति स्त्रीदृष्टि रखना निम्न, अपनी धर्मपत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों के प्रति माता (और बहन) की दृष्टि रखना भारतीय आदर्श है।

ऋषियों ने त्योहारों एवं उत्सवों को महत्व दिया है। जन-जीवन में उत्फुल्लता, उल्लास का समावेश करने की दिशा में ऋतुपरिवर्तन आदि से सम्बद्ध त्योहारों की परिकल्पना की गई है। आशा और उत्साह का संचार करने के लिये त्योहारों का विशेष महत्त्व है। भारतीय संस्कृति आशावादी है।

भारतीय संस्कृति चिरंतन ज्ञान एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा अपरिग्रह, त्याग, तपस्या, बलिदान, परोपकार, सेवा पर आधारित है। धर्म में कर्म एवं कर्तव्यपालन समन्वित हैं तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का समुचित समन्वय होने के कारण उसमें समग्रता है, सार्वभौमता है। विरासत में प्राप्त जीवन मूल्यों की प्रस्थापना करना भारत को भारतीय स्वरूप दे सकता है। अनेक आक्रान्ताओं ने भारत पर राजनीतिक विजय प्राप्त की किन्तु विजेता भारतीय संस्कृति का ध्वंस न कर सके तथा स्वयं भी इसमें मिल गये अथवा इसके उपासक बन गये। भारतीय संस्कृति सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक शाश्वत सिद्धान्तों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति के मूल्य व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर उपलब्ध कराने पर बल देकर भी संकीर्ण व्यक्तिवादी नहीं हैं तथा संसार का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने पर भी निराशावादी नहीं हैं। भारत ने संसार को महान् धर्म, विभिन्न दर्शन, विज्ञान के मूल सिद्धान्त एवं ललितकलाएँ दीं।

भारत ने विश्व सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में किन-किन दिशाओं में योगदान किया, ऐसी सूची बनाना कठिन है--गणित में शून्य, बीजगणित में मूल सिद्धान्त, दशांश पद्धति (डेसिमल), चिकित्सा में अद्भुत प्रयोग, शल्य चिकित्सा, संगीत, दर्शन, अणु सिद्धान्त (कपिल) इत्यादि। गवेषकों का कथन है कि गणित-ज्योतिष तथा शतरंज भी भारत की देन है। किन्तु भारतीय संस्कृति की प्रमुख देन है जीवन को समझने का प्रयत्न और सच्चे सुख की व्याख्या।

भारत ने विदेशों में शान्तिदूत भेजे तथा "वसुधैव कुटुम्बकम्" (सारा विश्व एक परिवार है) की नीति को अपनाया और सदैव विश्व कल्याण की परिकल्पना की। कोई महापुरुष कहते हैं--अपने पड़ौसी से प्रेम करो, कोई कहते हैं--अपने सहधर्मियों से प्रेम करो, ऋषि कहते हैं--जीवमात्र से प्रेम करो, प्राणिमात्र से मैत्री करो। यही सच्चे सर्वोदय का आधार है, यही जीवन और सुख का प्रचार एवं प्रसार है। "जय भारत" का अर्थ है "जय मानवता", "जय विश्व"। भारत श्रेष्ठ सिद्धान्तों, मूल्यों एवं आदर्शों का प्रतीक है। जय भारत !

१०

मानव और मानवता

(भारतीय समाजवाद की रूपरेखा)

मानव सृष्टि का विभूषण है। मानव ने अपने ज्ञान और विज्ञान के आधार पर बुद्धि के द्वारा सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। उसने साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि की उत्कृष्ट रचना की, समुद्र के वक्षःस्थल पर विशाल पोत चलाये, उसकी गहराइयों में उतरकर तल देखा, उत्तुंग शिखरों को लांघकर उन पर विजय पायी तथा आकाश में घूमकर अन्य ग्रहों पर विहार करना सम्भव कर दिया। पशुजगत् में पशु अपने सुदृढ़ नख, कीले, पूंछ और सींग की सहायता से भी आत्म रक्षा नहीं कर पाता किन्तु मानव ने इनके बिना ही, बुद्धि के सहारे, प्रकृति पर विजय की दुन्दुभि बजा दी।

मानवजीवन की एक प्रतिष्ठा है। मानव महान् है, पवित्र है। उसकी अलग ही अपनी एक सत्ता है। समाज के धरातल पर मानव के साथ, उसकी प्रतिष्ठा को स्वीकार कर, श्रेष्ठ व्यवहार करना, मानव को धन, सम्पत्ति और सत्ता की अपेक्षा ऊँचा स्थान देना तथा उसे सर्वोच्च मानकर सत्कार करना मानवता की माँग है। पापी अथवा पुण्यात्मा, अधर्मी अथवा धर्मी, नास्तिक अथवा आस्तिक, निरक्षर अथवा विद्वान्, मूर्ख अथवा चतुर, श्रमिक अथवा मंत्री, सेवक अथवा अधिकारी मानव तो मानव ही है। मानव का प्रत्येक दशा में सम्मान होना ही चाहिये।

मानवमात्र एक है। अमेरिकी अथवा अंग्रेज, यूनानी अथवा भारतीय, गोरा अथवा काला, सभी एक हैं। भाषा, संस्कृति, सभ्यता, देश अथवा राष्ट्र का भेद होने पर भी मानवजाति एक है तथा मानव एक है।

मनुष्यजातिरेकैव जाति नामोदयोद्भवा
वृत्तिभेदात् हि तत् भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।

मानव के विचार अथवा अनुभव में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उदात्त है, वह इसका अथवा उसका नहीं है, जातिगत अथवा देशगत नहीं है, वह सबका है, सारे विश्व का है। समस्त ज्ञान, विज्ञान और सभ्यता सारी ही मानवता की विरासत है। भले ही एक विचार का जन्म किसी अन्य देश में भिन्न भाषा-भाषी लोगों के द्वारा हुआ हो, वह हमारा भी है, सबका है । पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के भेद, अक्षांश और देशान्तर का भेद, तथा जलवायु और भौगोलिक सीमाओं के भेद सर्वथा निराधार हैं। सम्प्रदाय, समुदाय और जाति के नाम पर आदर्शों, मूल्यों की प्रस्थापना करना संकीर्णता के वातावरण में मानवता का दम घोटना सा है। जो कुछ भी उपलब्धि है, वह चाहे जिस भू-भाग की उपज हो, मानव की है, सभी की है। वेद, कुरान, बाइबिल, गीता, धम्मपद, अवेस्ता, मानवमात्र की विरासत हैं। पैगम्बरों और संतों पर किसी विशेष जाति या देश का एकाधिकार नहीं हो सकता है। वेदव्यास, ज़रथुश्त्र, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, कनफ्यूशस, लाओत्से, मूसा, नानक, एक ही मानवता के पथप्रदर्शक रत्न हैं। आर्यभट, आर्कमेडीज, न्यूटन और आइन्स्टीन, व्यास, वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, सूर, तुलसी, प्रसाद, दान्ते, होमर, गेटे, विर्जिल, शेक्सपीयर, मिल्टन, शेख सादी आदि मानवमात्र के हैं। कणाद, पतंजलि, गौतम, सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, हीगल, कान्ट, स्पिनोजा, लायेबनीज, फ्रायड, जुंग, जेम्स, डारविन, स्पेंसर, रूसो, मिल, मार्क्स, एंजिल, रस्किन, टालसटाय, ऐमरसन, रसल और गाँधी के विचारों में भले ही भेद हो; किन्तु मूलतः इन सबने मानव कल्याण के लिये ही गहन चिन्तन और मनन किया तथा जनहित के आधार पर नई-नई विचारधाराओं को जन्म दिया। ये सभी मानवमात्र के अमर प्रेरणास्रोत हैं। इन सभी ने मानवजीवन की दशा को अच्छा बनाने के लिये सामूहिक एवं वैयक्तिक प्रयत्न करने की प्रेरणा दी तथा मानव के विकास में योगदान देकर ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया। महापुरुषों तथा पैगम्बरों की एक दूसरे से तुलना करना अथवा उन्हें एक दूसरे से छोटा-बड़ा कहना उनके प्रति अन्याय है तथा हमारी क्षुद्रता है। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि मेंढक हाथियों को तोलने का प्रयत्न कर रहे हैं। सभी अपने-अपने स्थान पर बड़े हैं, सभी से प्रेरणा लेनी चाहिये, शिक्षा लेनी चाहिये। महापुरुष परस्पर विरोधी नहीं होते हैं, एक दूसरे के पूरक होते हैं। महापुरुषों में अपने युग और देश की विशेषताएँ होती हैं। विवेकशील मनुष्य नम्रतापूर्वक महापुरुषों से शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है।

समस्त मानवता उनके प्रति कृतज्ञ है। किन्तु अब हमें उनसे आगे बढ़ना चाहिये क्योंकि ज्ञान की इतिश्री नहीं होती है तथा किसी का शब्द अन्तिम नहीं होता है। संसार एक खुली पाठशाला है, जीवन एक खुली पुस्तक है। सदैव सीखते ही रहना चाहिये तथा सीखना ही आगे बढ़ने के लिये नये रास्ते खोलता है।

विकास की क्रिया के मूल में मानव की पूर्ण बनने की अपनी प्रेरणा है। विकास के लिये समन्वय की भावना होना परम आवश्यक होता है। यदि हम विभिन्न विचारधाराओं एवं उनके जन्मदाता महापुरुषों का पूर्ण खण्डन अथवा पूर्ण मण्डन करें तो विकास-पथ अवरुद्ध हो जायेगा। अतएव समन्वय की भावना से युक्त होकर, सब ओर से सार वस्तुओं को ग्रहण करते हुए हम उनका लाभ उठा सकते हैं। किसी धर्म-विशेष या मान्यता के खूंटे के साथ संकीर्ण भाव से बंधकर तथा परम्पराओं और रूढ़ियों से जकड़े हुए रहकर, हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं। जो ग्रन्थ, विचार, स्थान अथवा व्यक्ति "पवित्रता" की आड़ में सर्वगम्य नहीं है, वह पवित्र नहीं रह सकता है। सत्य विश्वव्यापी होता है और सभी की निधि होता है।

मानव को मानव के रूप में सम्मानित करके ही हम जातीयता, प्रान्तीयता, क्षुद्रराष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के भेद को तोड़ सकते हैं। आज मानव मानव से दूर हटता जा रहा है। वह भूल चुका है कि देश, धर्म और जाति के विभिन्न होते हुए भी हम सर्वप्रथम मानव हैं और समान हैं तथा सभी की भावनाएं और लक्ष्य एक ही हैं। आज धर्म, देश, सत्ता, धन आदि का भेद होने से एक मानव दूसरे मानव को मानव ही नहीं मानता है। कभी-कभी स्वधर्मी विधर्मी को, स्वदेशी विदेशी को, अफसर चपरासी को, धनिक निर्धन को तथा विद्वान् निरक्षर को इन्सान ही नहीं समझता है और वह भूल जाता है कि दूसरे को भी समान रूप से इच्छा, भूख, प्यास सताते हैं तथा उसे भी प्रेम और आदर चाहिये। वह भूल जाता है कि दूसरे में भी स्वाभिमान का पुट है, उसे भी विश्राम की आवश्यकता है और उसे भी अपने बच्चे प्रिय हैं अथवा वह भी अपनी सन्तान के लिए कुछ करना चाहता है। सत्ताधारी मनुष्य दूसरों को कुचल कर सुख सुविधाओं पर एकाधिकार कर लेना चाहता है। लेकिन एक आकाश के नीचे रहने वाले इन्सान इन्सान तो सब एक हैं। भले ही कोई कुदाल लेकर श्रमिक का कार्य करता हो, कोई कलम लेकर दफ्तर का, किन्तु लक्ष्य एक है—समाज का अभ्युदय। कार्य भेद होते हुए भी सब इन्सानी बिरादरी के एक-से हक़दार हैं। सब भाई-भाई ही तो हैं, सब ही अपने-अपने स्थान पर विशेष हैं। मानवता का नाता ही श्रेष्ठ नाता है। "नौकर" कहकर

पुकारना मानो मानव का अपमान है। "सहयोगी", "सहायक" अथवा सस्नेह उसका नाम कहकर संबोधन करना मधुर है। अपराधी को भी जेल में डालने और फांसी देने के स्थान पर सुधारशालाओं में रखना चाहिये। उसमें लुप्त मानवता को पुनः जगाना मानवोचित है। जेल और फाँसी का विधान मानवता का कलंक है। दण्ड पशु के लिये है, मानव के लिये नहीं। अपराध के दण्ड में हाथ पैर काटना, आँखें फोड़ना पाशविक है, मानवीय नहीं है। एक सीमा तक दण्ड भी आवश्यक होता है किंतु दण्ड का आतंक समाज को पंगु बना देता है। हमें अपराध वृत्ति का शमन करके अपराधी को शिष्ट एवं सभ्य मानव बनाना चाहिये। किन्तु यह आदर्श स्थिति है और धीरे-धीरे ही इसकी उपलब्धि संभव है। दया मानवता का सार है। सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा, दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्। देवी भा० ३।११।३६ अर्थात् दया छोड़कर सत्य भी सत्य नहीं है। दया प्रेरित असत्य भी व्यावहारिक सत्य है। दयाधर्म मानव धर्म है।

मानव विश्व की श्रेष्ठ विभूति है, सृष्टि का शृंगार है, पृथ्वी की शोभा है, प्रकृति का उत्कृष्ट प्रसून है। मानव को 'छोटा' कहकर अपमानित न करना चाहिए। "महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति" (मनुस्मृति)। मनु महाराज ने कहा था--महान् देवता मनुष्य रूप में ही तो है। इसी प्रकार महाभारत में भी कहा गया है कि मनुष्य से बढ़कर कहीं कुछ नहीं है। "गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि, न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" (शान्तिपर्व) गाँधी जी कहा करते थे--मनुष्य मेरा प्रथम विचार्य है "The supreme consideration is man. The individual is the one supreme consideration."

गाँधी जी का कहना था कि हम मशीन और धन को मनुष्य से बड़ा मान बैठे हैं और धनार्जन हेतु मशीन के द्वारा मनुष्य का शोषण करते हैं। मानव मानव की मजबूरी का लाभ उठाकर उसके साथ पशुवत् व्यवहार करे और उसे अपने समान मानव ही न समझे, यह घोरतम पाप है। गाँधी जी कहते थे कि "आज बड़े-छोटे का भेद भूल जाने और मानवमात्र को समान समझने से बड़ा अन्य कोई त्याग नहीं है।"

समानता मानवता का मूलाधार है। यदि भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए भी परस्पर समानता एवं बन्धुत्व की भावना नहीं है तो मानवता का भाव कहाँ है? रिक्शा से एक मानव अन्य मानवों को थोड़े से पैसों के लिये घोड़ा बनकर खींचता फिरे तथा उसे पहनने के लिये कपड़ा, पेट भर रोटी और मानवोचित सत्कार भी न मिले और उसे "छोटा" मानकर घृणा की दृष्टि से देखा जाये तो मानवता कहाँ है! घर में आकर मल उठाकर ले

जाने वाले स्वच्छता कर्मचारी को घृणा की दृष्टि से देखा जाये और उसे त्याज्य अथवा अस्पृश्य कहकर उसके साथ निकृष्ट व्यवहार किया जाये तथा उसे पेट भरने तथा तन ढकने के लिये पर्याप्त पैसा भी न दिया जाये तो क्या वह मानवता की जघन्य हत्या नहीं है ? समानता मानवता का सार है। वेद पुकार कर कहता है, "अज्येष्ठासोऽकनिष्ठास एते, संभ्रातरौ वावृधुः सौभगाय"। वेद की दृष्टि में न कोई ज्येष्ठ (बड़ा) है, न कनिष्ठ (छोटा) है, सभी के साथ भाई के रूप में व्यवहार कर समाज का अभ्युदय करना चाहिये। वेद में अनेक स्थानों पर साथ रहकर भाई की तरह व्यवहार करने का आदेश है। इसी कारण वेद मानवमात्र के ग्रन्थ हैं, न कि केवल किसी जाति विशेष के लिये हैं।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। ऋग्० १०।१०।१।२ अर्थात् तुम सब एक होकर प्रगति करो, उत्तम प्रकार से संवाद करो, तुम सबके मन उत्तम संस्कारों (बन्धुत्व की भावना आदि) से युक्त हों। समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मंत्रमभिमंत्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि। ऋग् १०।१९१।३ अर्थात् तुम सबके विचार एक हों, तुम्हारी सबकी सभा एक जैसी हो, तुम सबका मन एक विचार से युक्त हो, इन सबका चित्त भी सबके साथ ही हो, तुम सबको एक ही विचार से युक्त करता हूँ और तुम सब को एक प्रकार के अन्न और उपभोग देता हूँ। समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः समानमस्तु वो मनो, यथा वः सु सहासति। ऋग्० १०।१९४।४ अर्थात्, तुम सबका ध्येय समान ही हो, तुम सबके हृदय समान हों, तुम सबका मन समान हो जिससे तुम सब समान होगे। "नृभिः आ प्रयाहि" (वेद) अर्थात् मनुष्यों के साथ रहकर प्रगति करो। इसी आधार पर वेद आदेश करता है--जनेभ्यः मा प्रमदः। अर्थात्, मनुष्यों की लापरवाही मत करो। यजुर्वेद कहता है, 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'। हमें आपस में हितैषी मित्र की भाँति सबको देखना चाहिये। यदि समानता पर आधारित मैत्रीभाव एवं बन्धुत्व भाव हैं तो समाज में स्थायी प्रगति, शांति, और सुख होंगे।

सभी ईश्वर के अंश हैं, सबमें समान रूप से परमात्मा विराजमान है। "समोऽहं सर्वभूतेषु" (गीता) अर्थात् मैं (ईश्वर) सभी में समान रूप से हूँ। भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्॥ (गीता) अर्थात् भगवान् वासुदेव सभी प्राणियों में हैं यह शाश्वत ज्ञान ही सारे धर्म का मूल है। सबमें प्रभु को देखने वाले समदर्शी व्यक्ति का व्यवहार ही भजन हो जाता है। समत्व का दर्शन अद्वैतभाव (जीवो ब्रह्मैव--

जीव स्वयं ही ब्रह्म है, आत्मा अंश-अंशी भाव से परमात्मा ही है) में सन्निहित होता है। सर्वत्र एक ही ईश्वर तत्त्व है, ऐसा मानने पर समत्व सिद्ध हो जाता है। समस्त जगत् सियाराममय भासने पर सब समान प्रतीत होते हैं। इसी के आधार पर गीता में सबके साथ भ्रातृभाव रखने का प्रतिपादन हुआ है। भगवान् को अहंभाव ग्रस्त व्यक्ति प्रिय नहीं है। न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः। सज्जतेऽस्मिन्नहं भावो देहे वै स हरेः प्रियः ।। श्रीमद्भागवत् (११।२।५१) भगवान् को वह भक्त प्रिय है जो जन्म, कर्म, वर्ण आश्रम और जाति आदि का अहंकार नहीं करता है। शबरी, निषाद आदि की कथाएं इसे प्रमाणित करती हैं। पाप मूल अभिमान। अभिमान अन्याय का कारण होता है और शोकप्रद होता है। सकल सोक दायक अभिमाना। अभिमान और समभाव में परस्पर विरोध होता है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः" ।। ६।३२ (गीता)। अर्थात् अपने समान ही समभाव से सर्वत्र देखना श्रेष्ठ योगी का लक्षण है। इसी के तुल्य अन्यत्र भी कथित है "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।" (विष्णु धर्मोत्तर) अर्थात् यह धर्म का सार सुनो और सुनकर धारण कर लो कि अपने प्रतिकूल व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये। यदि मुझे अपमान सहन नहीं होता तो मैं दूसरों का अपमान क्यों करूँ? यदि मुझे प्यास लगती है और मुझे सत्कार चाहिये तो श्रमिक, परिचारक को भी भूख-प्यास सताती होगी और उनकी भी कोई आत्मप्रतिष्ठा होगी। जो मुझे अप्रिय लगता है, वह मैं दूसरों के साथ न करूँ। महाभारत में इसे ही दूसरी प्रकार से कहा है, "न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः। एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते" (महा० अनु ११३।८)। जो कुछ भी अपने प्रतिकूल है, उसे दूसरे किसी के साथ भी न करें, तथाकथित निम्नस्तर के आदमी के साथ ही अभद्र व्यवहार क्यों करें? धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, दान-व्रत, जप-तप और तीर्थयात्रा-यज्ञ करने पर यदि अहंकारवश एक इन्सान का दिल दुखा दिया, एक इंसान को सता दिया तो समस्त पुण्य इस अपराध से मुक्त नहीं करा सकता है क्योंकि मानव हृदय में ईश्वर सन्निविष्ठ है। मानवधर्मो परमधर्मः (शिवानन्द)। मानवधर्म परम धर्म है। अधंकार त्याग कर मानव सेवा में जुट जाना मानवधर्म है, सच्ची मानवता है। मौलाना रूम साहब फारसी में फरमाते हैं—मै बखुर, मसहफ बसोजो आतिश अन्दर काबाजन। हर चे खाही कुन, बलेकिन मरदुम आजारी मकुन। अर्थात्, तू शराब पी, पवित्र धर्मग्रन्थ जला, काबे के अन्दर आग लगा, जो चाहे कर, लेकिन मानव को न सता। समाज की व्यवस्था बिगाड़ना "अपराध" होता है; किन्तु दिल दुखाना

अथवा सताना "पाप" होता है। "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" श्रेष्ठ व्यक्ति सब प्राणियों में समभाव रखता है, क्योंकि प्रभु सब में समान है "समः सर्वेषु भूतेषु" (गीता)। वह किसी में छोटा बड़ा, पापी पुण्यात्मा, अज्ञ विद्वान् आदि भेद नहीं करता है। व्यक्तिगत भेद मानवों में होते हैं तथा कर्म क्षेत्र में कार्य भेद भी होता है और लोक व्यवहार में भी कुछ अवश्य वर्तना हो सकता है। किन्तु फिर भी मानवमात्र एक हैं तथा मूलतः सब समान हैं और सभी भगवान् की सन्तान (अमृतस्य पुत्राः) होने के नाते भाई-भाई हैं, यह मौलिक बात भूलनी नहीं चाहिये। अंगद रावण से कहता है--सुनु सठ भेद होई मन ताके। श्री रघुबीर हृदय नहि जाके॥ अर्थात् ईश्वर का उपासक भेद नहीं मानता, उस पर भेदनीति का प्रभाव भी नहीं होता। 'राम प्रताप विषमता खोई'। ईश्वर भक्त सामाजिक विषमता को स्वीकार नहीं करता है। समत्वंयोगमुच्यते (गीता)। समत्व ही योग है। सब को एकरूप देखना, समभाव से देखना ही योग है। पण्डिताः समदर्शिनः (गीता)। समदर्शी ही पण्डित होते हैं। सभी पैगम्बरों ने जीवमात्र को समान प्रेम दृष्टि से देखा है। एक परिवार के सदस्य विभिन्न स्तरों पर तथा क्षेत्रों में काम करते हुए भी सुखपूर्वक एक साथ बैठते हैं, रहते हैं और परिवार के सुख के लिए सहर्ष धन का उपयोग समान रूप से करते हैं। मानव जाति एक परिवार हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सारी पृथ्वी हमारा कुटुम्ब है। कोई देश तभी राष्ट्र कहलाने के योग्य होता है जब वहाँ के रहने वाले सभी एक परिवार के सदस्यों की भाँति परस्पर प्रेम, त्याग एवं सहयोग से हिलमिल कर रहते हों। परस्परोपग्रहो जीवानाम् (तत्वार्थ सूत्र) अर्थात् जीव परस्पर उपकृत होते रहते हैं। मनुष्य एक-दूसरे का उपकार (परस्पर सहयोग) करके ही आगे बढ़ सकते हैं। छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच का भाव छोड़कर ही आगे बढ़ना धर्म्य है। विश्व शांति के लिये हमें परस्पर सहनशील, परस्पर सहयोगी बहुविध समाज की ओर बढ़ना होगा। राजनीतिक व्यवस्था में भी अतिवाद अशान्तिकर होता है। यदि राष्ट्रीयता राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधने के स्थान पर विलगाव उत्पन्न कर दे तो वह भी निन्दनीय है।

सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं। समानता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। समानता की उपलब्धि में मानव की उच्चतम आकांक्षा निहित है। आर्थिक और सामाजिक स्तर पर विषमता की खाई मानव को मानव से दूर कर रही है। धरती माता और धरती की धनसम्पदा सबकी है तथा उस पर कुछ व्यक्ति-विशेषों का एकाधिकार होना सर्वथा अनुचित एवं अन्याय है। गुणों का विशेष समादर करना उचित है किन्तु अर्थसंग्रह अथवा सत्ता के आधार पर व्यक्ति-पूजा नितान्त अनुचित है।

मानवीय मूल्यों में सर्वप्रथम समानता है। समान होने का अर्थ है किसी को विचार, धर्म, धन आदि के द्वारा दास न बनाना। अतः स्वतन्त्रता दूसरा मानवीय मूल्य है। समानता के बिना स्वतन्त्रता ठहर नहीं सकती है। यदि लोगों को गाली देने की स्वतन्त्रता है किन्तु समानता नहीं है तो उस समाज में सुख नहीं हो सकता है। वास्तव में दोनों परम आवश्यक हैं। समानता भी स्वतन्त्रता के बिना अपंग ही है। पिंजड़े में बन्द पक्षी के मधुर स्वर में भी कहीं करुण क्रन्दन छिपा रहता है, स्वतन्त्रता के आकाश में उड़ने पर ही मुक्तकण्ठ एवं उदात्त गान संभव होता है। मनुष्य के लिये स्वतंत्रता से बढ़कर अन्य कोई वरदान नहीं है किन्तु स्वतंत्रता विकृत होकर उच्छृंखलता न बन जाये। समान और स्वतन्त्र होकर बन्धुत्व के नाते परस्पर सहयोग होने पर मानव समाज आगे बढ़ता है। मानव प्रगति रथ के चार पहिये हैं—समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, सहयोग। किन्तु शांति और सुख के लिये कुछ और भी चाहिये। जहाँ एक ओर धन-उत्पादन की आवश्यकता है, वहाँ धन वितरण भी इस प्रकार होना आवश्यक है कि मानव समाज का कोई अंग अविकसित न रहे। हेज़लिट ठीक कहता है कि सच्ची समानता ही सच्ची नैतिकता है।

धन-सम्पत्ति पर कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार होना सन्तों को भी असमान्य रहा है। मनुष्य धन-सम्पत्ति लेकर उत्पन्न नहीं होता है, और न साथ लेकर मरता है। मनुष्य उत्पन्न होकर पृथ्वी पर ही धन-सम्पत्ति प्राप्त करता है और यहीं उसे छोड़ जाता है, अतएव स्वामित्व का भाव तथा एकाधिकार जमाना असंगत है। प्रकृति का विधान ही ऐसा है। पृथ्वी और पृथ्वी का धन पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले सबका समान है। उसे हड़पना अन्याय है। "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" (वेद) पृथ्वी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ, उत्तराधिकारी हूँ। "वयस्कृत तव जामयो वयम्" (वेद) हम सभी एक पिता की (समान रूप से) सन्तान हैं। मनुष्य का धन-सम्पति पर स्थायी अधिकार कितना खोखला है, इस बात से भी प्रमाणित होता है कि एक बार में धनिक मनुष्य भी भोजन और वस्त्र की उतनी ही मात्रा का उपभोग कर सकता है जितना एक निर्धन व्यक्ति, भले ही धनिक के पास कितना भी प्रचुर भोजन, वस्त्र रखा हो। मौलिक आवश्यकताएँ सबकी समान हैं। हां, यह तो ठीक है कि धन उत्पादन करने में सहायक व्यक्तियों को उनकी बौद्धिक दक्षता, श्रम आदि के अनुसार पूरी सुविधाएं तथा प्रोत्साहन एवं पुरस्कार के रूप में कुछ विशेषाधिकार अवश्य मिलने चाहियें, किन्तु समस्त धन-सम्पत्ति पर समाज का ही स्वामित्व होना चाहिये। यह भी ठीक है कि आबंटन का आधार पात्रता होना चाहिये अन्यथा वह परिश्रमप्रेरक न रहकर निष्क्रियता को प्रोत्साहित कर देगा। हम धन उत्पादन

करें--समाज के लिये, न कि केवल व्यक्ति विशेष अथवा उसके परिवार के लिये ही।

हाँ, एक निर्धन देश में सर्वप्रथम पर्याप्त काल तक उत्पादन बढ़ाकर समृद्ध होने का सामूहिक प्रयत्न होना चाहिये और इस अवधि में यथासंभव समानता का प्रयत्न करते हुए भी वितरण में भेद रहना स्वाभाविक ही है। समृद्धि अथवा उत्पादन संवृद्धि प्रथम आवश्यकता है। उत्पादन में योगदान करने वाले विशिष्ट जन को सम्मानित और पुरस्कृत करना तथा पूर्ण सुविधा देना उचित एवं प्रेरणादायक है। उद्योगों से अर्जित धन का अधिकाँश उद्योगों के प्रसार में ही लगना चाहिये क्योंकि वह राष्ट्रहित में होता है। गरीबी की अवस्था में लाये हुए समाजवाद में गरीबी बटती है, उत्पादन बढ़ाने पर लाये हुए समाजवाद में धन बंटता है, समृद्धि बंटती है। अतएव समाजवाद का प्रारम्भिक चरण अथवा उसकी सफलता का आधार उत्पादन है। सब को धराशायी बनाकर तो कब्रिस्तान की समानता ला सकते हैं, विनाश ला सकते हैं। जितना बल समान धन वितरण पर दिया जाता है, प्रारंभ में उससे कहीं अधिक बल श्रम एवं उत्पादन पर देना चाहिये। श्रम के बिना तो हम अपने पैर से चुभता हुआ काँटा भी नहीं निकाल सकते हैं और सामने रखे हुए भोजन को पेट में नहीं पहुँचा सकते हैं। शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम उत्पादन की प्रमुख आवश्यकता है। श्रम से पूर्व श्रम का संकल्प होना आवश्यक है। व्यक्तियों में गुण, शक्ति, क्षमता आदि भेद होने के कारण उनकी उपलब्धियों में भी भेद होना स्वाभाविक है। श्रम को प्रोत्साहन देने के लिये पुरस्कार भेद करना अनिवार्य है। व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि गुण एवं शक्ति के अनुसार समान स्तर के लोगों को विकास के लिए समान अवसर प्राप्त हो सकें तथा कोई व्यक्ति दूसरों को कुचल कर अथवा शोषित करके ऊपर न उठे। अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी शक्ति एवं क्षमता के अनुरूप राष्ट्रहित में सबका विकास हो। वृक्ष की प्रत्येक शाखा को प्रकाश एवं शुद्ध वायु चाहिये। वृक्ष की ऐसी व्यवस्था होती है कि प्रत्येक पत्ते को प्रकाश, धूप और वायु मिलती है और सबका विकास अपने-अपने स्थान पर होता है। वृक्ष का मूल सब अंगों का समान पोषण करता है और सभी अंग वृक्ष के विकास में पूरा योगदान करते हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना पूर्ण विकास करे तथा समाज व्यक्ति के विकास में पूर्ण सहयोग दे। व्यक्ति का विकास समाज के लिये और समाज का विकास व्यक्ति के लिये होना चाहिये। व्यक्ति को उत्पादन एवं उन्नति का उद्दीपन (incentive) सदैव मिलना चाहिये; किन्तु उसकी मर्यादा और व्यवस्था हो।

परिश्रम एवं सच्चाई से धन उत्पादन करने और धन का सदुपयोग करने की सराहना होनी चाहिये, उसे राष्ट्रहित में पुरस्कृत करना चाहिये। अनधिकारी को पुरस्कृत करना पुरस्कार का मूल्य घटाना है तथा वह पतनकारक होता है। पाप एवं शोषण से धन कमाना व्यक्ति एवं राष्ट्र के लिये घातक होता है। उत्पादन-क्षमता-सम्पन्न व्यक्तियों की उत्पादन-क्षमता का आदर होना चाहिये तथा उनकी क्षमता का उपयोग समाज के हित में अवश्य होना चाहिये। उत्पादन-व्यवस्था में श्रमिकों का भागीदार होना अवश्य लाभकारी हो सकता है यदि प्रबंधकों और श्रमिकों के परस्पर सहयोग में भ्रातृत्व एवं सचाई हो। समाज के लिये धन उत्पादन करना हमारा पुनीत सामाजिक एवं नैतिक कर्त्तव्य है, समाज में धन का सम्यक् एवं न्यायपूर्ण वितरण करना राज्य का पवित्र कर्त्तव्य है।

धन-सम्पत्ति पर एकाधिकार होना अनैतिक है, और सर्वथा अशान्तिकारक है। आज अधिकाँश धनिकजन वैज्ञानिक खोजों का लाभ उठाकर संचित पूंजी से खरीदी हुई मशीनों के द्वारा, धन-उत्पादन के नाम में, मनुष्यों का शोषण कर रहे हैं। "बहुजनहिताय" अथवा निःस्वार्थ सेवाभाव से कारखाने कौन खोल रहा है? प्रायः सभी लोभ से प्रेरित होकर शोषणवृत्ति के द्वारा धन कमाकर तथा उन पर व्यक्तिगत अधिकार जमा कर, धन के आधार पर ही बड़ा बनने का, समाज में अपना व्यक्तिगत स्थान (स्टेटस) बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यद्यपि आर्थिक प्रेरणा उत्पादन के लिये अत्यन्त आवश्यक है, यह प्रायः धन संग्रह की होड़ का कारण बन जाती है और समाज में धन प्रतिष्ठा-प्रतीक बन जाता है। धन संग्रह की होड़ मूल्यहीनता, अनैतिकता एवं चरित्र-हीनता को बढ़ावा देती है और अपार धन अर्जन करना जीवन की सफलता का मानदण्ड बन जाता है। धन ही सब कुछ है--यह भावना व्यक्ति एवं समाज के लिए परमघातक है। परिग्रह वृत्ति ही सम्पत्तिवाद, पूंजीवाद, सत्ता-वाद एवं अधिनायकवाद के मूल में है तथा स्वतंत्र मानववाद एवं सर्वकल्याण-कारी समाजव्यवस्था की विरोधी है। धन अर्जन के लिये प्रोत्साहन होना चाहिये; किंतु समाजहित में धन संग्रह (परिग्रह) पर रोक होना भी आवश्यक है। धन समाजसेवा की प्रेरणा दे, न कि व्यक्तिगत भोगैश्वर्य की। शोषण की चक्की में पिसने वाले मेहनतकश के लिये मानो कहीं राहत नहीं है। बुभुक्षितः किं न करोति पापम्? भूखा क्या पाप नहीं करता है? भूख की चपेट में, गरीबी के सख्त शिकंजे में छटपटाता हुआ, मनुष्य दिन भर एक मुट्ठी अन्न की तलाश में सड़क के कुत्ते की तरह दर-दर भटक कर पेट न भर सके और कड़कड़ाते जाड़े में रात को ठंडी हवा से अपनी सूखी हड्डियों को न बचा

सके, यह दुर्व्यवस्था पाप की ही प्रेरक है। वास्तव में पापी तो वह समाज है जो इसे देखकर अनदेखा कर देता है। समाज में धन की पूजा होना तथा मानवीय गुणों का निरादर होना पतन का सूचक होता है। व्यंगोक्ति है "लक्ष्मीपति के पांव की धोवन पूजत गंग।" प्रायः पैसे और पद के उन्माद में मनुष्य शोषण करने में संकोच नहीं करते हैं और अपने कुकृत्यों को शराफत के जामे से ढक देते हैं। धन ही है झगड़ों और अधिकांश पाप की भी जड़। इस पर दक्ष व्यक्तियों का संरक्षण एवं नियंत्रण होना उचित है, किन्तु एकाधिकार होना सन्त सम्मत नहीं है।

वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र धनार्जन की प्रशंसा की गई है तथा धन की निन्दा कहीं भी नहीं है किन्तु साथ ही अनासक्ति, निर्लेपता की भी प्रशंसा है। दान, समाज के लिए दान, श्रेष्ठ पुण्य माना गया है। "दानाय अर्ज्यते", दान के लिए ही प्रचुर धन कमाया जाना चाहिए। समाज गौ की भाँति है जिसका दोहन करना उचित है; किन्तु शोषण गर्हित है। गौ का दोहन करने से पूर्व और पश्चात् उसका पोषण करना परम आवश्यक होता है। अतः व्यक्ति धन उत्पादन में पूर्ण सहयोग दे किन्तु उस पर एकाधिकार न कर बैठे बल्कि अधिकतम अर्जित धन समाज के उपयोग के लिए दान कर दे। (राज्य को कर (टैक्स) देते समय यदि यह भावना हो कि हम समाज का धन समाज के हित में दे रहे हैं और कर को दान भावना से दिया जाये तो करों की चोरी न हो तथा कर देना सुखद हो जाय।) हम समाज अथवा किसी वर्ग (श्रमिक वर्ग इत्यादि) का दोहन तो करें किन्तु पोषण भी करें तथा शोषण तो कदापि न करें।

वन्दनीय गाँधी जी ने कहा था, "आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूंजी और श्रम के बीच शाश्वत संघर्ष का अन्त करना। इसका मतलब जहाँ एक ओर यह है कि जिन थोड़े से अमीरों के हाथ में राष्ट्र की सम्पदा का कहीं बड़ा अंश केन्द्रीभूत है, उनके उतने ऊँचे स्तर को घटाकर नीचे लाया जाये, वहाँ दूसरी ओर यह है कि अध-भूखे और नंगे रहने वाले करोड़ों का स्तर ऊंचा किया जाये। अमीरों और करोड़ों भूखे लोगों के बीच की यह चौड़ी खाई जब तक कायम रखी जाती है तब तक तो इसमें कोई संदेह ही नहीं कि अहिंसात्मक पद्धति वाला शासन कायम हो ही नहीं सकता। हिंसात्मक और खूनी क्रांति एक दिन होकर ही रहेगी अगर अमीर लोग अपनी सम्पत्ति और शक्ति का स्वेच्छापूर्वक ही त्याग नहीं करते और सबकी भलाई के लिए उसमें हिस्सा नहीं बंटाते।" यह राष्ट्रपिता गाँधी जी की चेतावनी है कि यदि समय का संकेत अमीर लोग न पहचानेंगे तो रक्त क्रांति के उत्तरदायी वे ही होंगे। जो कदम सारे समाज के लिये हितकर है वह अमीरों के भी खिलाफ

नहीं हो सकता है। पूंजीपतियों के द्वारा शोषण और सत्ताधारियों के द्वारा अन्याय--ये दोनों दोष प्रतिक्रिया उत्पन्न करके गौतम और गाँधी के देश में क्रांति के कदमों को तेज कर रहे हैं। किन्तु भारत जैसे भव्य एवं विशाल देश में श्रेष्ठ राजकीय कानून तथा जनता के सहयोग के द्वारा ही मानवीय मूल्यों की प्रस्थापना होना सम्भव है। रक्त क्रांति की कल्पना अनार्य है। हिंसा से प्राप्त व्यवस्था न शान्तिकारक हो सकती है और न स्थायी ही। क्रांति लाने के स्थान पर सुधार का प्रयत्न करना चाहिये।

आज के धनिक प्रायः भूल गए हैं कि "तन पवित्र सेवा किये, धन पवित्र दिये दान"। आज धन उत्पीड़न, शोषण, दासता, घृणा, द्वेष, ऊँच-नीच, युद्ध और रक्तपात का कारण बन रहा है। "फकीरे शहर के तन पर लिबास बाकी है, अमीरे शहर के अरमां अभी कहाँ निकले।" धन तो परोपकार के लिए ही होता है। कठोपनिषद् का वाक्य है--"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" अर्थात् धन संग्रह से मनुष्य को शान्ति नहीं होती है। वेद स्वार्थपूर्ण धनसंग्रह को विपत्ति का कारण मानता है। मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। अर्थात् मैं सत्य कहता हूं कि स्वार्थ के लिये अन्नसंग्रह (धनसंग्रह) मनुष्य के लिये वध (विपत्ति) का कारण होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ने तो स्पष्ट कहा कि धन से अमृतत्व (अमरता) प्राप्त होने की आशा ही नहीं है, "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन।" बेन जानसन ने भी इसी प्रकार कहा था—धन ने किसी को सचमुच धनी नहीं बनाया बल्कि उसके मानसिक विकास ने ही सच्चा धनी बनाया है (Money never made any man rich but his mind—Ben Jonson)। शोषणपूर्ण एवं स्वार्थपूर्ण धनसंग्रह से जीवन के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती है। इसी आशय से महात्मा ईसा ने कहा था-- सूई की नोक में से ऊंट का गुजरना सम्भव हो सकता है किन्तु धनिक स्वर्ग में नहीं घुस सकता है। यह परिग्रह पर कुठाराघात है।

विदुर कहते हैं–अदत्वा परसन्तापं, अगत्वा खल मन्दिरम्।
अनुल्लंघ्य सतां वर्त्म, स्वल्पमपि तद् बहु॥

अर्थात्-किसी अन्य को न सता कर, किसी दुष्ट के घर न जाकर, सज्जनों के मार्ग का उल्लंघन न करके, अर्थात् नेकी से कमाये हुए, थोड़े से धन को भी बहुत (पर्याप्त) समझना चाहिये।

एक सुप्रसिद्ध नाटककार ने लिखा है—जो है मंजूर धन रक्षा, धनवानो बनो दानी। कुएँ से जल न निकलेगा तो सड़ जायेगा सब पानी। दिया जल हमको बादल ने, तो ऊंचा हो गया बादल। रहा नीचा ही सागर है, अदाता को

पशेमानी। कोई धन देता है मरकर, कोई मरता है, धन देकर। जरा से फर्क में बन जाते हैं ज्ञानी से अज्ञानी ।। राग (आसक्ति) के सदृश कोई दुःख नहीं है और त्याग के सदृश संसार में कोई सुख नहीं है। न हि राग समं दुःखं, न हि त्याग समं सुखम्। त्याग से तुरन्त शांति होती है--त्यागात् शान्तिः अनन्तरम् (गीता १२-१२)। सचमुच धन की तीन गति हैं--दान, भोग और नाश। समाज कल्याण हेतु दान देना श्रेष्ठ गति है। कुछ अभागे ऐसे मोहपाश-बद्ध होते हैं कि वे न स्वयं धन भोगते हैं, न दान ही देते हैं। मधुमक्खी मधु को एकत्रित करती है किन्तु वह स्वयं उसे कदापि नहीं खाती है और खाने का प्रयत्न करने वाले को डंक मार देती है। कृपण नृप (धनिक) शूल के सदृश होता है। द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बध्वा दृढ़ां शिलाम्। धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्। दो आदमियों को गले में मजबूत पत्थर बांधकर जल में डुबो देना चाहिये-- धनी होकर दान न करने वाले को तथा निर्धन होकर परिश्रम न करने वाले को। कृपण धन की चौकीदारी करते हुए ही मर जाते हैं। जिनके मन में भूख से तड़पती मानवता के लिये टीस और दर्द नहीं है, जो सामर्थ्यानुसार भूखे-नंगों की सेवा सहायता नहीं करते, वे मानव के रूप में दानव हैं। भूखे आदमी का पेट भगवान् का पेट है, नंगे गरीब का देह ईश्वर का देह है। गोल्डस्मिथ ने कहा था कि वह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि एक ओर धन कुछ हाथों में इकट्ठा हो रहा हो, दूसरी ओर मनुष्य नष्ट हो रहे हों और इस कारण देश में दोष और पाप बढ़ रहे हों।

> "Ill fares the land, to hastening ills a prey
> Where wealth accumulates and men decay."
> —*Goldsmith.*

एक ओर धनप्राचुर्य के कारण ऊंचे भवनों में भोग-विलास बढ़ रहा हो, दूसरी ओर फुटपाथ पर सोने वालों को पेट भरने के लिये रोटी तथा लाज ढकने के लिये कपड़ा न मिलता हो, वे जाड़े से ठिठुर कर सड़क पर ही मर जाते हों, तथा रोटी के लिये ईमान बेचते हों, यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। जब धनाभाव के कारण चिकित्सा न मिलने पर मां की गोद सूनी हो जाती है, मानवता चीत्कार कर उठती है। जहाँ अगणित अधनंगे फटेहाल नौजवान जिन्हें स्वयं रक्त की आवश्यकता है, अपनी भूख मिटाने के लिये क्यू में खड़े होकर अपना रक्त बेचते हों, वहाँ मानवता क्रन्दन करती है। जहाँ पेट की आग मिटाने के लिये नारी केवल मान ही नहीं विवश होकर अपना देह भी बेच देती हो, वहां इन्सानियत सिसक-सिसक कर रोती है। बेबस गरीब प्रायः अरण्य-रोदन करते रह जाते हैं और उनकी आवाज़ दबा दी जाती है या सुनी-अनसुनी कर दी जाती है। क्या

ये दृश्य हृदय को विदीर्ण नहीं करते हैं कि एक मनुष्य बाजार में कुछ खा रहा है और भूखों के झुंड उसके चारों ओर कुत्तों और चीलों की भाँति मंडरा कर उसके फेंके हुए झूठे पत्तों की ओर झपट रहे हों और झूठन से ही किसी तरह प्राण रक्षा करते हों। मानव के बाने में दानव का साम्राज्य देखकर मानवता चीख रही है, चिल्ला रही है। मनुष्य दया छोड़कर अहंकार एवं संकीर्ण स्वार्थ के कारण पर-शोषणरूप पाप में प्रवृत्त होता है। आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः, ईहन्ते काम भोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान्। (गीता १६।१२) आशा पाश से बद्ध तथा काम क्रोध में परायण मनुष्य विषयभोगों की पूर्ति के लिये अन्याय से धनादि संग्रह की चेष्टा करते हैं। यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती। कहीं धनिक दावत, दहेज और दिखावे में लाखों रुपये फूंक कर धन का गन्दा प्रदर्शन करते हों, कहीं किसी यौवनसम्पन्ना कन्या का विवाह होना भी धनाभाव के कारण समस्या बन गई हो, यह कब तक उपेक्षित होता रहेगा? सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय, पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय। वास्तव में, निर्बल की सहायता करने वाले सत्पुरुष प्रशंसनीय होते हैं। गुरु नानक ने धनिक की रोटी को निचोड़कर तथा उसमें से रक्त टपकाकर मानो शोषण एवं परिग्रह की निन्दा की थी। यदि धनिक निर्धनों की समस्याओं का सहानुभूतिपूर्ण हल करने का प्रयत्न करें और समस्त धन पर समाज का अधिकार मानकर समाज कल्याण के लिये उदारता से दान दें तो अवश्य हिंसा रुकेगी तथा समाज में सुख बढ़ेगा। राजकीय कानूनों की सफलता समाज के सहयोग पर ही निर्भर होती है। सच्चे कानून तो दिल के कानून है, इन्सानियत के कानून हैं।

शास्त्र कहता है कि जितने अन्न से पेट भरे, जितने वस्त्र से तन की रक्षा सम्भव हो, केवल उतने पर ही मनुष्य का अधिकार है तथा इससे अधिक को अपना मानने वाला व्यक्ति समाज का चोर है और दण्ड के योग्य है। "यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्ड-मर्हति"। श्रीकृष्ण कहते हैं, "तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङते स्तेन एव सः" (गीता ३।१२) अर्थात् बिना दूसरों को दिये हुए स्वयं भोगने वाला व्यक्ति चोर होता है। "भुञ्जते ते त्वघं ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गीता ३।१३) अर्थात् जो केवल अपने लिये ही भोजन पकाते हैं, धन कमाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं। "इदं न मम", यह धन-सम्पत्ति मेरी नहीं है, व्यक्तिविशेष की नहीं है। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्", सब कुछ प्रभु से ओत-प्रोत है, सब कुछ प्रभु का है, विश्वात्मा का है, समस्त धन जनताजनार्दन का है। पूर्ण एकाधिकार वेदविरुद्ध है, अनुचित एवं अन्याय है। अतिशय संग्रह चोरी

है, पाप है। त्याग परमधर्म है और व्यक्ति एवं समाज के लिये कल्याणकारक है। वेदव्यास का उपदेश है कि प्राज्ञ (बुद्धिमान पुरुष) को जैसे भी संभव हो दूसरों का सन्तोष (सेवा एवं परोपकार द्वारा) करना चाहिये क्योंकि यह श्रेष्ठ ईश्वर पूजा है। स्वार्थरहित मानव सेवा ईश्वर पूजन ही है।

येनकेन प्रकारेण यस्यकस्यापि देहिनः
सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वर पूजनम् ॥

इसीलिये सत्पुरुषों के लिये वसुधा कुटुम्ब होती है (वसुधैव कुटुम्बकम्) तथा उनकी सम्पदा परोपकार के लिये (न कि स्वयं सुखभोग अथवा विलासिता के लिये) होती है। "परोपकाराय सतां विभूतयः"। पाप-पुण्य के निर्णय में भी वेदव्यास ने धर्म का सार कह दिया है कि परोपकार करना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

तुलसी दास ने कहा है---परहित सरिस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई। इसी आधार पर तुलसीदास ने यह भी कहा है--दया धर्म का मूल है, पापमूल अभिमान। मनुष्य दया छोड़कर अहंकार एवं आसक्ति के कारण दूसरों को पीड़ा देता है। अतएव व्यक्ति का समाज सेवा के लिये आत्म समर्पित होना परमपुण्य है, परम पूजन है। सब कुछ समाज का है। समस्त सत्ता और समाज का सुख मेरे लिये हो, यह निकृष्ट व्यक्तिवाद है अथवा भोगवाद है तथा परिग्रह एवं भ्रष्टाचार का मूलकारण है। मेरा सब कुछ समाज के लिये है, यह सच्चा समाजवाद अथवा त्यागवाद है तथा सुख शांति का प्रदायक है। अपरिग्रह अथवा त्यागभाव होने पर ही व्यक्ति समाज को अधिकाधिक दे सकता है अन्यथा चोरी और संचय करेगा। समाज की शक्ति अधिक से अधिक लोगों में विकेन्द्रित हो, न कि कुछ के हाथ में केन्द्रित हो। व्यक्ति का समाजीकरण, उसके मन का समाजीकरण, समाजवाद की सफलता की आधार शिला है।

हमें अनुपयोगी एवं फालतू को निकाल फेंकने का आदेश प्रकृति प्रतिक्षण दे रही है। हमारा अपना शरीर भी अनुपयोगी तथा फालतू तत्त्व को बाहर प्रक्षिप्त करने का प्राकृतिक प्रयत्न करता है तथा जब तक वह अनावश्यक तत्त्व को बाहर नहीं निकाल फेंकता है तब तक वह इस प्रयत्न में ही संलग्न रहता है, क्योंकि अनावश्यक तत्त्व रोग एवं अशान्ति का कारण होता है। कर के रूप में अधिकाधिक धन देने में प्रसन्नता होगी यदि हम इस भावना से प्रेरित हों कि हम राष्ट्र के निर्माण में सहयोग दे रहे हैं और सभी को जनता जनार्दन की

सेवा के लिये अधिकतम संभव योगदान देना चाहिये। कर राष्ट्रीय दान होता है तथा कर देने से धन शुद्धि होती है। हां, करों का ढाँचा ऐसा होना चाहिये जो बेईमानी और भ्रष्टता को प्रोत्साहन न दे तथा उत्पादक भयमुक्त होकर अधिकतम उत्पादन कर सकें। सरकार भी जनता का ट्रस्ट होती है तथा सरकार चलाने वाले व्यक्तियों को धनव्यय में उच्च आदर्शों का पालन करना चाहिये अन्यथा "तप से राज, राज से नरक" चरितार्थ होता है। धन-सम्पत्ति के सम्बन्ध में यथासम्भव अधिकतम समानता आने पर जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण दिशाओं (ज्ञान विज्ञान आदि) में स्वस्थ संघर्ष रहेगा और अनावश्यक एवं हानिकर संघर्ष समाप्त हो जायेगा।

अतः निजी सम्पत्ति को मानव का मूलाधिकार मानना शास्त्रसम्मत नहीं है। रामचरितमानस में भरत कहते हैं--संपति सब रघुपति कै आही। सारा धन प्रभु का ही है, अतएव धन पर हमारा अधिकार, स्वामित्व नहीं है बल्कि वह हमारे पास प्रभु की धरोहर है जिसका हमें सदुपयोग करना चाहिये। आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उपभोग करें और आवश्यकता न रहने पर उन्हें समाज को दे दें तथा अपना कुछ भी न मानें, यह पुराना आदर्श है। हम धन के अमानतदार (ट्रस्टी) हैं, न कि स्वामी--यह श्रेष्ठ कल्पना पूज्य गाँधी जी ने की थी।

"We are but stewards of our wealth,
—Of all by us possessed".

गाँधीजी ने कहा था, "चूंकि सम्पत्ति के कारण लोगों को गलत काम करने का लालच होता है, सम्पत्ति का त्याग कर देना चाहिये और जब तक हम उस हालत में नहीं हैं कि सम्पत्ति का पूर्णतः त्याग कर दें, हमें अपने को सम्पत्ति का अमानतदार मानना चाहिये। सम्पत्ति का उपयोग दूसरों की भलाई के लिये करना चाहिये और अपनी खुशी के लिये इसका कम से कम उपयोग करना चाहिये।"

सम्पत्तिवान् धनिक का पुत्र धनी रहेगा और निर्धन व्यक्ति का पुत्र निर्धन रहेगा जो धनाभाव के कारण न शिक्षा पा सकता है न उन्नति कर सकता है--यह समस्त निजी सम्पत्ति के वंशानुगत होने का कुफल है। इस प्रकार की व्यवस्था में भी उचित संशोधन की आवश्यकता है। धनिक का पुत्र होने से लम्पटता में अतुल धन फूंकने का अधिकार तथा निर्धन का पुत्र होने से भूखे, अधनंगे रहने की अनिवार्य विवशता--दोनों ही भयंकर स्थिति हैं। आर्थिक विषमता रहने पर निर्धन लोगों के बच्चों में हीन भावना आ जाती है जो उन्हें जीवन भर बाधित करती रहती है। निर्धन के घर जन्म होना अभिशाप

हो गया है। करोड़ों लोग ऋणी पैदा होते हैं, जीवन भर श्रम करते भी ऋण में दबे रहते हैं, और ऋण चुकाते हुए मर जाते हैं तथा अन्त में सन्तान पर ऋण छोड़ जाते हैं। यह नारकीय जीवन आर्थिक विषमता का ही फल है। सच्चा सामाजिक न्याय यही है कि अधिक से अधिक सम्भव आर्थिक साम्य हो और अधिकतम सम्भव स्वतन्त्रता हो। अनेक देशों में संविधान तथा न्याय के कानून ही प्रायः असमानता पर आधारित हैं।

मानव स्वभाव ऐसा है कि उसे धन संग्रह के द्वारा स्वामित्व (एकाधिपत्य) स्थापित करने पर ही सन्तुष्टि होती है तथा स्वामित्वभाव ही मनुष्य को उद्योग करने के लिये प्रेरित करता है। मनुष्य स्वभावतः अपनी सन्तान के सुख के लिये भी संग्रह करना चाहता है तथा मरणोपरान्त सन्तान के लिये विरासत के रूप में धन छोड़ जाना चाहता है। दूसरी ओर एक उदात्त एवं आदर्श भाव यह है कि समस्त धन पर समाज का स्वामित्व होना चाहिये जिससे कि समाज के दीन-हीन वर्ग का समान उत्थान हो सके। दोनों स्थितियों में सामंजस्य स्थापित करना व्यावहारिक है तथा व्यक्ति एवं समाज के लिये श्रेयस्कर है। न्याय की मांग है कि बुद्धि, विशेष ज्ञान, परिश्रम आदि के आधार पर उत्पादनवृद्धि में योगदान करने वाले व्यक्तियों को अधिकतम संभव प्रतिफल, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलना चाहिये तथा निष्क्रिय अथवा निकृष्ट व्यक्तियों को कार्य करने पर ही यह सुविधा मिलनी चाहिये। गुणों के विकास के कारण मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कार्बन तत्त्व से समान विनिर्मित होने पर भी कोयले और हीरे में स्पष्ट भेद होता है। गुण प्रकर्ष के कारण हीरे को मुकुट का अलंकार बनाया जाता है और उसकी द्युति (चमक) निराली होती है। कोयले को वह स्थान कदापि नहीं मिलता है जो हीरे को। तथापि सबको विकास एवं उन्नति के लिये समान अवसर मिलना चाहिये और जीवनयापन की सुख-सुविधा में सबको अधिकतम संभव भाग मिलना चाहिये। अमीरी और गरीबी के बीच खाई के बढ़ते जाने से समाज की निकृष्टता और यथासंभव अधिकतम पाटे जाने से उसकी उत्कृष्टता सिद्ध होती है।

पूज्य गाँधी जी ने जहाँ एक ओर किसी को धन का स्वामी न मानकर अमानतदार माना, दूसरी ओर उन्होंने स्वेच्छागृहीत दैन्य (voluntary poverty) तथा इच्छाओं के नियंत्रण का पाठ सिखाया। गाँधी जी धन और सत्ता का इतना विकेन्द्रीकरण चाहते थे कि वे अन्ततोगत्वा सरकारों का टूटना भी पसन्द करते थे। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण भी शोषण और हिंसा का कारण होता है।

समानता का आदर्श अपनाने पर घृणा के स्थान पर उदारता, प्रेम और

सहनशीलता आ जाते हैं। मेरा धर्म, मेरी जाति अच्छे हैं और दूसरों के धर्म तथा जाति बुरे हैं, यह अनुचित है। सभी धर्म मानव के हैं। महात्मा तुलसी दास जी ने समाज को भगवान् का विराट रूप मानकर सबको सियाराममय देखा। "सिय राम मय सब जग जानी, करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।" "उमा जे राम चरण रत विगत काम मद क्रोध, निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन करैं विरोध।" यह उदारता की चरम सीमा है। बौद्धकाल में हमारे देश में समानता पर आधारित जनपद होते थे जहाँ मानव और मानव में कोई भेद नहीं था। समानता का समावेश होने पर मालिक तथा मजदूर का भेद मिटेगा और महलों की छाया में निर्धन न ठिठुरेंगे। असमानता पत्थर बनकर समानता की धारा को रोकने पर स्वयं ही प्रवाह के साथ बह जायेगी। सर्वत्र प्रभु का दर्शन करने वाला व्यक्ति जनहित में सहर्ष रमाविलास का त्याग कर देता है। रमाविलास राम अनुरागी, तजत वमन इव नर बड़भागी। धन का मोह, कर्त्तव्यपालन के मार्ग में बाधक होता है। यदि धन के मोह से व्यक्ति और समाज के जीवन में अशान्ति होती हो तो ऐसा मोह सर्वथा त्याज्य है।

व्यक्ति और समाज नर-नारायण की भाँति एक-दूसरे के परिपूरक हैं। यदि व्यक्ति समष्टि में लय हो सके तथा समाज भी व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति में सहयोग दे सके, तभी सच्चे वर्गहीन समाज का उदय हो सकेगा। व्यक्ति को स्वार्थ छोड़कर तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर, समाज को ऊंचा उठाने के लिए पौरुष करना चाहिये। समाजसेवी अनासक्त कर्मयोगी के लिये निष्काम पुरुषार्थ करना परमेश्वर का द्वार प्राप्त करना है। विश्वशान्ति के हित में हमें बहुविध समाज की ओर बढ़ना होगा तथा किसी एक राजनीतिक विचारधारा एवं व्यवस्था को अन्तिम सत्य मानकर सदा के लिये नहीं लादा जा सकता है। मानव का महत्व बढ़ना चाहिये, व्यवस्था का नहीं। सह-अस्तित्व, सहयोग और प्रेम पर आधारित व्यवस्था मानव-प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकेगी। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम समानता, स्वतन्त्रता तथा न्याय सुलभ हो और आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णतः स्वावलम्बी हो। जनसमाज वर्ग-प्रभुसत्ता और वर्ग-शोषण से मुक्त हो। शक्ति और अधिकार जनमण्डल में वितरित हों तथा उनका स्रोत जन समाज हो। आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध भी मानवता, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय पर ही आधारित हो। जीवन का आधार सत्यं शिवं सुन्दरम् हो। मानव का सारा बहिर्लोक उसके शुद्ध अन्तःकरण को प्रतिबिम्बित करते हुए सुखमय हो जाये। ऐसे ही समाज में कला और संस्कृति का सुपोषण संभव हो सकता है।

यह निर्विवाद है कि उच्च नैतिकता के अभाव में लोकतन्त्र के आधार-

भूतगुणों---समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व और परस्पर सहयोग—का उदय कदापि नहीं हो सकता है। राजनीतिक साम्यवाद समाज को भौतिक स्तर पर ऊंचा उठाना चाहता है; किन्तु व्यक्ति की मानो उपेक्षा ही करता है क्योंकि उसके साम्य-सिद्धान्त भले ही कुछ हों, व्यावहारिक धरातल पर वहाँ व्यक्ति समाज के लिये ही है। व्यक्ति अकेला जन्म लेता है, अकेला ही जीवनयात्रा पूरी करता है, अकेला ही मरता है यद्यपि वह यह सब समाज में करता है। राजनीतिक साम्यवाद का प्रारंभ समाज से होता है, समाज ही उसका लक्ष्य है। किन्तु अध्यात्मवाद व्यक्ति को सुधारता है, व्यक्ति के नैतिक चरित्र पर बल डालता है, समाज के योग्य बना देता है। व्यक्ति समाज का मात्र मूल घटक ही नहीं है बल्कि अपने में पृथक् ही स्वतन्त्र, पूर्ण जगत् है। व्यक्ति की ही प्रधानता है और समूह भी व्यक्ति के अभ्युदय के लिये होता है। परिवार व्यक्ति के विकास के लिये परम आवश्यक होने के कारण समाज का प्रमुख घटक होता है। परिवार प्रथम एवं प्रभावी विद्यालय है जहाँ स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का निर्माण परिवार में ही होता है। व्यक्ति की उपेक्षा करके सारे राष्ट्र की चिन्ता करना ऐसा ही व्यर्थ है जैसे कि मूल की उपेक्षा करके शाखाओं को सींचना, वृक्ष को सींचना। राष्ट्र निर्माण व्यक्ति निर्माण से ही सफलीभूत हो सकता है तथा व्यक्ति का निर्माण-स्थल परिवार है। अतएव दोनों राजनीतिक साम्यवाद तथा अध्यात्म का समन्वय होना चाहिये। व्यक्ति का नैतिक परिष्कार होना व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिये आवश्यक है। व्यक्ति परमात्मा के नाते, अध्यात्म के सहारे, भौतिकवाद से ऊपर उठकर सामाजिक मर्यादा का पालन कर सकता है तथा स्वयं सुखी होकर समाज को सुख दे सकता है। व्यक्ति की उचित स्वतन्त्रता (विचार, चिन्तन, अभिव्यक्ति) का स्थायी अपहरण अथवा हनन समाज के विकास के लिये घातक सिद्ध होता है। व्यक्ति की अधिकार लिप्सा पर अंकुश आवश्यक है किन्तु व्यक्ति का कुचला जाना भयानक है। व्यक्तित्व स्वतन्त्रता में ही पनपता है। कतरा हूं मगर मेरा अलग वजूद तो है, हुआ करे कि समुन्दर मेरी तलाश में है।

नैतिक क्रांति एवं राष्ट्रीय चरित्र के बिना सभी राजनीतिक परिवर्तन व्यर्थ हैं, अहिंसा और परस्पर प्रेम के बिना धन सदैव चोरी, शोषण, झगड़े का कारण बना रहेगा। अकेला कानून क्या करेगा? प्रायः कानून के लिये तो कानून बनाने वालों की ही आस्था नहीं होती है। जितने कानून बढ़ते हैं उतना ही भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। नैतिकता मानवता की आत्मा है। नैतिकता का विकास जीवन के सर्वोच्च सिद्धान्तों का उन्नयन कर सकता है और जीवन को गतिशील एवं सरल बना देता है। नैतिकता के आधार पर ही

मानवता का निर्माण होने से मानव का व्यक्तिगत और समाजगत विकास सम्यक् प्रकार से हो सकेगा। तभी मानव कर्त्तव्य की ओर सहज रूप से उन्मुख एवं प्रवृत्त होगा और कर्त्तव्य उसका पथ तथा वही उसका लक्ष्य होगा। ऐसे समाज में श्रम का आधार होगा प्रेम तथा धन का आधार होगा उत्सर्ग एवं बलिदान। वर्ग संघर्ष की धधकती आग शांत होगी और मानवता का अमर सन्देश व्यवहार में कार्यान्वित हो सकेगा। अन्याय को परास्त करने की क्षमता का विकास प्रेम तथा अहिंसा के आधार पर हो, तभी लोकतन्त्र की सच्ची सफलता है। व्यक्ति तथा समाज में दैवी गुणों की प्रस्थापना से ही सच्चा न्याय और सन्तोष आ सकते हैं। अन्यथा, एक ओर धनसमृद्धि बढ़ेगी और दूसरी ओर निर्धनता और दुःख, एक ओर रोगों के उपाय होंगे तथा दूसरी ओर मानव विध्वंसक अस्त्र-शस्त्र, गैसों का आविष्कार होगा, एक ओर ज्ञान बढ़ेगा तथा दूसरी ओर विनाशकारी तत्त्वों का प्राबल्य होगा। अतएव समस्त अभ्युदय का आधार नैतिकता होना चाहिये। सभी को यह समझना होगा कि जीवन तो भीतर है, बाह्य भौतिक पदार्थों में नहीं है। ऐसा समझने पर ही भौतिकता की भूख, भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़, उनके लिये मार-काट समाप्त हो सकेंगे। भोगवाद से भ्रष्टाचार का जन्म होता है। हमें समझना होगा कि मानवीय मूल्यों एवं नैतिक मूल्यों का परित्याग करके धन संग्रह करना व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिये हानिकारक है। जयन (इन्द्रियजय) के द्वारा जिष्णु, यजन (यज्ञ, सेवायज्ञ) द्वारा विष्णु बनें। व्यक्ति समाज के प्रति आत्मीयता मान कर उसके लिये पुरुषार्थ करे। "दीप जलेगा, तिमिर ढलेगा, हर कण्ठ खिलेगा, हर तार बजेगा।" नैतिकता के स्तम्भ-भूत प्रेम और अहिंसा का मार्ग अपनाने पर ही समाज में स्थायी शान्ति होना सम्भव है। केवल राजनीतिक तंत्र बदलते रहने से सुख-शान्ति नहीं मिलेंगे।

हमें शिक्षा के द्वारा मानवता को जगाना है। जो शिक्षा मानव को मानव न बना सके, वह व्यर्थ है। मानव ने सब कुछ पाकर भी मानवता को खो दिया है। मानवता के बिना कोई भी राजनीतिकवाद समाज में सुख और शान्ति प्रस्थापित नहीं कर सकता है। मानव को द्वेष, घृणा, बर्बरता, शोषण और हिंसा से मुक्त करना है। पृथ्वी पर कोई भयाक्रांत, भूखा, नंगा, निराश्रय और असहाय न रहे। हमें उन सामाजिक कुरीतियों (दहेज, धन प्रदर्शन इत्यादि) को भी समाप्त कर देना चाहिये जो घुन की भाँति समाज को भीतर से खोखला कर रही हैं। आज मानव-मानव में फासला बढ़ता जा रहा है यद्यपि भौतिक स्तर पर समानता लाने का प्रयत्न भी हो रहा है। शरीर बुद्धि, ज्ञान, धन, पद, उपलब्धि आदि के भेद मनुष्य को मनुष्य से दूर कर देते हैं। केवल

शिक्षा तथा नैतिकता द्वारा ही मनुष्यों में सच्ची मानवता की प्रस्थापना करना संभव है। सब में आत्मतत्व समान है। कर्मभेद होने पर भी सभी आत्मस्तर पर समान मानव हैं। इस समानता के आधार पर मानवता की प्रस्थापना होनी चाहिये। भारत को एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिये। यह सोचना भूल है कि केवल वर्ग संघर्ष के द्वारा अथवा किसी साम्यवादी देश की व्यवस्था को ज्यों का त्यों अपनाकर ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। भारतीय समाजवाद का जन्म भारत में ही होना चाहिये। समाजवाद की स्थापना परस्पर प्रेम एवं परस्पर सहयोग द्वारा होनी चाहिये। नैतिकता एवं अनुशासन के अभाव में कोई भी वाद अथवा कोई भी तंत्र सफल नहीं हो सकता है। आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों से व्यक्ति एवं समाज का हित होगा। उत्पादन-योजनाओं के साथ सुसंस्कार डालने वाली योजना भी होनी चाहिये। भारत ने राजनीतिक स्वराज्य प्राप्त किया है किन्तु अभी संघर्ष के द्वारा सुराज पाना शेष है जिसमें सभी को सुखी रहने का अवसर प्राप्त हो। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को क्षमता के अनुसार शिक्षा मिले तथा कार्य मिले और उसे समाज के धन में से अधिकतम सम्भव समान भाग मिले, उन्नति के लिये समान अवसर मिले, सुख सुविधा मिले। मानव को अपने प्रेम और सेवाभाव को केवल मानवजाति तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये बल्कि अपनी संवेदना और सेवा का विस्तार पशु-पक्षियों तक करना चाहिये। मानव पशु पक्षियों से सहयोग ले किन्तु स्वार्थवश उनका शोषण न करे तथा उचित पोषण करे। तब धरा पर ही स्वर्ग अवतरित हो जायेगा। वही सच्चा रामराज्य होगा और वही होगा सतयुग।

सभी धर्मों के अनुयायी—हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई—नेत्र मूंदकर भीतर एक ही तत्व का दर्शन करते हैं, एक ही से प्रार्थना करते हैं। धर्म एक है—दिव्यतत्व की प्राप्ति तथा जीवमात्र से प्रेम। वास्तविक धर्म एक है, मत अनेक हैं। धर्म एक ही नदी है, सत्य उसकी धारा है और विविध मत अथवा व्याख्या (जिन्हें हम विविध धर्म कहते हैं) उसके विविध घाट मात्र हैं। भवन एक है, द्वार अनेक हैं; लक्ष्य एक है, रास्ते अनेक हैं। मन्दिर, मस्जिद और ग्रन्थ संकेत हैं, लक्ष्य नहीं हैं, साधन हैं, साध्य नहीं हैं। जिस प्रकार चिकित्सक, डाक्टर, हकीम और वैद्य सबके लिये हैं, और सभी उनका लाभ उठा सकते हैं, उसी प्रकार धर्म ग्रन्थ, सन्त, आचार्य और पैगम्बर सभी के लिये हैं। भेद बुद्धि छोड़ने पर सब समान पूज्य प्रतीत होंगे। वास्तव में विविध धर्मों में समन्वय है, एकता है, सबका कथ्य एक है किन्तु अनुयायियों में समन्वय बुद्धि नहीं है। वेद, षड्दर्शन, गुरुग्रन्थ साहब, होली बाइबिल, कुरान शरीफ इत्यादि में प्रतिपादित अन्तिम सत्य एक ही है। धर्म तो समन्वय और एकता का उपदेश देते हैं किन्तु हम

में समन्वय और एकता नहीं है। सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर सर्वधर्मसमन्वय तथा मानव एकता स्थापित हो सकते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कर्त्तव्य-निष्ठा, कृष्ण का कर्मयोग, महावीर की अहिंसा, बुद्ध की करुणा, नानक की प्रभुभक्ति, कबीर का फक्कड़पन, ईसा की क्षमा, मुहम्मद का ईमान---ये सभी के लिये प्रेरणादायक हैं। वैचारिक स्वतंत्रता और मतभेद होना बुद्धिमत्ता एवं प्रगति के द्योतक हैं किन्तु धर्मों के नाम पर वैर चलाना सत्य का विरोध है।

धर्मों के कुछ ठेकेदार धर्म को सम्प्रदाय मानकर अपने अपने धर्मानुयायियों की संख्या बढ़ाने को धर्म-सेवा समझते हैं। धर्म मानव की एकता के लिये बाधक हो जाता है जब वह संकीर्ण हो जाता है। वह धर्म, धर्म नहीं है जो संकीर्णता सिखाये। धर्म का अर्थ है प्रेम। प्रभुप्रेम, जनप्रेम, जीवप्रेम। कौन धर्म कितना पुराना है? इतिहासकार इसका निर्णय करते रहें किन्तु विवाद से क्या लाभ है? किस धर्म के संस्थापक बड़े है, यह प्रश्न ही कटु है। को बड़ छोट कहत अपराधू। सभी समान आदरणीय हैं। अपने-अपने स्थान पर सभी बड़े हैं। ईश्वर एक है, मानवजाति एक है यह ध्रुव सत्य है। मानवमात्र के लिये मन में प्रेम को जगाना चाहिये। सारे संसार में कोई दीन-दुखी न रहे, यह सबका प्रयत्न होना चाहिये। प्रेम, सेवा, त्याग, बलिदान---मानव धर्म का प्रथम पाठ है। यही सच्चा-धर्म है, सब धर्मों का सार है। धर्मों के बाहरी रूप भिन्न हैं, सबका सन्देश एक है। मूर्ख बाहरी रूप पर झगड़ते हैं, समझदार तत्त्व ग्रहण करते हैं। धर्म घृणा नहीं सिखाते हैं, प्रेम सिखाते हैं, एकता सिखाते हैं। धर्मान्ध लोग धर्म-प्रवर्तकों के शत्रु हैं, धर्मों के शत्रु हैं। धरती पर कुछ मसीहे निर्देशक (डायरेक्टर) बनकर आते हैं, अभिनेता बनकर नहीं। ईसा, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, वैदिक ऋषि, नानक, मुहम्मद और जरथु-सब दिव्य पुरुषों का कथ्य एक ही है जीवमात्र के लिये प्रेम, जीवमात्र की सेवा। पैसे के बल पर अथवा हिंसा के द्वारा "धर्म प्रचार" करने वाले धर्म की हानि करते हैं क्योंकि सेवा चित्त-शुद्धि के लिये तथा प्रेम आत्मकल्याण के लिये होते हैं। कटु आलोचना, दोष दृष्टि, संकीर्णता एवं व्यक्तिपूजा पर आधारित नये नये मार्ग और आन्दोलन कालान्तर में लुप्त हो जाते हैं। धर्म तो जीवन है, प्रेम है, उदारता है। धर्म को विकृत करने वाले निन्दनीय हैं। प्रसाद जी कहते हैं "सामंजस्य चले करने ये किन्तु विषमता फैलाते हैं"। धर्मों का सार अध्यात्म है जो तत्वतः एक हैं। माता-पिता और ग्रन्थों से प्राप्त धर्म में दृढ़ रहना मनुष्य को संकीर्ण बना देता है, उदार होकर बुद्धि एवं अनुभव से प्राप्त सत्य ही परमधर्म है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत् ।।"

समष्टि के कल्याण में व्यक्ति का कल्याण तथा व्यक्ति के कल्याण में समष्टि का कल्याण निहित है । व्यक्ति का अभ्युदय तथा सर्वोदय एक दूसरे के पूरक हैं । सभी मिलकर प्रयत्न करें कि सभी का जीवन एक सुख हो जाये ।

११

अमर ज्योति—महात्मा गाँधी

नगाधिराज हिमालय पृथ्वी पर सर्वोच्चता के कारण जिस प्रकार भारत-भूमि की गौरववृद्धि कर रहा है, महात्मा गाँधी भी उसी प्रकार मानवता के चरम बिन्दु होने के नाते समस्त विश्व में भारत की यशः श्री को संवर्द्धित कर रहे हैं। गाँधी जी भारत के लिये तो मानबिन्दु ही बन गये हैं। सुख एवं शान्ति के आधारभूत सिद्धान्त सत्य तथा अहिंसा को जीवन के समग्र पक्षों में चरितार्थ कर महात्मा गाँधी ने विश्व के समक्ष कल्याण की राह दिखाई। महात्मा गाँधी एक अमर ज्योति हैं और अन्धकार-ग्रस्त मानवता के लिये अविच्छिन्न आलोक-स्रोत हैं। दिव्य भारत के भव्य भाल पर गाँधी जी एक सुरम्य तिलक हैं।

सूर्योदय होने पर पर्वतमाला का सर्वोच्च शिखर उदीयमान सूर्य की प्रथम किरण को ग्रहण कर कृत्य-कृत्य हो जाता है। धीरे-धीरे समीपस्थ शिखर भी अन्य किरणों के द्वारा दीप्त हो जाते हैं। पर्याप्त समय व्यतीत होने पर जब रश्मिजाल निम्न स्तर तक उतर आता है, तिमिरग्रस्त उपत्यकाओं को भी प्रकाश प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो फिर भी अन्धकार छिपा रह जाता है। सत्य की प्रथम किरण भी किसी विशिष्ट महापुरुष को प्राप्त होती है। तत्पश्चात् उसके समीपवर्ती अनुयायी उसका लाभ उठाते हैं। फिर कहीं धीरे-धीरे सामान्य जन तक प्रकाश पहुंच पाता है। कुछ कट्टरपंथी तो फिर भी उन्हें कोसते ही रह जाते हैं। वैदिक ऋषि, आइन्स्टीन, फ्रायड, बुद्ध, महावीर, नानक, कृष्ण, ईसा, दिव्य मुहम्मद, महात्मा गाँधी इत्यादि अपने-अपने क्षेत्र में मानव के रूप में युगद्रष्टा थे जिन्होंने व्यक्तिगत ऐश्वर्य का परित्याग कर एवं समस्त प्रलोभनों से ऊपर उठकर सत्य का पथ आलोकित किया।

सचमुच ही महात्मा गाँधी, अपने जीवनकाल में, शीशे से विनिर्मित भवन के केन्द्र में स्थित दीपक की भाँति, जगमगाते रहे और उनके निकटवर्ती अनेक जन में भी उनकी दिव्य छटा प्रतिबिम्बित होती रही। उनके लुप्त होने पर धीरे-धीरे उनका प्रकाश भी अब लुप्तप्राय हो गया है। हाँ, उनके नाम का व्यापार तो प्रचुर मात्रा में अवश्य हो रहा है और उनके चित्र को कुछ नेतागण अपने-अपने फ्रेम में काट-छाँट कर स्वार्थ हेतु जनता के सम्मुख विविध रूपों में प्रस्तुत कर रहे हैं।

केवल अपने अथवा कुटुम्ब के लिये ही सुख-सामग्री का अर्जन करते हुए जीवन-यापन करना तो ऐसी संकीर्णता है जिसके द्वारा व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है। जीवन में यदि कुछ आदर्श, मूल्य एवं आस्थाओं का अभाव हो तो वह वसन्तविहीन वर्ष की भाँति नीरस हो जाता है। निरुद्देश्य जीवन मरुभूमि के तुल्य है। महापुरुष हमें संकीर्ण "स्व" से ऊपर उठकर तथा परम उदार बनकर जीना सिखाते हैं। गाँधी जी ने कहा था "मुझे अपने 'स्व' को घटा-कर शून्य तक ला देना है।" अपने "अहंता," "ममता" को समाप्त कर, अपने अहंकारयुक्त स्वरूप को मिटाकर मनुष्य अनन्त हो जाता है, विश्वात्मा ही बन जाता है। भगवान् को प्राप्त करने का साधन स्वत्व अथवा खुदी मिटा देना है। वास्तव में खुदी का मिटाना ही खुदी की बुलन्दी है जिसके द्वारा मनुष्य प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है, नर से नारायण हो जाता है।

जीवन-यापन तो सभी मानव करते हैं किन्तु वास्तव में वह सर्वाधिक जीवित है जो सर्वाधिक चिन्तन करता है, सर्वाधिक अनुभूति करता है और सर्वोत्कृष्ट कर्म सम्पादन करता है। मानव-जीवन का मूल्यांकन आयु की दीर्घता, शरीर की स्थूलता अथवा केवल धन संचय के आधार पर नहीं होता है बल्कि उन गुणों अथवा कर्मों के आधार पर होता है जिनसे व्यक्ति ने सामाजिक उत्थान एवं प्रगति में योगदान किया है। बापू ने इस दिशा में एक ज्वलन्त उदाहरण समुपस्थित किया है। समस्त मानवता उनकी ऋणी है।

कुछ महापुरुष तटस्थ होकर चिन्तन करते हैं और अन्वीक्षण, चिन्तन, मनन, संश्लेषण, विश्लेषण, आदि के आधार पर नई व्यवस्था की कल्पना करते हैं तथा नये मूल्यों, नये आदर्शों एवं नयी आस्थाओं का सृजन करते हैं। जब सभी अपनी-अपनी नौका लेकर नदी में विहार कर रहे हैं, कोई तट के रेत पर स्थित होकर उन्हें ध्यानपूर्वक देखता, समझता है और उन्हें नया ढंग बताने का प्रयत्न करता है। नयी व्यवस्था देने वाले तथा मार्ग-निर्देशन करने वाले ऐसे तटस्थ चिन्तक धन्य होते हैं, क्योंकि केवल आलोचना करते रहना तो सरल है किन्तु उपाय बताना कठिन है। मार्क्स ने उपाय बताये और लेनिन ने उन्हें

मूर्त्त रूप दिया। रूसो, लास्की आदि ने भी उपाय बताये, उन्हें साकार करना अन्यजन पर निर्भर रहा। किन्तु गाँधी और भी आगे बढ़ गये। उन्होंने केवल उपाय ही न बताया बल्कि स्वयं एकनिष्ठा से उस पर आचरण करने के लिये जुट गये और तदर्थ आत्मोत्सर्ग भी कर दिया। महात्मा गाँधी ने जो सोचा, वही कहा और जो कहा, वही किया। उनके विचार, कथनी और करनी एक ही थे। उनमें अपनी बात कहने और आचरण करने का साहस था, सचाई थी। उनका जीवन अपने सुझाये हुये उपायों एवं आदर्शों के आधार पर विहित प्रयोगों एवं अनुभवों की सजीव शृंखला है। महात्मा गाँधी काल के प्रवाह के साथ नहीं बहे। मुर्दे प्रवाह में बहते हैं, मर्द पानी को चीर कर मन चाही दिशा में चलते हैं। महात्मा गाँधी ने घटनाचक्र को एक दिशा प्रदान की और वे युग प्रवर्त्तक हो गये। गाँधी महान् थे।

गाँधी जी अलौकिक पुरुष न थे किन्तु उन्होंने तपस्या के द्वारा अलौकिक गुण एवं प्रभाव उपलब्ध कर लिये थे। छात्रावस्था में भी वे सामान्य थे। उनकी सत्यनिष्ठा एवं दृढ़ता ने उन्हें असामान्य बना दिया। उन्हें अवतार मानकर पूजना उनकी उपलब्धि, महानता एवं उनके महत्व को घटा देना है। प्रत्येक मनुष्य सत्य की उपासना के द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त कर दिव्य बन सकता है। दिव्यता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। गाँधी जी की दिव्यता एवं महानता को शब्दों की परिधि में बाँधना सम्भव नहीं है।

गाँधी जी कोरे आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा न थे। युटोपिया की सी कल्पना उन्होंने नहीं की। उनका कहना था—"मैं व्यावहारिक आदर्शवादी हूं।" उनके आचरण में आदर्श तथा यथार्थ का स्वस्थ सम्मिश्रण है। उनके आदर्श यथार्थ की भित्ति पर आधारित हैं। जीवन में समाजगत (आबजैक्टिव) परिस्थितियों को यथावत् समझकर गाँधी जी, अपने आदर्शों के अनुसार, अनासक्त भाव से, कर्त्तव्य पालन के रूप में व्यावहारिक स्तर पर प्रतिक्रिया करते थे। "हतं ज्ञानं क्रियाशून्यम्।" यदि आचरण ज्ञान के अनुरूप न हो तो उस ज्ञान को धिक्कार है। गाँधी जी लोकशिक्षा का गुमान नहीं करते थे। उनका आदर्श आचरण ही समाज के लिये एक शिक्षा है। उनके आदर्श व्यावहारात्मक थे, तथा उन्हें यथार्थ की भूमि पर उतारा जा सकता है।

अपने स्वप्नों को साकार रूप देने के लिये महात्मा गाँधी सारा जीवन साहसपूर्वक निर्माण कार्य में जुटे रहे। महापुरुष कभी निराश होकर लक्ष्य को नहीं छोड़ते हैं। महापुरुष व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर मानवमात्र के दृष्टिकोण से देखते हैं तथा निर्माण में जुट जाते हैं। निर्माण की माँग होते हैं त्याग और

बलिदान। महापुरुष के लिये त्याग और बलिदान एक स्वभाव बन जाते हैं। गाँधी जी का जीवन त्याग और बलिदान की एक अनूठी कहानी है।

जीवन एक प्रवाह है। उसमें दूरगामी विभेद करना सम्भव नहीं है। राजनीति, धर्म, आध्यात्मिकता, नैतिकता, अर्थ, साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान इत्यादि सभी जीवन के अविभाज्य अंग हैं। इन सभी का जन-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्यतः केवल एक ओर ही रुचि लेना जीवन को एकांगी एवं अधूरा बना देता है। समाज के प्रत्येक पक्ष का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार व्यक्ति से होता है। जन-जीवन अविच्छेद्य है और इसी प्रकार जागरूक व्यक्ति का बहुमुखी जीवन भी वास्तव में अविभाज्य होता है। गाँधी जी का स्पष्ट मत था कि यदि जीवन के निजी पक्ष में पवित्रता होगी तभी लोकगत अथवा सामाजिक जीवन में भी पवित्रता होगी। यह कह देना कि किसी के निजी जीवन का लोकगत जीवन से सम्बन्ध नहीं है, असंगत है। समाज की विशुद्ध सेवा करने के सच्चे अधिकारी केवल वे व्यक्ति हैं जो निजी जीवन को स्वच्छ कर चुके हों। जिस प्रकार शरीर तथा मन को स्वच्छ कर लेने पर ही देवालय में प्रवेश करने का अधिकार होता है, उसी प्रकार हम शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वच्छ होकर ही समाज सेवा के अधिकारी हैं।

महात्मा गाँधी विशिष्ट परिभाषानुसार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक इत्यादि शास्त्रों में दक्ष न थे। उन्होंने शास्त्रीय प्रणाली से किसी विषय में शास्त्र रचना नहीं की है। उन्होंने जीवन को अविभाज्य अथवा युग्मित मानकर उसकी समग्रता एवं सर्वांगीणता पर बल दिया तथा जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं छोड़ा। उनका जीवन सुग्रथित था और वे जीवन के सम्पूर्ण पक्षों की ओर जागरूक थे। गाँधी जी ने विश्व का कोई नया "वाद" नहीं दिया। उन्होंने मानव जीवन के सुख, शान्ति एवं संबल के मूलाधार "सत्य" और "अहिंसा" को अपनाकर उपस्थित परिस्थितियों में अनासक्त भाव से विचार एवं कर्म करना ही मानव-जीवन की सार्थकता समझा। सत्य के पुजारी एवं न्याय के प्रहरी गाँधी ने मानव स्वभाव के मूलभूत सिद्धान्त को अपनाकर मानो मानवता अपना ली और वे मानव के प्रतिनिधि बन गये।

सत्य ही परमेश्वर है। सत्य सर्वोपरि है, सत्यनिष्ठा जीवन का आधार है। सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी, सत्य कर्म ही वास्तव में सत्य की साधना है। सत्य ही धर्म्य, न्याय्य एवं हितकर है। जहाँ सत्य है, वहाँ सत्य ज्ञान है। जो सत्य के मापदण्ड पर खरा है, वही खरा है। सत्य की अविश्रान्त खोज तथा असत्य का प्रतिकार सत्याग्रह है। यहाँ "सत्याग्रह" का अर्थ सविनय सत्य-प्रतिपादन एवं सत्य पुष्टि है क्योंकि "सत्य" के साथ "आग्रह" संगत प्रतीत

नहीं होता है। सत्य की प्रतीति विभिन्न जन को विभिन्न प्रकार होती है। अतएव हममें सहिष्णुता होनी चाहिये। अहिंसा निकल जाने पर सत्याग्रह दुराग्रह हो जाता है। गाँधी जी कहते थे, "सत्याग्रह सत्ता को प्राप्त करने के लिये नहीं, सत्ता को शुद्ध करने और उसका सदुपयोग करने के लिये होता है।" जो विचार राग-द्वेष रहित एवं निष्पक्ष बुद्धि को न्याय्य प्रतीत हो वह सद्‌विचार है। वह वाणी जो तथ्य को जैसा जानती हो, वैसा ही सामने रखे सद्‌वाणी है। उसी का विवेकपूर्ण आचरण सत्कर्म है। सत्य और अहिंसा एक ही सनातन तत्व के दो पहलू हैं। अहिंसा की सिद्धि सत्य के द्वारा और सत्य की सिद्धि अहिंसा के द्वारा होती है। अहिंसा की पराकाष्ठा ही सत्य है। दोनों में अभेद है। फिर भी हम सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन कह सकते हैं। ईश्वर सत्य स्वरूप है तथा प्रेम स्वरूप भी। राग-द्वेष से पूर्णतः विमुक्त वृत्ति ही अहिंसा है जिसका सक्रिय रूप प्रेम होता है। सत्य की प्रस्थापना अथवा असत्य एवं हिंसा (शोषण, अन्याय आदि) के उच्छेद के लिये पुरुषार्थ करना सत्याग्रह है। किसी को कष्ट न पहुँचाना तो अहिंसा का प्रतिक्रियात्मक एवं ऋणात्मक अर्थ है। अहिंसा का धनात्मक अर्थ प्रेम और सत्याचरण है। अहिंसा और सत्य की साधना के द्वारा मनुष्य सर्वोच्चता को प्राप्त कर सकता है। सत्यं नं सत्यं खलु यत्र हिंसा। हिंसा से युक्त सत्य सत्य नहीं है। सत्य में शिवत्व निहित होता है। जो सत्य है वही शिव है। जो सत्य और शिव है वह सुन्दर भी होता है।

सत्य का अन्वेषक, सत्य का साधक, पहिले आत्मनिरीक्षण के सहारे आत्म-शुद्धि में जुट जाता है। आत्मशुद्धि होने पर ही सत्य का दर्शन एवं ग्रहण होना संभव होता है। आत्मशुद्धि ही आत्मबल का सूत्र तथा आन्तरिक प्रफुल्लता का रहस्य होता है। आत्मशुद्धि होने पर यश की कामना भी छूट जाती है। यश की कामना छोड़कर पवित्र कार्य में लगने से मनुष्य अवश्य यशस्वी हो जाता है किन्तु यश की कामना से प्रेरित होकर श्रेष्ठ कार्य करने पर भी वह भटक जाता है और शांति एवं सुयश को खो बैठता है। आत्मशुद्धि होने पर मनुष्य समाजगत अन्याय से लड़ सकता है। महात्मा गाँधी सत्यसंध संत थे और अपनी सत्यनिष्ठा के कारण ही समाजगत दोषों का निराकरण करने के लिये संघर्ष में जुटे रहे। इसी दिशा में बढ़ते हुए गाँधी जी विचारक, समाजसुधारक एवं राजनीतिज्ञ बन गये और वे अन्त तक सत्यनिष्ठा पर दृढ़ रहे।

अत्याचार और अन्याय होने पर तीन प्रकार की प्रतिक्रिया सम्भव होती हैं—कायरता, हिंसा और अहिंसा। कायर मनुष्य भयवश अथवा लोभवश अत्याचार को सहन करता है किन्तु उसके मन में प्रच्छन्न रूप से घृणा और

क्रोध धधकते रहते हैं। मन में वह सोचता है, "यदि मैं समर्थ होता तो अत्याचारी की हत्या ही कर देता"। कायर व्यक्ति मृदुता का आडम्बर करता है किन्तु अन्तस्तल में क्रोध छिपाने के कारण मानसिक प्रदाह, पीड़ा, उत्तेजना, तनाव आदि के कष्ट भोगता है। वह अनजाने ही अपने साथ हिंसा करता रहता है। यह स्थिति निकृष्ट है और मनुष्य को शोभा नहीं देती है।

दूसरी प्रतिक्रिया है हिंसा। यह कायरता की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी है। गाँधी जी का मत था कि यदि इन दोनों में से एक का वरण करना पड़े तो हिंसा का वरण करना चाहिये। जो हिंसा में विश्वास रखते हों, उन्हें हिंसा के तरीकों का, शस्त्र-विद्या का अभ्यास करना चाहिये। गाँधी जी ने कहा था यदि भारत पर आक्रमण हो तो अपने अपमान को सहन करने की अपेक्षा भारत को अस्त्र-शस्त्र से युद्ध करना चाहिये। इसी दृष्टिकोण से सन् १९४७ में कबालियों के द्वारा काश्मीर पर आक्रमण होने पर उन्होंने स्पष्टतः बेगुनाहों की रक्षा के लिये बर्बर आक्रान्ताओं को खदेड़ देने की शिक्षा दी थी। गाँधी जी कायरता में मानसिक पीड़ा एवं आत्मग्लानि सहने की अपेक्षा हिंसा द्वारा अत्याचार का प्रतिरोध करना अधिक श्रेयस्कर मानते थे। नृशंस अत्याचार के विरुद्ध अपनायी हुई हिंसा के भी दो रूप सम्भव हैं––घृणापूर्ण तथा घृणारहित। घृणापूर्ण हिंसा तो पूर्णतः बर्बर है और भयप्रद भी है किन्तु घृणारहित हिंसा भयरहित होती है।

जितनी उग्रता एवं तीव्रता से हम दूसरे की ताड़ना करते हैं उतनी ही उग्रता एवं तीव्रता से उसकी प्रतिक्रिया का भय अनजाने ही हमारे हृदय को घेर लेता है। हिंसा वृत्ति अपनाने पर हमारे अवचेतन मन में भी भय अवश्य उग्र हो जाता है जो कि हमें कभी कायर बना देगा। अतएव यदि हिंसा करना पड़े तो कर्त्तव्य रूप में, घृणा छोड़कर, हिंसा करें। हिंसा के बदले में घृणारहित हिंसा करना वीरता है। अत्याचारी के अत्याचार से युद्ध करना धर्मयुद्ध है। वीर पुरुष जानता है कि उसे कितना युद्ध करना है। वह उचित समय आने पर युद्ध से विरत हो जाता है तथा उचित समय पर अत्याचारी के द्वारा क्षमा-याचना करने पर सहर्ष क्षमादान कर देता है। गाँधी जी ने कहा था––"क्षमा करना वीर की शोभा है।" एक प्रकार से वीर पुरुष शल्य चिकित्सक की भाँति अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करता है। शल्य चिकित्सक जानता है कि चाकू का प्रयोग विनाश के लिये नहीं, चिकित्सा के लिये है और कभी-कभी वह शरीर-रक्षा हेतु आवश्यक होता है। वह जानता है कब शल्य-क्रिया आवश्यक है और कब जख्म को सीकर उसकी मरहम पट्टी करके उसे स्वस्थता की दिशा में ले चलना है। "हर-हर महादेव" "जय बजरंग बली" के घोष के साथ कर्त्तव्य हेतु साहस-

पूर्वक युद्ध करते हुए वीर मानो गीता के आदेश "मामनुस्मर युध्य च" का पालन करते हैं।

वीर पुरुष व्यक्तिगत मान-अपमान से प्रेरित होकर अथवा स्वार्थसिद्धि हेतु प्रलोभनवश युद्ध नहीं करता है। वह सिद्धान्तों एवं मूल्यों की रक्षा के लिये युद्ध में प्रवृत्त होता है। कुसुम से भी कोमल स्वभाव वाले श्रीराम ने, कर्त्तव्य पालन हेतु, वज्र से भी कठोर होकर, सात्विक ऋषिगण को प्रपीड़ित करने वाले निर्दय, अत्याचारी राक्षसों का नाश किया। राम ने समुद्र की नीचता देखकर उस पर शर-संधान किया किन्तु क्षमा-याचना करते ही उसे क्षमा कर दिया। अंगद तथा हनुमान के द्वारा बल परिचय देने पर तथा दौत्य के असफल होने पर श्रीराम ने रावण का वध किया। इसी प्रकार व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण ने दुर्दान्त दुर्योधन को समझाया किन्तु जब मोहान्धता के कारण वह अन्याय मार्ग से न हटा, श्रीकृष्ण ने युद्ध करने की आज्ञा दे दी। वीर पुरुष व्यक्तिगत राग-द्वेष एवं घृणा का परित्याग कर अन्याय एवं अत्याचार का हिंसामय सामना करते हुए मानो कृत-कृत्य हो जाता है। गुरु गोविन्द सिंह जी ने भी विवश होकर आत्मग्लानि से पराभूत सिखों को हिंसा के प्रतिरोध में हिंसा अपनाने का आवश्यक पाठ सिखाकर उनके मन में आत्मसम्मान का भाव जागृत किया। कायरता तो आत्मपतन की पराकाष्ठा है और मानव का विकृत रूप है। विनम्रता का अर्थ भी कायरता नहीं है। विनम्रता एक चारित्रिक गुण होता है किन्तु कायरता एक दोष है।

कायरता (अथवा बेबसी के दैन्य भाव) की अपेक्षा हिंसा अधिक अच्छी होती है किन्तु हिंसा की अपेक्षा अहिंसा कहीं अधिक अच्छी है। हिंसा से बदला लेना पशु का स्वभाव है, क्योंकि उसकी आत्मा प्रसुप्त होती है। अहिंसा मानव का गुण है क्योंकि उसकी आत्मा जागृत होती है। अहिंसा केवल ऋषियों और सन्तों के लिये ही नहीं है, अपितु सर्वसाधारण के लिये भी है। गाँधी जी कहते हैं कि हिंसा की विफलता देखकर, शस्त्रों में प्रवीण होते हुए भी ऋषियों ने अहिंसा की राह ढूँढ ली तथा न्यूटन से कहीं अधिक बढ़कर एक नई खोज की। अहिंसा का अर्थ अत्याचारी के सम्मुख नतमस्तक होना नहीं बल्कि अपने पूरे आत्म-बल से उसका प्रतिरोध करना है। अहिंसा का अर्थ पलायन कदापि नहीं है। अत्याचार के सामने झुकना तो बुरा है ही, किन्तु दूर हटकर उदासीन होना अथवा पलायन करना भी निन्दनीय है। तटस्थ होने का सच्चा अर्थ निष्क्रियता अथवा पलायन नहीं है बल्कि वस्तुस्थिति का सामना करते हुवे फल में अनासक्त होना है। हिंसा (भौतिक बल प्रयोग) से अत्याचार का दमन करने वाला मनुष्य वीर होता है, किन्तु अहिंसा (आध्यात्मिक बल प्रयोग)

से अन्याय का शमन करने वाला महावीर होता है। कायर अहिंसा के दिव्य शस्त्र का प्रयोग नहीं कर सकता है। अहिंसा उस परम वीर का शस्त्र है जिसके मन से घृणा तथा भय समाप्त हो चुके हों और जो अपने को दुर्बल न मानकर सशक्त मानता हो। अपने को प्रबल मानकर ही अहिंसा का प्रयोग करना सम्भव है। अहिंसक के मन में शक्ति का भान होने के लिये उसे शस्त्र रखने अथवा शस्त्राभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वास्तविक शक्ति शारीरिक बल से सम्बद्ध नहीं होती बल्कि अपने आत्म-बल से ही प्रवाहित होती है। अहिंसा में अधिष्ठित होने के कारण अपने को समर्थ एवं निर्भय मानकर तथा आत्मप्रबुद्ध होकर अहिंसात्मक प्रतिरोध करना तथा उचित समय पर क्षमा प्रदान करना मनुष्य को और भी अधिक बलवान् बना देता है।

घृणा और भय से मुक्त होने पर ही आत्मबल का उदय होता है। इनका निराकरण प्रेम के द्वारा होता है। जीवन के किसी क्षेत्र में भी घृणा का व्यापार हितकर नहीं है। मेरी भाषा अच्छी है तथा शेष बुरी हैं, मेरा देश अच्छा है अथवा मेरी जाति अच्छी है, अन्य देश बुरे हैं अथवा अन्य जाति बुरी हैं, मेरा धर्म अच्छा है तथा अन्य धर्म बुरे हैं—ये सब घृणा के रूप हैं। मानव जाति में किसी वर्ग विशेष को अस्पृश्य कह देना घृणा ही है। घृणा के योग्य मनुष्य का पाप है, मनुष्य नहीं। यह साधना है कि मनुष्य घृणा छोड़कर अन्याय का प्रतिरोध करे। अन्याय के विरोध में रोष प्रकट करना और उसका डटकर सामना करना सर्वथा न्याय्य है। हम घृणा और क्रोध छोड़कर भी अन्याय के विरोध में उचित रोष कर सकते हैं। महात्मा जी अंग्रेजों से कहते थे "भारत छोड़ो" और उनसे लड़ते भी रहे किन्तु सदैव अपने को अंग्रेजों का मित्र भी मानते रहे।

अहिंसा का अर्थ "हिंसा न करना" नकारात्मक है। "अहिंसा वैर-त्यागः", अर्थात् मन में भी वैर भाव न रहना सच्ची अहिंसा है। अहिंसा का धनात्मक अथवा गतिमय एवं सक्रिय रूप प्रेम होता है। राग-द्वेष से मुक्त एवं प्रेम-भावना से प्रेरित होकर ही ईसा ने, सूली पर टाँगकर अपनी हत्या करने वालों के लिये, प्रभु से प्रार्थना की थी—"प्रभो, इन्हें क्षमा करो क्योंकि ये अज्ञानवश नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं।" इतिहास की पृष्ठभूमि में, गौतम, कणाद, बुद्ध तथा महावीर के द्वारा भारत में अहिंसा का विविध रूप में प्रचार अवश्य था किन्तु गाँधी जी ने अहिंसा की परम्परा को नई दिशा प्रदान की और उसे पूर्ण जीवन-दर्शन मानकर जीवन के समस्त पक्षों में उसको चरितार्थ किया। उन्होंने अहिंसा रूपी शस्त्र से युद्ध करने का अर्थ किया—शारीरिक बल प्रयोग का परित्याग कर अथवा भौतिक स्तर से ऊपर उठकर, पवित्रभाव से ओत-

प्रोत होकर आत्मबल से अत्याचार एवं अन्याय का प्रतिरोध करना तथा अत्याचारी के हाथों से मृत्यु का भी सहर्ष आलिंगन करना। घृणा एवं भय को त्याग कर तथा प्रेमपरिपूरित होकर उल्लासपूर्वक क्रियाकलाप करना ही अहिंसा का अभ्यास है। प्रेम, सहिष्णुता, क्षमा, आत्मोत्सर्ग अहिंसक सन्त के दिव्य आयुध होते हैं। अहिंसक सन्त अहिंसात्मक प्रतिरोध करते हुए हिंसा का शिकार होकर भी अमिट प्रभाव एवं आलोक छोड़कर जाता है। अहिंसक के आत्म-बलिदान का अद्भुत प्रभाव होता है।

प्रेम अहिंसक का स्वभाव बन जाता है और वह सारी मानवता के साथ आत्मीयता का मधुर नाता स्थापित कर लेता है। सच्चा अहिंसक स्वार्थ और प्रलोभन छोड़कर उदारचेता हो जाता है तथा अहिंसा के कारण अनेक शक्तियों के जाग जाने पर महान् बन जाता है। वह कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा का सर्वथा त्याग कर देता है। उसके आत्म-बल एवं आत्म-विश्वास अपार होते हैं। घृणा, भय और क्रोध का अंकुर भी न रहने पर तथा क्षमा-भाव से ओत-प्रोत हो जाने पर ही आत्मतेज का प्राकट्य होता है। बुद्ध ने अंगुलिमाल को, महावीर ने विषधर भुजंग को, सप्त ऋषिगण ने बाल्मीकि को, अपने आत्म-बल से जीतकर उनका हृदय परिवर्तन कर दिया था। गुरु नानक देव, चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ आदि अनेक महापुरुषों के जीवन-वृत्त में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। अहिंसक सन्त पर हिंसा से आघात होना भी तभी संभव होता है जब वह उसका स्वागत करता है अन्यथा उसपर हिंसा विफल हो जाती है। महात्मा गाँधी अपनी हत्या से पूर्व कुछ दिनों तक अनेक बार ऐसे शब्द कह चुके थे जिनसे प्रकट होता है कि वे उस समय अपनी मृत्यु का आवाहन कर रहे थे। जीवन के अन्तिम समय में महात्मा गाँधी कुछ अकेले पड़ गये थे तथा मातृभूमि के अंगभंग इत्यादि से स्वप्न टूटने पर दुःखी होकर उन्होंने मृत्यु की कामना अनेक बार अभिव्यक्त की। गाँधी जी ने इच्छा-मृत्यु प्राप्त की थी। महात्मा गाँधी ने जीवन में सत्य के प्रयोग किये तथा अंत में मृत्यु का भी प्रयोग किया। मृत्यु मानो महात्मा गाँधी की संकल्पपूर्ति के रूप में आई थी। गोली ने महात्मा गाँधी के पार्थिव शरीर का अन्त कर दिया किन्तु उनकी अमर उपलब्धियों को कोई भी मिटा नहीं सकता है। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते। अपकारी के प्रति भी उपकार भावना होने पर ही साधुता सिद्ध हो सकती है तथा अपकारी को उपकार का पाठ सिखाया जा सकता है।

महात्मा गाँधी कहते थे कि मनुष्य को केवलमात्र हाड़-माँस का पुतला समझने वाला व्यक्ति अपने को नश्वर मानकर भयभीत हो सकता है, किन्तु

अपने को परमात्मा का अंश, अमर आत्मा, मानने वाला व्यक्ति मृत्यु से भी नहीं डरता है। वह प्रेम के कारण जान-बूझ कर भी कष्ट और अपकार को सहर्ष सहन कर लेता है। शक्ति का स्रोत तो आत्मबल है। उसकी क्षमा प्रबुद्ध क्षमा (सोच-समझ कर, निर्भय होकर, प्रेमजन्य क्षमा enlightened forgiveness) होती है, जो हिंसक के मन में आत्मग्लानि एवं पश्चात्ताप की शोधक अग्नि धधकाकर उसे स्थायी रूप से सुधार कर पवित्र बना देती है। घृणा एवं क्रोध से विमुक्त होकर, प्रेम से प्रेरित होकर ही पूर्ण अहिंसा भाव उत्पन्न होता है। शारीरिक अथवा भौतिक दृष्टि से दुर्बल होकर भी अहिंसक सबल एवं समर्थ होता है। सचमुच, अहिंसा मनुष्य को महावीर बना देती है। अखण्ड शान्ति भी आन्तरिक शक्ति की अनुभूति होने पर ही प्राप्त होती है। आत्मबल और आत्मशान्ति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। महावीर की आत्म-बलसमुद्भूत शांति अनुपम होती है।

अक्रोध का व्रत मानो अहिंसा का पहला पग है। हम मन में क्रोध करने से इन्कार कर दें। कटुता में उत्तेजित होकर, बौखलाहट में कटुता का आचरण न करने का व्रत लें। जैसे घर में थोड़ी-सी देर भी हीटर जलाने से घर भर में वोल्टेज गिर जाता है, उसी प्रकार क्रोध के समुत्पन्न होने पर समस्त शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं तथा सन्तुलन बिगड़ जाता है। मन में शान्त होकर अत्याचार एवं अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करें तथा प्रबल असहमति प्रकट करें। कोप-प्रदर्शन अथवा रोष-प्राकट्य का अभिनय आवश्यकता होने पर कर दें। अत्याचारी से साहसपूर्वक किन्तु सौम्यतापूर्वक कह दें कि उसका अत्याचार पापमय है। मन, कर्म, वचन से प्रेम को अंगीकार कर लेने पर तो कोई परकीय नहीं दीखता है और स्वमेव क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध मन की उत्तेजना है जो मन को असन्तुलित कर उसे उद्विग्न एवं दुर्बल कर देती है। क्रोध के द्वारा दूसरे में भय उत्पन्न करने के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। 'क्रोधो हन्ता मनुष्याणां' (महाभारत) क्रोध मनुष्यों का विनाशक होता है।

हमें निर्विवादरूप से यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव प्रेम है तथा मोह और अज्ञान के कारण प्रतिक्रियास्वरूप घृणा एवं क्रोध उत्पन्न होते हैं। मनुष्य दीर्घ समय तक स्वभाव से हटकर घृणा एवं क्रोध के विषैले तनाव में नहीं रह सकता है। घृणा एवं क्रोध दूसरे में भय उत्पन्न करके हमारे अपने अवचेतन मन में भी भय एवं सुरक्षा के अभाव की सी दशा उत्पन्न कर देते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि की शक्ति का क्षय कर देते हैं। घृणा मानव स्वभाव में विजातीय तत्त्व है जो विषजनक है। घृणा के विष को प्रेम जहरमोरा बनकर चूस लेता है। वह मनुष्य का स्वभाव नहीं हो सकता

है जिसमें वह निरन्तर न रह सके। अतएव घृणा मनुष्य का स्वभाव नहीं है, प्रतिक्रिया है। घृणा पर आधारित व्यक्ति अथवा राष्ट्र समृद्ध एवं सुदृढ़ नहीं हो सकते हैं। घृणा से उत्पन्न मानसिक विकलता को प्रेम एवं सौहार्द के द्वारा, शक्ति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। घृणा से अशांति, प्रेम से शांति प्राप्त होती है। घृणा के स्थान पर प्रेम रखने से ही अक्रोध का व्रत पूर्ण होता है। अहिंसा के साधक को धीरे-धीरे हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ना चाहिये और अक्रोध का अभ्यास करना चाहिये। प्रेम के द्वारा ही तो हृदयों पर शासन सम्भव है। प्रेम घृणा पर न्यौछावर हो जाता है, घृणा को आप्लावित कर देता है। तोप, बन्दूक, तलवार, लाठी आदि की छाया में कभी शान्ति स्थिर नहीं रह सकती है। व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत शान्ति की स्थापना के लिये अहिंसा को अपनाना परम आवश्यक है।

गाँधी जी ने समाज की एक ऐसी रूपरेखा बना रक्खी थी जिस में हिंसा के विविध रूप और उनके विविध मूल कारण ही निर्बल हो जायें और व्यक्ति एवं समाज का जीवन सुखमय हो सके। तदर्थ वे आजीवन अहिंसा के प्रयोग करते रहे। वे वैमनस्य एवं घृणा को, जो हिंसा का मूल कारण है, समाप्त कर देना चाहते थे। प्रतिद्वन्द्विता व्यापार में हो अथवा अन्यत्र, वैमनस्य, घृणा तथा हिंसा को बढ़ावा देती है। वह घृणामूलक ही होती है। मनुष्य दूसरों के बजाय अपने से ही अपनी तुलना करे, तभी सुधार सम्भव है। क्या मैं पहले की अपेक्षा सत्य का अधिक अवलम्बन कर रहा हूँ। यह तुलना उचित एवं स्वस्थ है। हम दूसरों से होड़ न करके, उनसे प्रेरणा लें तथा सीखें, यह एक अच्छी स्थिति है।

प्रायः पारस्परिक झगड़ों का कारण भौतिक पदार्थों की इच्छा का टकराव होना है। सन्तों ने इसे सूत्र रूप में "कामिनी कांचन" की लिप्सा के रूप में वर्णित किया है। गाँधी जी समझ गये थे कि केवल मात्र निर्धनता का निवारण अथवा समान धन-वितरण होना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि इच्छाओं का निरोध इससे भी बढ़कर अभीष्ट है। गाँधी जी एक ओर देश में गरीबी मिटाना अपना प्रधान कार्यक्रम समझते थे, दूसरी ओर वे यह चाहते थे कि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता से बढ़कर भौतिक पदार्थों का संग्रह न करे। हम इच्छा पर नियंत्रण न होने के कारण, दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करते हुए प्रत्येक वस्तु को अपने लिये आवश्यक समझने की भूल करते हैं। झूठी अथवा नकली आवश्यकताओं के कुचक्र में फंस कर अनेक मनुष्य स्तेय (चोरी, कर-की चोरी, तस्करी इत्यादि) तथा परिग्रह (अनावश्यक धन-दौलत, भोग-सामग्री का संचय) करते हैं और समाज की अर्थव्यवस्था एवं सन्तुलन को बिगाड़

देते हैं। इससे विषमता और अशान्ति पनप रहे हैं। इच्छा के अनियंत्रित होने पर समाज हिंसा से नहीं बच सकता है। सबकी इच्छा तथा माँग सीमित होनी चाहिये। समाज में भौतिक वस्तुओं की इच्छा और आवश्यकता पर नियंत्रण कर वैमनस्य का एक रूप तो अवश्य समाप्त हो सकता है।

महात्मा गाँधी भौतिकता की निस्सारता को समझ चुके थे और वैभव-विलास के अन्धानुकरण के पक्ष में न थे। भौतिकवादी समाज में प्रतिद्वन्द्विता, शोषण, हिंसा, अन्याय, अत्याचार, युद्ध, अशान्ति होना स्वाभाविक है। गाँधी जी ने अपरिग्रह पर विशेष बल दिया। "जान-बूझकर गरीबी को अंगीकार करना" (वालेन्टेरी पावर्टी) महात्मा जी का प्रिय उपदेश था। धन का स्वामित्व मानकर मनुष्य ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा के भेद करता है तथा घृणा में प्रवृत्त होता है। धन का स्वामित्व मोह, लोभ, शोषण एवं हिंसा को बढ़ावा देता है तथा संसार में पाप, दुःख एवं झगड़े का प्रधान कारण होता है। लोग केवल धन के स्वामित्व से ही सन्तुष्ट नहीं होते हैं बल्कि वे विवाह, प्रीतिभोज आदि के समय भद्दे एवं नीच ढंग से धन का प्रदर्शन कर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का कुत्सित प्रयत्न भी करते हैं जिससे समाज में कटुता उत्पन्न होती है। इस धन-प्रदर्शन का एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि लोग समझने लगते हैं कि जीवन में धन ही सब कुछ है, धन ही परमात्मा है और धन के अभाव में मानव तुच्छ है। धन कमाना बुरा नहीं है किन्तु जीवन का उद्देश्य केवल धनार्जन नहीं है बल्कि अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए समाज सेवा करना है। यह भावना आने पर कि धन के द्वारा ही सम्मान प्राप्त होता है और तभी मनुष्य का प्रतिष्ठामय अस्तित्व है, धन-संग्रह के लिये लोग पाप कर बैठते हैं।

महात्मा गाँधी का मत था कि आवश्यकता होने पर हम किसी भी भौतिक पदार्थ को अपने पास रक्खें और उसका उपयोग करें किन्तु उसे अपना न मानें। "इदं न मम", यह मेरा नहीं है, सब कुछ प्रभु का ही है। 'सम्पति सब रघुपति कै आही।' मैं तो केवल हिफाजत करने वाला, आवश्यकता के अनुसार उपयोग करने वाला ट्रस्टी अथवा अमानतदार हूँ। अपनी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं पर नियंत्रण करना तथा भौतिक पदार्थों, अपनी शक्तियों एवं अपनी बुद्धि का भी अपने को स्वामी न मानकर ट्रस्टी मानना, यह अपरिग्रह है। गाँधी जी कहते थे—"बिना जरूरत रखी हुई वस्तु मूल रूप में चुराई हुई न होने पर भी चोरी की ही मानी जायेगी"। अभिप्राय यह है कि अपने समस्त धन को प्रभु का मान कर उसका सदुपयोग करें। गृहस्थ के लिये परिग्रह आवश्यक है किन्तु उसकी एक सीमा होनी चाहिये। अपना स्वामित्व मानकर वस्तु-संग्रह

करना दुःखदायी है । 'मेरा' और 'तेरा' का भाव ही तो परिवार में, राष्ट्र में और संसार में झगड़े का कारण बन गया है । वास्तव में अपरिग्रह का अभ्यास आध्यात्मिकता एवं अनासक्ति द्वारा ही संभव है । अपरिग्रह-परायण व्यक्ति स्वावलम्बन हेतु मितव्ययता तथा सादगी को स्वतः अपना लेता है ।

अपरिग्रह के सम्बन्ध में गाँधी जी ने कहा--"अधिकार जमा कर कुछ भी रख लेना एक अपराध है" । गाँधी जी आधुनिक सभ्यता की आवश्यकता बढ़ाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध थे । वे कहते थे कि किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार न मानने से मनुष्य समस्त वस्तुओं का स्वामी हो जाता है और उनका विश्वास था कि ऐसे व्यक्ति की सच्ची आवश्यकता की पूर्ति परमात्मा स्वयं करता है । अपरिग्रह से मनोबल बढ़ता है तथा परिग्रह करने से वह घट जाता है । अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य के पालन से मानो गाँधी जी ने कामिनी कांचन के प्रलोभन पर विजय पा ली थी । ब्रह्मचर्य का अर्थ है--ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण ।

गाँधी जी अनासक्ति के अभ्यास के कारण ही अपरिग्रह में सफल हो सके । उन्हें भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति ही न थी । सच तो यह है कि उन्हें पद, यश आदि के प्रति भी आसक्ति न थी । वे कर्म करना अपना कर्त्तव्य मानते थे किन्तु फल में उन्हें आसक्ति न थी । गाँधी जी "मनसा वाचा कर्मणा" आत्म-समर्पण कर अपनी समस्त वृत्तियों एवं शक्तियों का पूर्ण सदुपयोग करते थे । गाँधी जी ने यह गीता से सीखा था । गाँधी जी गीता को गुरु मानते थे ।

गाँधी जी की आत्मविजय अनुपम थी । अपने शरीर, इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि पर उनका पूर्ण नियन्त्रण था । आत्मविजय का प्रारंभ कदाचित् स्वाद एवं यौनभाव पर जय पाने से होता है । आत्म-विजयी के सत्संकल्प पूर्ण होते हैं । आत्मविजय से संकल्पसिद्धि निष्पन्न होती है । जीवन में महान् कार्यों के सम्पादन के लिये आत्मविजय तथा तज्जन्य आत्मविश्वास परमावश्यक है । जिसमें आत्मविश्वास होता है वही दूसरों पर विश्वास करता है । गाँधी जी को जनता की सामर्थ्य पर भी पूर्ण विश्वास था । इसी कारण वे कन्ट्रोल, लाइसेंस और परमिट के विरोधी थे । सुकरात ने ठीक ही कहा था--"जो व्यक्ति संसार जीतना चाहे पहिले अपने आप को जीते ।" गाँधी जी वह उपदेश न देते थे जिस पर वे स्वयं आचरण नहीं करते हों । आत्मविजय के कारण उनमें अद्भुत आत्मबल एवं आकर्षण उत्पन्न हो गये थे और विश्व में करोड़ों मनुष्य उनके प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे । बल द्वारा दूसरों पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति बलशाली (स्ट्रौंग) कहलाता है किन्तु आत्मविजयी

तो शक्तिशाली (माइटी) होता है। वे निद्रा पर भी विजय पा चुके थे। जब वे चाहते थे, क्षण भर में ही सोकर विश्राम करने लगते थे।

गाँधी जी अस्वाद, उपासना, प्रार्थना आदि के द्वारा आत्मबल-संचय करते थे। गाँधी जी उस प्रकार का आहार लेते थे जिसकी उन्हें आवश्यकता हो। स्वाद के लिये भोजन करना इन्द्रियों को स्वच्छन्दता देना है। व्रतों में स्वादजय का स्थान विशिष्ट है। जिह्वा की दोनों विजय होना आवश्यक है—स्वादजय (अस्वाद) तथा वाणीजय (सत्य, मित एवं मधुर वचन कहना)। उपासना एवं प्रार्थना का अर्थ है निरहंकार एवं निर्विकार होने का प्रयत्न करना तथा उसके द्वारा परमेश्वर की समीपता, प्रभु से योग, प्राप्त करना। जीवमात्र में ईश्वर बसता है, अतएव निष्काम सेवा के द्वारा जीवमात्र के साथ तादात्म्य-साधना भी उपासना ही है।

महात्मा गाँधी अभय को अहिंसा का प्रमुख सहायक मानते थे। सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलकर मनुष्य अभय हो सकता है। जो व्यक्ति इस कल्पना से भयभीत होता है कि सत्य का समर्थन करने से मेरे कुटुम्बियों को और मुझे दुःख मिलेगा, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता है। ऐसा व्यक्ति अन्याय का सामना भी नहीं कर सकता है। वह सत्य की खोज नहीं कर सकता है और न खोजकर उसको पकड़े ही रख सकता है। मनुष्य अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण ही भय का प्रक्षेपण (प्रोजेक्ट) कर बाह्य वस्तुओं, व्यक्तियों एवं घटनाओं से डरता है। यदि मन शुद्ध हो, निर्विकार हो, निःस्वार्थ हो तथा अपने सिद्धान्तों पर निष्ठापूर्वक विश्वास हो तो भय नहीं रहता है। ईश्वर से भय मानना भी अयुक्त एवं असंगत है। ईश्वर भयनिवारक है न कि भय-प्रदाता। अतः ईश्वर से भी क्यों डरें? हाँ, ईश्वर के साथ जुड़कर निर्भय बनें।

प्रायः लोग किसी बात को बुद्धि से तो मान लेते हैं किन्तु उनका मन उसे स्वीकार नहीं करता है। कहीं पर मन किसी बात से आकृष्ट होता है, बुद्धि उसे स्वीकार नहीं करती है। जब बुद्धि और मन दोनों ही किसी आदर्श, मूल्य अथवा सिद्धान्त को ग्रहण कर लेते हैं, तब मनुष्य में उसके प्रति निष्ठा उत्पन्न होती है, विश्वास दृढ़ होता है। तभी मनुष्य का आचरण स्पष्ट एवं पाखण्डरहित होता है। उसका प्रभाव स्वयं अपने ऊपर तथा दूसरों पर भी गहन एवं स्थायी होता है। निष्ठा भी अभय होने में सहायक होती है। निष्ठा होने पर अन्तरात्मा को भी बल प्राप्त होता है। हमारी बात कितनी भी पाण्डित्यपूर्ण क्यों न हो, दूसरों पर उसका प्रभाव तभी होगा जब हम उस पर निष्ठापूर्वक आचरण कर रहे हों, हमारी उसमें स्वयं आस्था हो। जब तक

मनुष्य को किसी सिद्धान्त अथवा सत्य के प्रति निष्ठा नहीं होती है, तब तक वह दूसरों से अपने विचार एवं कर्म का समर्थन अथवा प्रशंसा द्वारा उसकी पुष्टि चाहता है। अपनी निष्ठा होने पर मनुष्य दूसरों के इशारों से नहीं चलता, न मार्ग से विचलित होता है।

महापुरुष कुछ आदर्शों को अपनाकर अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेते हैं तथा पूर्ण शक्ति से उसकी प्राप्ति के लिये जुट जाते हैं। मार्ग की बाधाएं उन्हें प्रेरणा देती हैं, निरुत्साह नहीं करतीं। 'मंजिल पे जिन्हें जाना है, शिकवा नहीं करते। शिकवों में जो उलझे हैं, पहुँचा नहीं करते।' कठिनाइयों को ललकार कर, परिस्थितियों की चुनौती को स्वीकार करके उसका सामना करने से मनुष्य का आत्मबल बढ़ता है जो उसे विजय प्रदान करता है।

महात्मा गाँधी जीवन भर जटिलताओं से जूझते रहे और कटु आलोचना, निन्दा, हिंसा का सामना करते रहे। उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य की शक्ति के विरुद्ध अपने को जुटा दिया। उनकी निष्ठा थी कि यदि एक भी व्यक्ति अहिंसा का पूर्णतः पालन करते हुए साम्राज्य के अत्याचार का सामना करने के लिये उठ खड़ा होगा तो वह अकेला ही उस साम्राज्य के सुधार अथवा विनाश की आधारशिला रख देगा। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने "गाँधी दर्शन परिषद्" में भाषण करते हुए यह शंका की थी, "हमें यह मान लेना चाहिये कि गाँधी जी की सफलता, बहुत हद तक, केवल उनके निजी व्यक्तित्व और भारतवासियों के कारण नहीं हुई बल्कि उसका कारण अंग्रेज भी थे। मैं नहीं कह सकता और ऐसा सोचना केवल अनुमान लगाना होगा कि यदि उनके विरोधी सज्जन न होते जो अपने अत्याचारों की कोई सीमा नहीं मानते और जो अपने शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकते तो गाँधी जी के परीक्षण का क्या फल होता? हम नहीं कह सकते कि गाँधी जी अहिंसा पर अटल रह पाते और ऐसे विरोधी को अहिंसा के द्वारा जीत लेते या नहीं। क्या उस अवस्था में होता, यह सब केवल अनुमान की बात रह गई है।" हाँ, यह तो कदाचित् ठीक है कि हिटलर, मुसोलिनी की भाँति बर्बर होने पर अंग्रेज क्या नहीं कर सकते थे? किन्तु गाँधी जी के आचरण के सम्बन्ध में राजेन्द्रप्रसाद जी के द्वारा कोई भी शंका करना निर्मूल एवं निराधार है। यह कहना सर्वथा एक भूल है कि गाँधी जी की सफलता का कारण अंग्रेज भी थे। उनकी सफलता का एकमात्र कारण निष्ठापूर्वक अहिंसा पालन के द्वारा अपने भीतर अपरिमित आत्मबल का उदय तथा भारतवासियों की चेतना को जागृत करना था। भारतीय जनमानस के साथ महात्मा गाँधी का अद्भुत तादात्म्य था और अंग्रेज उनकी महत्ता एवं प्रभाव का अहसास करते थे। हमें अहिंसा का

अवमूल्यन कदापि नहीं करना चाहिये। भयानक साम्प्रदायिक दंगों तथा अन्य हिंसात्मक घटनाओं के मध्य में भी उनकी अहिंसा के प्रति निर्भीक एवं अडिग आस्था थी। वे अन्त तक अहिंसा के पालन में डटे रहे। अंग्रेज स्वेच्छा से भारत छोड़कर नहीं गये, विवश होकर गये। क्या अंग्रेजों ने अत्याचार की कोई सीमा मानी? कितने लोगों को क्रूरता से मार दिया गया और कैसा भयंकर दमनचक्र चलाया गया? इतिहास इसका साक्षी है। भले ही गाँधी जी पूर्ण अहिंसा पालन करने पर भी अंग्रेजों के द्वारा मार दिये जाते किन्तु ऐसे अहिंसक, आत्मबलसंवेत व्यक्ति की हत्या से भयानक क्रांति का प्रारम्भ हो जाता तथा अंग्रेजों का अन्त और भी अधिक शीघ्र हो जाता। अहिंसक सन्त की हत्या के भीषण परिणाम होते हैं और उसके वध किये जाने पर भी उसका प्रभाव घटता नहीं है। उसके रक्त की एक-एक बूँद आत्म-बलिदानी वीर उत्पन्न कर देती है। द्वेषरहित महात्मा पर आघात करने वाले अपने ही विनाश को आमंत्रित करते हैं। नमक छोड़ने वाले व्यक्ति को काटकर विषधर भुजंग स्वयं मर जाता है। संत तो आक्रमण होने पर भी कहता है, "प्रभो इन्हें सन्मति दे, क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" अहिंसक सन्त मरहम बनकर दूसरों के घाव ठीक कर देते हैं, जख्म नहीं करते।

जब गाँधी जी सन् १९३१ में द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने के हेतु इंगलैंड गये थे तो सम्राट् जार्ज पंचम ने अपने महल में उन्हें बमों, तोपों का भय दिखाया। गाँधी जी ने अगले दिन ही इंगलैंड में इसके उत्तर में कान्फ्रेन्स के समय व्यंग्यपूर्वक कहा था—"एक अंग्रेज सज्जन ने बमों की धमकी दी है किन्तु मेरे देश के बच्चे उन्हें पटाखे ही समझते हैं।" यह थी अहिंसक सन्त की निर्भीकता।

अहिंसक महावीर की निर्भयता और आत्मबल अपार होते हैं। गाँधी जी ने निर्भीक नेता के रूप में भारतीय राजनीति में प्रवेश कर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध शंखनाद कर दिया। उन्होंने ३१ दिसम्बर १९२९ को लाहौर कांग्रेस के मंच से भारत की पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लिये जुट जाने की घोषणा कर दी। गाँधी जी ने भारतीयों को उनका खोया हुआ आत्मसम्मान दिया, बल दिया, राह दिखाई और भारत के निराश-जीवन में आशा का संचार कर प्राण फूँक दिये। गाँधी जी ने देश की काया पलट ही कर दी। अंग्रेजों को "जी हजूर" करने वाले रायबहादुर और खानबहादुर आत्मग्लानि में जलने लगे। कवीन्द्र रवीन्द्र ने "नाइट" की उपाधि सम्मान के स्थान पर असम्मान मानकर अंग्रेज वाइसराय को लौटा दी। लाखों व्यक्ति गाँधी जी के संकेत पर उठ खड़े हुए। देश में हलचल मच गई। जननायक गाँधी जी के

एक-एक शब्द ने, एक-एक प्रण ने देश में तूफान उठा दिया। अंग्रेजी साम्राज्य की शक्ति को खुली चुनौती देकर लाखों लोगों ने जेलें भर दीं और जेलों में भी स्थान का अभाव हो गया। अंग्रेजों ने जलियांवाला बाग आदि स्थानों में बर्बरता से गोली चलाकर और भगतसिंह आदि सैकड़ों वीर एवं आत्म-बलिदानी क्रांतिकारियों को फाँसी के तख्ते पर लटका कर भी देख लिया। भारत की जन-शक्ति अब जाग चुकी थी। मतवाले देशभक्तों ने सहर्ष प्राण देना एक खेल समझ लिया और मृत्यु-आलिंगन को एक सौभाग्यमय गौरव मान लिया। आजादी के दीवाने नवयुवक फाँसी के तख्ते पर झूलना, आत्म-बलिदान करना एक तमाशा समझने लगे। गाँधी जी की आत्मा के स्फुलिंग ने एक ऐसी आग धधका दी जिसने अंग्रेजों की बर्बरता को ही फूँक दिया। सारे विश्व में ही मानो एक भयानक भूकम्प आ गया। भारत की प्रसुप्त आत्मा जागृत हो गई थी और राष्ट्र में नवचेतना आ चुकी थी। जिस अंग्रेज सत्ता ने सन् १८५७ की हिंसक क्रांति को शस्त्रबल से विफल कर दिया था, वह गाँधी की अहिंसक क्रान्ति को न कुचल सकी। अहिंसा की प्रबुद्धमूर्ति गाँधी जी भारत की आत्मा थे। गाँधी जी भारत के राष्ट्रनायक ही नहीं, राष्ट्रपिता भी थे।

गाँधी जी ने चतुर्दिक् अन्याय से लड़ना सीखा था। सत्य और न्याय का दम सदैव घोटा गया है। अन्याय के साथ लड़ने से उनकी आत्मशक्ति प्रस्फुटित हो गई थी। इसका प्रारम्भ अफ्रीका में हुआ था जब प्रथम दर्जे का टिकट लिये हुए भी उन्हें अंग्रेजों ने डिब्बे से निकल जाने के लिए आदेश दिया और उनके अडिग रहने पर उन्हें धक्का देकर निकाल फेंका। शोषण, पीड़न, अन्याय एवं अत्याचार के साथ समझौता न करने के अभ्यास से गाँधी जी में अतुल आत्मबल समाविष्ट हो गया था। गाँधी जी ने अफ्रीका में असीम यातना सही और फिर भारत में लौटकर उन्होंने राष्ट्र के जनमानस को अंग्रेजों के भीषण अत्याचार के विरुद्ध सचेत कर दिया।

महात्मा गाँधी की देशभक्ति संकीर्ण नहीं थी। गाँधी जी कहते थे, "भारत की स्वतन्त्रता के द्वारा मैं भ्रातृभाव की स्थापना और उसके सन्देश को फैलाना चाहता हूँ। मेरी देशभक्ति कोई अलग चीज नहीं है। मैं इसमें सभी को शामिल करना चाहता हूँ और मैं उसे देशभक्त नहीं मानता जिसमें अन्य देशों के लोगों का उत्पीडन या शोषण हो"। गाँधी जी मानवतावादी थे और एक देश, एक वर्ग अथवा एक जाति का दूसरे पर आधिपत्य होना उन्हें अन्यायपूर्ण प्रतीत होता था। वे भारत की स्वतंत्रता एवं प्रभुसत्ता का उपयोग मानव-सेवा एवं विश्वशान्ति के लिए करना चाहते थे।

गाँधी जी का स्वदेशी आह्वान भी अंग्रेजों की शोषण नीति एवं अंग्रेजों के

मिथ्या अभिमान के विरुद्ध एक चुनौती था। दासता की दशा में अंग्रेजी कपड़ा पहनकर हमारी गौरववृद्धि नहीं है बल्कि अपमान है——यह भावना जागृत कर गाँधी जी के अनुयायियों ने कीमती अंग्रेजी कपड़ों की होली जला दी तथा स्वदेशी मोटी खादी पहनकर भारत की आत्मप्रतिष्ठा को ऊँचा कर दिया। चरखा गतिमय जीवन का एवं गाँधी दर्शन का प्रतीक था। चरखा गाँधी जी के स्वदेशी अर्थतंत्र का प्रतीक था। चरखे के पीछे गाँधी जी की भावना थी कि हम सादा खाना, सादा पहिनना सीखें, सरल रहना सीखें। भावना का विशेष महत्व होता है। होटल के स्वादिष्ट भोजन की अपेक्षा माता के हाथ का सादा भोजन अधिक पोषक होता है; क्योंकि उसके पृष्ठ में माता की भावना होती है। उत्पादन के पृष्ठ में भावना होनी चाहिये। गाँधी जी की भावना सादगी, सेवा, उपकार की भावना थी। चरखे के प्रयोग के द्वारा श्रम को मान एवं प्रतिष्ठा मिली और भारतीयों में स्वदेशाभिमान उपजा। खादी धारण करना मानो सादगी, आत्मपर्याप्तता, आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन का पाठ सीखना था। खादी के द्वारा समानता एवं परस्पर प्रेम का प्रचार तथा दरिद्र नारायण का सम्मान हुआ। खादी केवल वस्त्र नहीं, एक विचार था, दर्शन था। गाँधी जी स्वदेशी अर्थतंत्र के पक्षधर थे।

गाँधी जी ने कलह, हिंसा, न्याय, अत्याचार तथा शोषण के निवारण हेतु एक अहिंसात्मक शस्त्र का विकास किया, यह था सत्याग्रह। नैतिक बल का आधार लेकर सत्य के प्रति चेतनापूर्ण सम्मान का उदय करना सत्याग्रह का उद्देश्य है। स्वार्थान्ध, कुटिल, घातक एवं नीच व्यक्ति के अन्तस्तल में भी सत्य की झलक अवश्य होती है। सत्याग्रह के द्वारा दूसरे व्यक्ति के हृदय में सत्य के प्रति समादर जगा देना और उसके भीतर अन्तःकरण की आवाज को स्पष्ट एवं उग्र कर देना सम्भव है। स्वार्थरत व्यक्ति भी अधिक समय तक आन्तरिक ध्वनि को दबा नहीं सकता है। यदि अन्यायी को अपने अन्याय का निश्चय हो जाये तो उसका हृदय परिवर्तन होना साध्य है। सत्याग्रही झूठी प्रतिष्ठा के चक्र में नहीं आता है और उसे यश-अपयश का भय नहीं होता है। सत्याग्रही अपनी भूल को स्वीकार करने में लज्जित नहीं होता है और वह जानता है कि कब आगे बढ़ना है और कब पीछे हटना। चुपचाप निष्क्रिय होकर अन्याय सहन करते रहने से तेजक्षय होता है, सत्त्वहानि होती है। प्रेमवार्ता, उपवास, असहयोग, सविनय अवज्ञा आदि के द्वारा सत्ताधारी व्यक्तियों एवं जनसमाज की अन्तःसलिला में ज्वार उठाकर सत्याग्रही उसे पवित्र कर देता है तथा उनके अन्तःकरण की आवाज को जगाकर एवं भूल स्वीकार करा कर, उन्हें आत्मसुधार तथा सत्यग्रहण के लिए विवश कर देता है। स्वच्छ

अन्तःकरण की आवाज सत्य एवं न्याय की वाणी होती है, परमात्मा की वाणी होती है। सन्दिग्ध स्थलों पर स्वच्छ अन्तःकरण की ध्वनि ही निर्णायक होती है। "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" (कालिदास)। गाँधी जी सावधि एवं निरवधि उपवास रखते थे जिसका उद्देश्य नैतिक चेतना जगाना होता था, न कि राजनीतिक दबाव डालना। उपवास अन्तिम किन्तु पूर्णतः अहिंसक आयुध था। सत्याग्रह के द्वारा मनुष्य में आत्मबल का विकास होता है। सत्याग्रही केवल साध्य की पवित्रता पर ही नहीं, साधन की पवित्रता पर भी बल देता है। सत्याग्रही अन्तःकरण की आवाज सुनकर अकेला ही सन्मार्ग पर चल देता है। "एकला चलो रे", रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह गीत गाँधी जी को विशेष प्रिय था। "वह सबसे तेज दौड़ता है जो अकेला ही दौड़ता है"। "सूर्य एकाकी चरति" सूर्य अकेला ही चलता है। सत्य के प्रभाव के कारण लोक भी सत्याग्रही के साथ चल देता है।

गाँधी जी शोषण को हिंसा का विषैला रूप मानते थे और शोषणरहित, आदर्श समाज-व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसे वह स्वराज अथवा रामराज्य कहते थे। "स्व" अर्थात् "आत्मा" का राज्य अथवा न्याय तथा प्रेम का राज्य, जनता का अपना राज्य ही स्वराज्य है। स्वराज्य से अभिप्राय है ऐसा राज्य जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक (व्यक्तिगत आत्मविजय पर आधारित, चारित्रिक उत्कृष्टता पर आधारित) "स्वराज्य" से उत्पन्न जन-सत्तात्मक राज्य हो। ऐसे राज्य में कर्त्तव्यपालन के द्वारा अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। स्वराज्य में सत्ता का उपभोग स्वार्थपूर्ति के लिये नहीं, जनकल्याण के लिये होता है। स्वराज्य का आधार परस्पर प्रेम, सहयोग तथा न्याय होते हैं। स्त्रीजाति अथवा किसी दलित निम्न वर्ग का शोषण स्वराज्य में सम्भव नहीं है। गाँधी जी तो भारत के दलित समाज को "हरिजन" अर्थात् "प्रभु के प्रियजन" कहकर पुकारते थे। गाँधी जी बरबस विचार लादने को भी हिंसा ही मानते थे। गाँधी जी के अनुसार रामराज्य में कम से कम शासन होना चाहिये और सिपाही भी वहाँ अपने को प्रजा का मित्र समझेगा। रामराज्य में मतभेद एवं झगड़ों का निराकरण अहिंसक मार्ग अपनाकर ही होगा। राम-राज्य में व्यक्ति के अच्छा होने पर तथा व्यक्ति के सुधार पर विशेष बल है। यदि व्यक्ति अच्छे होंगे तो समाज अच्छा होगा, और रामराज्य भी संभव होगा। स्वार्थी एवं लोलुप व्यक्ति कितने भी योग्य हों, वे हमारे प्रतिनिधि तथा अधिकारी (अफसर) बनकर भ्रष्टता का ही प्रसार कर सकेंगे। अतः व्यक्ति का अच्छा चरित्र होना परमावश्यक है।

गाँधी जी विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे। राजनीति, व्यापार आदि किसी

भी क्षेत्र में शक्ति का केन्द्रीकरण शोषण एवं हिंसा का कारण होता है। गाँधी जी शोषणरहित व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। साम्यवादी देशों में भी कहीं न कहीं राजनीतिक तानाशाही शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है और कालान्तर में एक नये विशेषाधिकार-प्राप्त लघु सत्ताधारी शासकवर्ग का अभ्युदय हो जाता है। विकेन्द्रीकरण के द्वारा वर्गहीन समाज का निर्माण सम्भव है। गाँधी जी सभी दिशाओं में विकेन्द्रीकरण चाहते थे। इस कृषि-प्रधान देश में, जहाँ अस्सी प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है, ग्राम स्वराज्य भारतीय स्वराज्य का मूलाधार होना चाहिये। ग्राम में जितने मनुष्य हों, वे सब सभी की चिन्ता करें, सेवा करें, मिलकर रहें और दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं अधिकतः ग्राम में ही उत्पन्न हों। ग्राम स्वराज्य की स्थापना देश के हित में ही होगी। आज धीरे-धीरे ग्रामों को नगर खाये जा रहे हैं और ग्राम के युवक-युवती नगर की विलासिता से आकृष्ट होकर ग्रामों को छोड़ रहे हैं तथा ग्रामों की उपेक्षा कर रहे हैं। सभ्यता के नाम पर ग्रामों में विलासिता एवं फैशन घुस रहा है और ग्रामों का सरल, सात्त्विक एवं मधुर जीवन विषाक्त होता जा रहा है। परिश्रम के स्थान पर विलासिता का आधिपत्य होना दुर्भाग्य की बात है।

गाँधी जी उद्योगवाद को धन के केन्द्रीकरण का एक प्रमुख कारण मानते थे। वे मशीन के विरोध में न थे किन्तु मशीन के द्वारा शोषण होने के विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि यदि लोभ के स्थान पर प्रेम उत्प्रेरक शक्ति (मोटिव पावर) हो तो मशीन से हानि नहीं होगी। यद्यपि उद्योगपति कहते हैं कि वे हजारों भूखों को रोजगार दे रहे हैं किन्तु वास्तव में वे उद्योगों की स्थापना प्रायः उदारता, सेवा के हेतु नहीं बल्कि लोभ एवं स्वार्थ के हेतु तथा अपनी भोगवृत्ति की संतुष्टि के हेतु करते हैं। गाँधी जी कहते थे कि मशीन के द्वारा थोड़े से व्यक्ति लाखों की कमर पर सवार हो जाते हैं और थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में धन केन्द्रीभूत हो जाता है। मशीन के द्वारा कुछ को रोजगार मिलता है और हजारों बेरोजगार हो जाते हैं। गाँधी जी के मन में खेद था कि धनिक वैज्ञानिकों को खरीदकर बड़े उद्योग चलाने में गरीबों का शोषण करने लगते हैं। अतः गाँधी जी मशीन के विरोध में नहीं थे, उस पर नियंत्रण चाहते थे और उनकी योजना थी कि देश में लघु उद्योगों, कुटीर उद्योगों का जाल फैल जाये और बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाये। वे चाहते थे कि बड़े कारखानों को मानव-सेवा के लिये, जन-लाभ के लिये चलाया जाये तथा प्रेम लोभ का स्थान ले ले ताकि धनसंग्रह की दौड़ तथा आर्थिक एवं सामाजिक विषमता समाप्त हो। उनका कहना था कि मानव को सर्वोपरि समझा जाये, न कि धन को। मानव की प्रतिष्ठा को घटा कर धन

का उत्पादन बढ़ाना हिंसा का निकृष्ट रूप है। श्रमिक के साथ पशु जैसा व्यवहार करना उन्हें सहन न होता था। वे मानवीय मूल्यों के दृढ़ पक्षधर थे, सच्चे मानववादी थे। गाँधी जी दरिद्र नारायण की सेवा को उत्कृष्ट मानते थे और उनका कहना था कि यदि कभी यह असमंजस हो कि कोई पग अच्छा है अथवा बुरा तो अपने जीवन में देखे हुए सबसे अधिक गरीब आदमी का ध्यान करें और सोचें कि वह पग उसके हित में है अथवा नहीं। समाज कामधेनु है जिसका दोहन करना तो न्याय्य है किन्तु शोषण करना पापमय है। दोहन के साथ पोषण भी तो आवश्यक है।

गाँधी जी ऐसी शिक्षा के पक्ष में थे जिसमें बच्चों की प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हो तथा उनके अन्दर की शक्तियाँ प्रस्फुटित हो सकें। उनकी शिक्षा में हिंसा का कोई स्थान नहीं था। यदि बच्चों का पोषण अहिंसा के वातावरण में होगा तो वे क्रूर, हिंसक न बनेंगे और अहिंसा का सच्चा अर्थ समझ सकेंगे। बच्चे शुद्धचित्त, संयमी, साहसी, श्रमप्रिय बनकर जीवन-यापन की कला में कुशल हो सकेंगे। बच्चों को शिक्षा उनकी मातृभाषा के माध्यम से ही दी जानी चाहिये। शिक्षा में श्रम और सेवा का समावेश होना परम आवश्यक है। इसी कारण से गाँधी जी आश्रम में सर्वप्रथम लोगों के हाथ में झाड़ू दे देते थे और सफाई कराते थे। शिक्षा में हाथ के काम को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। गाँधी जी मानववादी थे और शिक्षा के द्वारा मानवता सिखाना शिक्षा का उद्देश्य मानते थे।

गाँधी जी गंभीर रहकर भी हास-परिहास में रस लेते थे। गंभीरता का अर्थ शुष्कता, नीरसता नहीं होता है। गंभीर समुद्र भी कभी-कभी छलछला उठता है।

महात्मा गाँधी का आश्रम जहाँ वे अपने कतिपय अनुयायीगण के साथ रहते थे, "सादा जीवन, उच्चविचार" एवं "स्वावलम्बन" का सजीव उदाहरण था। आश्रम का प्रत्येक सदस्य आश्रम के सब कार्यों को अपने हाथों से करता था। यदि भोजन करना आवश्यक है तो भोजन बनाना और पाकशाला में भोजन-कार्य करना भी आवश्यक है। आश्रम में गाँधी जी स्वयं चक्की चलाते थे, बर्तन मांजते थे, मेहतर का कार्य करते थे और अन्य स्वच्छता-संबंधी कार्य करते थे। आश्रम में छोटे-बड़े का कोई विचार नहीं था। आश्रम में गीता, कुरान और बाइबिल का पाठ होता था और सभी आश्रमवासी प्रार्थना में सम्मिलित होते थे। विनोबा जी लिखते हैं कि जब वे प्रथम बार महात्मा गाँधी के आश्रम पर उनसे भेंट करने गये, गाँधी जी शाक बना रहे थे और रसोई का काम कर रहे थे तथा उन्होंने विनोबा जी को पास बैठाकर उन्हें शाक

काटने के लिये चाकू दे दिया। इस प्रकार गाँधी जी ने विनोबा को प्रथम दीक्षा दी। आश्रम में पैसे-पैसे का हिसाब रखा जाता था। सार्वजनिक संस्थाओं के प्रत्येक पैसे का हिसाब रखना गाँधी जी की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण था। व्यक्तिगत पैसे को संभाल कर खर्च करने वाला व्यक्ति ही सामाजिक पैसे को संभालकर रख सकता है। लापरवाही से पैसे का अपव्यय करने वाला व्यक्ति चरित्र को ऊँचा नहीं उठा सकता है। अर्थशुचिता होने पर ही कोई संस्था जीवित रहकर सेवा कर सकती है। सत्यनिष्ठा के कारण महात्मा गाँधी मितव्ययता पर बल डालते थे। सादा एवं संयमित जीवन और मित-व्ययता सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिये आवश्यक होते हैं।

गाँधी जी सभी धर्मों का सत्कार करते थे और सभी को समान कल्याण-कारी मानते थे। सभी धर्मों में एक ही सत्य निहित है, अतः धर्म-परिवर्तन असंगत एवं अयुक्त है। मानवसेवा परम धर्म है। राजनीति धर्म की दासी हो, न कि स्वामिनी। धर्म राजनीति को दूषित नहीं करता है, उसे पवित्र बनाता है। राजनीति स्वामिनी हो जाये तो धर्म दूषित हो जाता है। ईश्वर तथा राम नाम में गाँधी जी अखण्ड विश्वास रखते थे। प्रार्थना एवं भजन-कीर्तन उन्हें प्रिय थे। उनका प्रिय भजन "वैष्णव जन तो तेणे कहिये" उनके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है। तुलसीकृत रामायण और गीता उन्हें विशेष प्रिय थे तथा उनके लिये सतत प्रेरणा स्रोत बने हुए थे। उनकी विचार-धारा पर गीता और रामचरित मानस की गहरी छाप स्पष्टतः दिखायी देती है। वे कहते थे—"सत्य और अहिंसा पर अमल करने के लिये जितनी दवाइयां हैं, उनमें से सबसे अच्छी दवाई रामनाम है।" उनके मुख से प्राणान्त के समय भी "हे राम" निकला। यह थी महात्मा गाँधी की ईश्वर-निष्ठा। वे प्रायः मुख से "राम" कहते रहते थे। वे विभिन्न धर्मों में प्रयुक्त ईश्वर के पर्यायवाची शब्दों का समान आदर करते थे।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार महात्मा गाँधी ईश्वर को कर्त्ता तथा अपने आप को निमित्तमात्र मानकर निरभिमान एवं निरहंकार रहते थे। श्री मदन-मोहन मालवीय के रुग्ण होने पर उनका अत्यन्त आदर करते हुए भी उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"राष्ट्र का कारोबार न मालवीय जी पर निर्भर है, न लाला जी पर, न मुझ पर। सब निमित्तमात्र हैं और मेरा तो विश्वास है कि सत्पुरुष के कार्य का सच्चा आरंभ उसके देहान्त के बाद ही होता है।"

गाँधी जी व्यावहारिक होने के नाते अपने निश्चय बदल देते थे किन्तु अपने सिद्धान्तों की उपेक्षा न होने देते थे। पहले विश्व-युद्ध में गाँधी जी ने अंग्रेज़ों की सहायता की और स्वयं सिपाहियों की भर्ती करने में लग गये।

तब ब्रिटिश साम्राज्य पर उनका विश्वास था और उन्होंने सोचा था कि अंग्रेज कृतज्ञ होकर भारत को स्वतन्त्र कर देंगे किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में उन्होंने अंग्रेजों को सहयोग देने का विरोध किया और अंग्रेजों से कह दिया "आप भारत छोड़ें और हमें भगवान् या अराजकता के भरोसे पर ही छोड़ दें"।

महात्मा गाँधी अपनी भूलों को खुलकर स्वीकार कर लेते थे और उनका निराकरण एवं विसर्जन करने का संकल्प ले लेते थे। यह उनके चरित्र-निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ। यह गुण उनमें बाल्यकाल से ही था। भूल स्वीकार करने के मूल में सद् असद् (ठीक और गलत) का विवेक तथा आत्म-सुधार का संकल्प एवं प्रयत्न होता है।

महापुरुष अपने जीवन में जहाँ कुछ दिशाओं में सफल हो जाते हैं, वहाँ अनेक दिशाओं में विफल भी होते हैं। महापुरुष विफल होकर भी सफलता का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की किन्तु उनका "अखण्ड भारत" का स्वप्न टूट गया और वे अत्यधिक झुक कर भी श्री जिन्ना का विचार परिवर्तन न कर सके तथा उन्हें देश-विभाजन के आग्रह से न हटा सके। हमें महापुरुषों के कृतित्व का मूल्यांकन उनके युग की परिस्थिति को सामने रख कर ही करना चाहिये। आदर्श पथ के तथाकथित नाकामयाब राही ही समाज को रोशनी दिखाते हैं, समाज को आगे ले जाते हैं, भावी सफलता का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

गाँधी जी का जीवन एक अथाह सागर की भांति विस्तृत तथा गहन है। उनके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता एवं अहिंसा का व्यापक विनियोग आश्चर्यजनक है। अहिंसा अपनाने का उपदेश तो अनेक महापुरुष कर चुके थे किन्तु जन-समुदायों और राष्ट्रों के बीच मतभेदों को दूर करने का तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्षेत्रों में इतने बड़े पैमाने पर अहिंसा के प्रयोग करने का श्रेय गांधी जी को ही था। गाँधी जी ने जीवन के सभी अंगों पर अपना मत प्रकट किया ——रसोई कैसे बने, सफाई कैसे हो, मच्छर से बचने का सर्वोत्तम उपाय क्या है, पति पत्नी गृहस्थ में कैसे रहें, मद्यपान से क्या हानि है, साम्प्रदायिक एकता कैसे हो, गौरक्षा कैसे हो, रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा तथा आहार कैसे हों, ललित कलाओं का जीवन में क्या स्थान है, राम नाम का महत्व क्या है, शिक्षक कैसे हों, लोकसेवक कैसे हों आदि।

तर्कपूर्ण विवेक मानव की विशिष्टता है। तर्कपूर्णता का सार है वस्तुओं को यथावत् देखना और उन पर तटस्थ चिन्तन करना। प्रायः विवेकवान् व्यक्ति केवल उस विषय-सामग्री के प्रति तटस्थ अथवा निष्पक्ष रहता है जिस पर वह चिन्तन करता है। किन्तु वास्तव में पूर्ण तटस्थ वह व्यक्ति है जो न केवल

चिन्तनीय सामग्री के प्रति तटस्थ हो बल्कि अपने आप के प्रति, अपनी इच्छाओं, आशाओं, भयादि के प्रति भी तटस्थ हो। इस प्रकार विश्लेषण करते हुए जोड महाशय कहते हैं कि यदि उस प्रकार का पूर्ण तटस्थ व्यक्ति अपनी तटस्थता के साथ कुछ शुद्ध सिद्धान्त भी जोड़ देता है तो उसमें एक विचित्र नैतिक बल अथवा आत्मबल का अभ्युदय हो जाता है जिसका सभी पर विलक्षण प्रभाव होता है। आत्मबल के पुञ्ज गाँधी जी का प्रभाव अद्भुत था। उनमें बच्चों की सी सरलता और गहन बुद्धिमत्ता का सम्मिश्रण था। वे महान् सन्त थे, महान् राजनीतिज्ञ भी। गाँधी जी को शत्रु मानने वाले व्यक्ति भी उनका प्रभाव मानते थे और उनके नैतिकबल के सामने अपने हिंसाबल को विफल एवं निरर्थक समझते थे। यही अहिंसा की विजय और हिंसा की पराजय थी। हिंसक भी अहिंसक की महत्ता को मन ही मन में मानता है, भले ही वह उसे स्पष्टतः स्वीकार न करे। गाँधी जी हिंसा से शत्रु को मिटाने के नहीं बल्कि अहिंसा से शत्रुता को मिटाने के पक्षधर थे। इस भौतिकवादी युग में जब स्नेह के स्रोत सूख गये हैं, गाँधी जी एक नया उजाला हैं। गाँधी जी का स्थान बुद्ध और ईसा की श्रेणी में ही है। गाँधी जी निविड़ अन्धकार में क्षितिज पर कौंधने वाली बिजली के समान पथप्रदर्शक ज्योति बन गये हैं अथवा गाँधी ऐसे दीपक हैं जिसके प्रकाश में हम दूर तक भविष्य पथ पर दौड़ते हुए चले जा सकते हैं।

गाँधी जी दूसरों के लिये ही जीने के कारण "महात्मा" कहलाये। गाँधी जी भारत राष्ट्र के सच्चे प्रतिनिधि थे। यदि राष्ट्र कष्ट में हो तो व्यक्तिगत ऐश्वर्य एवं भोग सच्चे राष्ट्रभक्त के लिये भयावह प्रतीत होता है। जब स्वामी विवेकानन्द को अमेरिका में ऐतिहासिक मान-सम्मान प्राप्त हुआ तो उनकी आत्मा कराह उठी और उन्होंने कहा था—"मैं इस भारी सम्मान का क्या करूं? मेरा भारत राष्ट्र तो संकट और अपमान सह रहा है। इसी प्रकार गाँधी जी बिरला भवन में ठहरकर और लक्ष्मीपतियों के साथ रह कर भी निरन्तर राष्ट्र के गरीबों की ही बात सोचते थे। अपनी उत्कल यात्रा में एक बार उन्होंने ऐसी निर्धन स्त्री को देखा जिसका कपड़ा न केवल मैला और फटा हुआ ही था बल्कि इतना छोटा था कि वह कठिनता से आधा शरीर ही ढक पाता था। गाँधी जी ने उसे टोका, "बहिन, इतना मैला कपड़ा क्यों पहिन रही हो? कपड़ा धोने में आलस्य नहीं होना चाहिये।" उसने शीश झुकाकर कहा—"बापू, आलस्य की बात नहीं है। मेरे पास दूसरा कपड़ा ही नहीं है, जिसे पहनकर इसे धोऊँ और नहाऊँ।" गाँधी जी की आँखें छलछला उठीं, "हाय, आज भारत माता के पास पहनने के लिये

चीथड़ा भी नहीं है।" उन्होंने तभी प्रतिज्ञा की, "जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता और गरीब को भी शरीर ढाँपने के लिये पर्याप्त कपड़ा नहीं मिलता, मैं कपड़े नहीं पहनूंगा। लाज ढकने के लिये मुझे लंगोटी ही काफी है।" महात्मा गाँधी सारे देश में रेल की तीसरी श्रेणी के डिब्बे में ही जनसाधारण की भांति यात्रा करते थे। राष्ट्र की गति, स्थिति, कृति और मति में विलक्षण योगदान देने के कारण तथा देशवासियों को जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि की संकीर्णता से ऊपर उठाकर उन्हें एक सूत्र में बांधने एवं एकता देने के कारण गाँधी जी "राष्ट्रपिता" हैं। धन्य है उनके जीवन का पल-पल और धन्य है उनका आत्म-बलिदान। गाँधी अमर हैं।

अपने त्याग, तपस्या, सेवा और बलिदान तथा श्रेष्ठ आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करके महात्मा गाँधी मानवमात्र के लिये अमर प्रेरणास्रोत हो गये हैं। उनके सम्पर्क में आने पर तथा उनकी चारित्रिक उत्कृष्टता से प्रभावित होकर वीर जवाहर, पटेल, आजाद, राजेन्द्रप्रसाद आदि महापुरुष ही नहीं, असंख्य साधारण जन भी राष्ट्र की सेवा में जुट गये। परमोच्च पद पर आसीन होना सरल है किन्तु मानव-निर्माता बनना कठिन है। महात्मा गाँधी मानव-निर्माता थे। उनकी चारित्रिक महानता सदैव मानव-निर्माण की प्रेरणा देती रहेगी। गाँधी जी राजनीति में सत्तापक्ष की अपेक्षा सेवा-पक्ष को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। नैतिकता, सत्य और अहिंसा के बिना राजनीति पापनीति हो जाती है। गाँधी महापुरुष थे जिनकी प्रेरणा से अन्य जन महान् बन जाते थे तथा वे ऐसे बड़े वृक्ष की तरह बड़े नहीं थे जो दूसरों को अपने नीचे पनपने ही नहीं देता है। महात्मा गाँधी के त्याग एवं तपस्या के उदाहरण ने देश के नैतिक स्तर को बहुत ऊँचा उठा दिया था। महात्मा गाँधी जानते थे कि देश की भौतिक उन्नति की रक्षा एवं स्थिरता देशवासियों के व्यक्तिगत नैतिक (चारित्रिक) स्तर को ऊंचा उठाने से ही संभव है।

भारतवर्ष में फ्राँस, रूस और चीन की भांति रक्तक्रांति के द्वारा अथवा कुछ देशों की भाँति सैनिक क्रांति के द्वारा परिवर्तन लाने की कल्पना करने वाले यह भूल जाते हैं कि हिंसात्मक क्रांति भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियों तथा भारत के जनमानस के अनुरूप नहीं है। सारे विश्व में ही, वर्ग-संघर्ष एवं रक्त-क्रांति को परिवर्तन का आधार मानना धीरे-धीरे अमानुषिक एवं अव्यावहारिक घोषित किया जाने लगा है। जो हिंसा सैनिक शक्ति के द्वारा सत्ता हड़पने में सहायक होती है, वही लोकशक्ति के लिये क्षयकारक होकर राष्ट्र को पंगु तथा गुलाम बनाकर पीछे धकेल देती है। हिंसा विजय देकर भी अधिक हिंसा, रक्तपात और अशान्ति को ही जन्म देती है। रक्त-क्रान्ति के

द्वारा स्थापित व्यवस्था में आतंक, आशंका, अविश्वास तथा अस्थिरता का पुट आ जाता है और व्यक्ति को कुचल दिया जाता है। प्रतिक्रिया-स्वरूप हिंसा-चक्र के दूसरी ओर चलने पर धीरे-धीरे व्यक्ति उन्मुक्त होने के लिये व्यवस्थापकों को कुचल कर उस व्यवस्था का ध्वंस करने में जुट जाते हैं। ऐसे देशों में हिंसात्मक गृहयुद्ध चलता ही रहता है और शान्ति एवं सुख स्वप्न बनकर रह जाते हैं। राजनीतिक विचारधारा की स्थापना के लिये हिंसा करना उतना ही निन्दनीय है जितना धर्म-प्रचार के लिये तलवार का उपयोग। देशरक्षा अथवा अस्तित्वरक्षा के लिये आक्रमणकारियों का वध करना हिंसा नहीं है किन्तु विचार-भेद होने पर विचार-स्थापना के लिये हत्या करना कुत्सित हिंसा है।

अहिंसा एवं शान्ति की शक्ति से ही जनक्रांति मानवीय बन सकती है। महात्मा गाँधी के परम अनुयायी विनोबा भावे क्रान्ति के संबंध में कहते हैं, "सत्य, अहिंसा और संयम की लक्ष्मणरेखा के भीतर रहकर जिसे जो लगे वह करे।" विस्तारवादी हिंसक राजनीति विश्वशान्ति के मार्ग में एक विषम अवरोध है। यह भारत के लिये गौरव का विषय है कि गाँधी जी ने सफलतापूर्वक सत्य और अहिंसा के आधार पर शान्तिमय परिवर्तन लाने की एक नवीन पद्धति को प्रस्तुत किया। सत्य और अहिंसा ही व्यक्तिगत, राष्ट्रगत एवं विश्वगत स्तर पर स्थायी शान्ति ला सकते हैं।

महात्मा गाँधी जनमानस को आन्दोलित कर नैतिकता के आधार पर समाज के उद्धार का मार्ग सुगम बनाना चाहते थे किन्तु देश के सामने सामान्यतः आजादी की ऐसी तस्वीर थी जिसका मुख्य अंग "अंग्रेज भगाओ" अभियान था, यद्यपि गाँधी जी के लिये यह गौण था। वे सारे समाज को एक नया अहिंसात्मक रूप देना चाहते थे। वे ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे जहाँ व्यक्ति एवं समाज की जीवनधारा सनातन एवं शाश्वत मानव मूल्यों पर आधारित हो और सर्वत्र सुख और शान्ति हो। वे भौतिकता पर आध्यात्मिकता का अंकुश चाहते थे, राजनीति में सेवानीति चाहते थे। गाँधी जी सशस्त्रक्रांति के स्थान पर नैतिक अभियान को महत्व देते थे। उनके शस्त्र थे—मौन, प्रार्थना, सत्य और अहिंसा। अंग्रेजों के चले जाने पर हमने गाँधी जी का उद्देश्य पूर्ण हुआ समझ लिया और उनके द्वारा चलाये हुए समस्त रचनात्मक कार्यों को अव्यावहारिक, आउटडेटेड तथा अनुपयोगी मानकर गाँधी जी का बहिष्कार-सा कर दिया। हमें गाँधी जी के स्वप्न पूरा करने के लिये सतत जनजागरण की ज्योति को जलाये रखना चाहिये।

सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति । सन्त अपने तप से पृथ्वी को धारण करते हैं। पृथ्वी की रक्षा करते हैं, पृथ्वी के विभूषण होते हैं।

"चल पड़े जिधर दो डग मग में
चल पड़े कोटि पग उसी ओर।
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर।।"

१२

स्वास्थ्य प्राप्ति के सात्विक उपाय

सभी महापुरुष युग-युगान्तर से सुखी जीवन के लिये शरीर-रक्षा एवं पुष्टि के महत्व पर बल डालते रहे हैं। अनेक सद्ग्रन्थ भी शरीर की उचित संरक्षा करने का आदेश देते हैं। महाकवि कालिदास ने तो शरीर को धर्म का आद्य साधन ही उद्घोषित किया है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' शरीर ब्रह्म का निवास-स्थान है, आवास है। 'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः' (कठोप० २।२।१) इस नित्य विज्ञानस्वरूप अजन्मा आत्मा का पुर (घर) ग्यारह द्वार युक्त शरीर है। शरीर में त्रिलोक भी है। शिर से ग्रीवामूल तक द्युलोक, ग्रीवामूल से नाभि तक अन्तरिक्षलोक तथा नाभि से पादतल तक भूलोक है। देह एक देवालय है जिसमें जीव रूपी शिव विराजमान है। 'सोऽहम्' भाव से पूजा करने पर मुक्ति मिलती है।

देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो देवस्सदाशिवः।
सोऽहंभावेन पूजयेत् स हि मुक्तिमवाप्नुयात्॥

शरीर मोक्षप्राप्ति का साधन है तथा सुखी जीवन का प्रथम साधन है। "साधन धाम मोच्छ कर द्वारा", शरीर साधना का स्थल तथा मोक्ष का द्वार है। "नर तनु भव वारिधि कहुं बेरे" मनुष्य का शरीर संसार सागर पार करने के लिये एक जहाज के सदृश है। सन्तों ने भी शरीररक्षा की आवश्यकता पर बल दिया है तथापि शरीर साधन है, साध्य नहीं है। शरीररक्षा का उपदेश कबीर अपनी अटपटी वाणी में करते हैं–'कबिरा सरीर सराय है, भाड़ा दे के बस। जब भटियारी खुस रहे, तब जीवन को रस।' शरीर की रक्षा प्रत्येक साधना का प्रथम सोपान है। अतः जो इसे पाप का घर बना ले, वह घोर अपराधी है तथा जो इसकी उपेक्षा करके इसे विनष्ट होने दे, वह भी परम

निन्दनीय है। इसे साध्य मानकर इसकी सेवा-शुश्रूषा में ही संलग्न रहना भी अविवेक है।

सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

धर्म ऐहिक एवं पारलौकिक सिद्धि का साधन होता है। "यतोऽभ्युदयनिः-श्रेयससिद्धिः स धर्मः" (कणाद)। जिससे ऐहिक (लौकिक) अभ्युदय और निश्रेयस् (आध्यात्मिक कल्याण) की सिद्धि प्राप्त हो वह धर्म है। किन्तु ऐहिक सिद्धि पारलौकिक सिद्धि की सीढ़ी है तथा ऐहिक सिद्धि के लिये स्वास्थ्य-रक्षा नितान्त आवश्यक है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—उपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य है। बलहीन व्यक्ति को आत्मा भी लभ्य नहीं होता है।

स्वास्थ्य-रक्षा के लिये कुछ बातें विशेष आवश्यक हैं—चित्तशुद्धि (चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि विकारों से मुक्ति), नियमित एवं संयमित जीवन, उचित भोजन, परिश्रम, व्यायाम तथा विश्राम।

चित्तशुद्धि का अर्थ है—चित्त को निर्विकार बना लेना। चित्त के समस्त विकारों का मूल कारण मोह है। सच तो यह है कि केवल सभी मनोविकार ही नहीं, अपितु अधिकांश शारीरिक विकार भी मोह के कारण ही उत्पन्न होते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान एवं औषधिविज्ञान स्पष्ट रूप से इस तथ्य का साक्ष्य कर रहे हैं। पहिले मानसिक विकार मन में उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

"मानसाः विकाराः पूर्वं मनसि भवन्ति, पश्चाद्दोषैरनुबध्यन्ते।"

मन को पवित्र एवं बलवान् रखने के लिये भोजन की पवित्रता का विशेष महत्त्व है। 'मनसो भुक्तसम्भूतिः' अर्थात् मन का जन्म किये हुए भोजन से होता है। प्रसिद्ध लोकोक्ति है—'जैसा खाये अन्न, वैसा हो जाये मन।' ईमानदारी और मेहनत से कमाये हुए धन द्वारा खरीदे हुए अन्न से बनाया हुआ स्वच्छ भोजन मन को बल प्रदान करता है।

महान् द्रष्टा गोस्वामी तुलसीदास जी ने सूत्र रूप से यही निश्चय किया था कि, "मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।" शारीरिक तथा मानसिक कष्ट का प्रधान कारण मोह ही है। प्रायः हम कर्त्तव्यभावना से प्रेरित न होकर मोह के कारण ही अपना समस्त क्रियाकलाप करते हैं। प्राणियों तथा वस्तुओं के प्रति हमें मोह होता है। राग-द्वेष इसके दो पहलू हैं। वस्तुओं के परिग्रह की धुन भी मोह के कारण ही होती है और परिग्रह ही छोट झगड़ों और महान् युद्धों का कारण, अप्रच्छन्न अथवा प्रच्छन्न रूप से, होता है।

अन्य व्यक्ति की किसी वस्तु के नष्ट होने पर हमें दुःख नहीं होता है। जिस व्यक्ति से हमारा जितना मोह है, उसी के अनुपात में हमें उसके दुःख में दुःख होता है। जब हमारी किसी वस्तु का नाश होता है तब हमें बड़ा दुःख होता है। सैकड़ों कीमती घड़ियाँ प्रतिदिन टूटती हैं परन्तु हमें उनका ध्यान भी नहीं होता। किन्तु यदि मेरी घड़ी टूट जाती है तो घोर क्लेश होता है। इसका कारण मोह ही तो है। मुझे अपनी घड़ी के प्रति मोह है, अन्य व्यक्तियों की घड़ियों के प्रति नहीं है। सैकड़ों व्यक्ति नित्यप्रति मृत्यु को प्राप्त होते हैं किन्तु मेरे किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो तो मुझे दुःख होता है। इसका कारण मोह है। जितनी मोह की मात्रा हमारे मन में किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति होती है उसके सम्बन्ध में हमें उतना ही दुःख होता है। हमारी इन्द्रियां, मन एवं बुद्धि हमें मोह के कारण ही विविध वस्तुओं के प्रति आकृष्ट कर देती हैं तथा उन वस्तुओं की संप्राप्ति एवं संग्रह के द्वारा हम मिथ्या-तुष्टि का अनुभव करते हैं। कहीं चटपटे, गरिष्ठ भोजन से हम शरीर को कष्ट में डाल देते हैं, कहीं वस्तुओं के विषय में मेरा-तेरा के झगड़े से मन को शोक में डाल देते हैं, तथा बुद्धि को अंधकार में डाल देते हैं। प्रेम सुखद होता है, मोह दुःखद। यदि पुत्र कुछ दिनों के लिये दूर चला जाये तो एक ओर माता-पिता क्लेशनिमग्न हो जाते हैं तथा दूसरी ओर पुत्र भी दुःखी रहता है, यह मोह का ही फल है। बच्चे के रोगी होने पर शीघ्र चिकित्सा कराने के बजाय माता मोह से रोने बैठ जाती है।

निश्चय ही हमें मोह का त्याग करना चाहिये। मोह त्याग का अर्थ यह नहीं है कि हम वस्तुओं एवं व्यक्तियों को छोड़ दें अथवा उनसे घृणा करें। वस्तुओं एवं व्यक्तियों में तो कोई दोष नहीं है। मोह रूपी दोष तो हमारे मन में है। मोह त्याग का अर्थ यह है कि हम उन वस्तुओं का त्याग नहीं, बल्कि उनकी वासना, उनके प्रति मिथ्या आकर्षण का त्याग करें, संसार का त्याग नहीं, बल्कि सांसारिकता का त्याग करें। संसार को तो छोड़ दिया, वस्तुओं का बाह्य परित्याग भी कर दिया किन्तु मोह अब भी सताता है तो क्या लाभ हुआ? वस्तुओं का उपभोग करें, प्रयोग करें, किन्तु केवल आवश्यकतानुसार करें, त्याग-भाव से करें तथा निर्लेप रहें।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (ईशोपनिषद्)

इस गतिशील जगत् में जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा से आपूरित है, सृष्टि के कण-कण में ईश्वर व्याप्त है, सब ईश्वरमय है, सब ईश्वर का है।

अतएव हमें त्यागपूर्वक भोग करना चाहिये। किसी के धन की ओर गृद्ध की लोभी दृष्टि से मत देखो।

त्यागपूर्वक, मोहरहित होकर, वस्तुओं का उपभोग करना सीखें तथा व्यक्तियों से मोहरहित प्रेम करना सीखें।

मोह सभी मनोविकारों का सेनापति है। यदि मोह को भगा दिया तो इसकी सेना भी भाग उठेगी। कटक में भगदड़ मच जायेगी। मोह मूल है।

'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्।' (मूल के छिन्न होने पर न शाखा रहती है, न पत्ते ही)

यदि हम कठोर दंड भी दे रहे हों तो भी ईर्ष्या, द्वेष, घृणा से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि कर्त्तव्यभावना से प्रेरित होकर दें। यह आदर्श स्थिति है। हम मोह त्यागकर, मनोविकारों को छोड़कर, जितना भी मन पवित्र कर लेंगे उतना ही सुन्दर स्वास्थ्य एवं सुख प्राप्त कर सकेंगे। मोह त्याग से सन्तोषवृत्ति भी स्वयं आ जाती है। 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।' सन्तोष से बढ़कर कोई सुख लाभ नहीं है। सन्तोष के बिना चित्तवृत्ति शान्त एवं स्थिर नहीं होती। सन्तोष के बिना मनुष्य को न केवल अपना कर्त्तव्य नीरस प्रतीत होता है, बल्कि अपने अधिकार भी कष्टप्रद हो जाते हैं; अपना धन-वैभव भी कचोटने लगता है। तृष्णा नरक है, सन्तोष स्वर्ग है। हम ईर्ष्या के कारण भी सन्तोष नहीं करते हैं। 'आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत परखेरो'। जीवन में सादगी अपनाने पर ही हम सन्तोष धारण कर सकते हैं।

मन को शुद्ध करने के लिये अनेक उपाय हैं। हमें अपने मन का निरीक्षण करना चाहिये। जिस प्रकार हम दर्पण में मुख देखकर उसके दाग धब्बे मिटाते हैं उसी प्रकार अन्तर्मुखी होकर अन्तर्वृत्ति-निरीक्षण (Introspection) करें। अपने दोषों, विकारों को पहिचान कर, एक-एक करके, चुन-चुन कर धैर्यपूर्वक उनका निराकरण कर दें। स्नान के द्वारा जैसे शरीर को शुद्ध करते हैं, मन को भी वैसे ही सत्य के अभ्यास से शुद्ध करें। सत्य सोचने, कहने एवं करने का अभ्यास मन की शुद्धि के लिये सहायक है। 'अद्भिः गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।' जल से शरीर के गात्र शुद्ध होते हैं, सत्य से मन शुद्ध होता है। मोह के कारण बाहर की दुनिया हमारे मन में बसी पड़ी है और हमें चैन से नहीं बैठने देती। ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-क्रोध, भय-चिन्ता हमें सताते ही रहते हैं। मोह निराकरण के द्वारा हम मन में से जितना-जितना इस बाहरी दुनिया को निकाल देंगे और उसे सद्विचार, हरिस्मरण से भर लेंगे, उतना-उतना ही सुख होता चला जायेगा।

शरीर-शुद्धि होने पर तथा स्वच्छ वस्त्र पहिनकर कैसा हर्ष होता है ? मन को स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल करने पर तो अनुपम उल्लास की प्राप्ति होती है।

मानसिक स्वच्छता होने पर अनिर्वचनीय सुख का अनुभव होता है जो कि शरीर को भी पुष्ट करता है। दिन में ऐसा एक समय निश्चित कर लें जब हम अपने आप को कार्य-व्यस्तता से मुक्त कर लें। नित्यप्रति प्रातः, सायं अथवा सोने से पूर्व जब भी सुविधा हो, अकेले बैठकर अपने विचारों को देखें। हम थोड़ी देर तक अपने साथ भी बैठना सीखें जब शान्त भाव से अपने ही विचारों का जुलूस देखें। मन के साथ मैत्री जोड़कर, मन को धीरे-धीरे समझाकर, धनात्मक (Positive) विचारों की सहायता लेकर, एक-एक करके ईर्ष्या, द्वेष, भय, घृणा, चिन्ता, विषाद, यशलालसा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि विकारों का शमन (न कि दमन) करें। कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर, उत्साह से परिपूर्ण होकर इन विकारों से ऊपर उठकर, कर्म करना सीखें। अपने एक-एक दोष के शमन का सरल उपाय करें, अपने मन को मित्र मानकर प्रयत्न करें, तथा सदैव साहस और विश्वास रखें। नित्यप्रति तटस्थ आत्म-चिन्तन, विचार-विश्लेषण करते हुए अपने दोषों को धनात्मक मनन, चिन्तन तथा प्रयत्न के द्वारा निर्बल कर दें। तभी मन को प्रभु में भी एकाग्र कर सकेंगे। विकार मन तथा शरीर को निर्बल बनाते हैं। इनसे मुक्त होने पर शक्ति अबाधित होकर प्रबल हो जाती है जैसे धुआँ हटने पर अग्नि धधक उठती है। "बुरे" विचार आने पर भी अपने को न कोसें, उन्हें आने दें तथा धनात्मक विचार जगाकर उनका शमन करें। दोषों पर ही ध्यान देने से वे बलवान् हो जाते हैं, अतएव मन को मित्र बनाकर धनात्मक विचारों को प्रबल करें। बुरे विचार स्वतः शान्त हो जायेंगे। जहाँ आत्म-सुधार का संकल्प है, वहाँ आत्म-सुधार अवश्य होगा।

हम अपनी तुलना दूसरे व्यक्ति से न करके अपने विगत और वर्तमान की ही तुलना करें और नित्यप्रति मन, वचन और कर्म में पहले की अपेक्षा अच्छा होने का प्रयत्न करें। एक रेखा को छोटा करने का तरीका उसे मिटा देना नहीं है, बल्कि उसके पास उससे बड़ी रेखा खींच देना है। दूसरे की प्रगति को देखकर ईर्ष्या-द्वेष वश उसे मिटा देने का प्रयत्न करना निषेधात्मक एवं आत्म-ध्वंसक क्रिया है तथा उससे प्रेरणा लेकर उसकी अपेक्षा अधिक उन्नति करना एक स्वस्थ होड़ है। विकारों के रहने पर तो विश्व की समस्त सम्पदा, अतुल बल, महान् पद, अपूर्व यश तथा असीम विद्या पाकर भी अथवा दिन-रात केवल बाह्य पूजा-पाठ, भजन, यज्ञ, तप करके भी कदापि सुख नहीं हो सकता है। अतः मन की पवित्रता मानव में सुख एवं स्वास्थ्य की प्रथम आवश्यकता है। मन के पवित्र होने पर ही पूजा-पाठ सार्थक होते हैं। 'तीर्थं परं किम् ? हि मनो विशुद्धम्।' अपना पवित्र मन ही परम शान्तिदायक श्रेष्ठ तीर्थ है।

क्षीणताप्रद मोहादि दोषों को सद्विचारों द्वारा निरस्त करके, रिक्त मन को पोषक भावों से परिपूरित कर देना चाहिये। प्रभु से तथा जनता-जनार्दन से शुद्ध प्रेम करना सीखें। इनसे मन को स्थायी बल मिलेगा। स्वार्थ छोड़कर परमार्थ की ओर बढ़ें, संकीर्णता छोड़कर व्यापकता, उदारता, क्षमा, सहनशीलता, त्याग और सेवाभाव अपना लें। निःस्वार्थ सेवाभाव से समाज के साथ जुड़ने पर आप में बल एवं शान्ति का उदय हो जायेगा।

मन के शुद्ध होने पर, अन्तःकरण की ध्वनि जीवन पथ में प्रकाश की भाँति सहायक होती है। पवित्र अन्तःकरण की ध्वनि की उपेक्षा करके विपरीत आचरण करने से मन निर्बल एवं दुःखी होता है। शुद्ध अन्तःकरण की ध्वनि ईश्वर की ही वाणी होती है। यदि मन किसी कर्म को बुरा कहता है, उसके करने से मन में अशान्ति होगी यद्यपि उससे क्षणिक सुख प्राप्त हो रहा हो। मन की अशान्ति से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव मन को बुरे प्रतीत होने वाले शब्दों को नहीं कहना चाहिये तथा मन को कुत्सित प्रतीत होने वाले कर्म को नहीं करना चाहिये। अपने सद्विचार के अनुरूप आचरण करने से अन्तः-करण उज्ज्वल होता है, मनोबल बढ़ता है। अतः शुद्ध, स्वस्थ एवं सुखी मन सुन्दर स्वास्थ्य का प्रथम रहस्य है।

आर्थिक अभाव अथवा किसी (शारीरिक) विवशता इत्यादि के कारण मन में दीनता न आने दें। दैन्यभाव दुर्बलता उत्पन्न करता है। मन की प्रफुल्लता, फक्कड़ता सर्वविजयी होती है और उसका संबंध किसी बाह्य परिस्थिति, विवशता अथवा विषमता से नहीं होता है। मन को सदैव मस्त रक्खें।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मन ही मानव के बन्धन और मोक्ष, दुःख और सुख का कारण है। 'जितं जगत् केन? मनो हि येन।' जिसने मन पर विजय प्राप्त कर ली, उसने संसार को जीत लिया। मन को सुखी रखने के लिये पुराने विकारों का निराकरण, यम-नियम के द्वारा नये दोषों का प्रवेश मन में न होने देने का प्रयत्न, उदारचेता होकर प्रभुभक्ति एवं जनसेवा के भाव का समावेश तथा प्रसन्न (मस्त) रहने का अभ्यास, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये परम आवश्यक है।

प्रसन्नचित्त व्यक्ति के शरीर में शक्ति, स्फूर्ति, बल, ओज तथा स्वस्थता स्थायी रूप से रहते हैं। चिन्ता आदि क्षीणता-दायक विचारों को छोड़कर कर्म करना सीखें। चिन्ता में चिता से अधिक दाहकत्व होता है। वैज्ञानिकों का मत है कि हँसी-खुशी का जीवन शरीर को स्वस्थ रहता है। सोवियत वैज्ञानिक डा० पी० वी० सिमोनौफ का मत है कि भय, घृणा, क्रोध, चिन्ता आदि मनोवेग मनुष्य को सुस्त और निष्क्रिय बना देते हैं तथा उल्लास और मस्ती का भाव

मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास में विशेष सहायक होता है। मनोवेग शरीरक्रिया पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालते हैं। प्रभु के भरोसे के सहारे चिन्ता छोड़ी जा सकती है तथा मस्ती अपनायी जा सकती है। चिन्ता छोड़कर कर्म करना अपने में एक निराला सुख होता है।

विचार, वचन, कर्म की एकता होनी चाहिये, अन्यथा मन दुर्बल बन जाता है। हम भले ही किसी दूसरे को धोखा दे दें परन्तु अपने आप को धोखा नहीं दे सकते। मन, वचन, कर्म की एकता होने पर मन में तनाव भी उत्पन्न नहीं होता है।

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।' अर्थात् सज्जन मन, वचन और कर्म में एक होते हैं तथा दुष्ट मन में कुछ, वचन में अन्यत् कथा कर्म में कुछ अन्यत् होते हैं। मन, वचन और कर्म में एकता होने पर मानव निर्भय हो जाता है। पुण्य की राह पर चलने से मानव सबल, निर्भय और मस्त रहता है।

जीवित तथा दिवंगत सन्तों एवं महापुरुषों की जीवनी और चित्रों से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। स्वाध्याय (सद्ग्रन्थों का अनुशीलन) भी मानव के जीवनपथ को ज्ञानप्रभा से आलोकित करता है। प्रकृति के सौन्दर्य का संदर्शन, भ्रमण तथा प्रकृति-सामीप्य भी मानव के मन को उदात्त एवं बलवान् बनाते हैं। जीवन को सुदीर्घ बनाने के प्रयत्न की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण जीवन को सुधारना है। जीवन-सुधार से दीर्घ जीवन भी सुलभ हो जाता है।

मोह त्याग के लिए तीन उपायों से विशेष सहारा मिल सकता है। संसार के तीन महान् धर्मों में मोह पर विजय प्राप्त करने के लिये बताये हुये इन उपायों में पूर्ण साम्य है। हिन्दु धर्म में व्रत, दान एवं तप का विधान है। इस्लाम में इन्हें रोजा, ज़कात, नमाज़ और ईसाई धर्म में फास्टिंग, चैरिटी, प्रेयर कहते हैं।

व्रत मन को संयमित करने में विशेष सहायक होता है। व्रत करने में ध्यान रखना चाहिये कि हम व्रतकाल में केवल स्वादिष्ट भोजन सामग्री का ही त्याग न करें बल्कि उसकी इच्छा पर भी संयम करें। व्रत के अन्त में सरल, सात्विक भोजन करें। व्रतकाल में प्रभुस्मरण करने से उपवास सिद्ध होता है।

दान करना भी हमारे मोह एवं धन-लोलुपता की मात्रा को कम करता है। दान करने से धन के प्रति हमारे मोह पर नियंत्रण होता है। सभी धर्मों में दान का विशेष महत्त्व है। सब धन प्रभु का ही है। हमारे पास जो कुछ भी धन है, हम उसके अमानतदार हैं। जनता जनार्दन की सेवा में धन का उपयोग करना हमारा परमधर्म है। हम ऊँचा अथवा बड़ा बनकर दान देने का अभिमान न करें, बल्कि कर्त्तव्यपूर्ति के भाव से निरभिमान होकर, अपनी आवश्यकताओं

की पूर्ति से बचे हुए धन को सेवा-कार्य में सहर्ष दे दें। दान में सेवाभाव अन्तर्निहित होना चाहिये। दान में धन की अपेक्षा भावना का महत्व अधिक है। यदि दान की सामर्थ्य नहीं है किन्तु सेवा की भावना है तो किसी दिन दान भी देंगे और यदि दान दे तो रहे हैं किन्तु भावना नहीं है तो किसी दिन दान देना बन्द हो जायेगा। दान के पृष्ठ में सेवा की भावना होने पर ही वह पावन एवं सुखद होता है। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को धीरे-धीरे कम करते चले जायें। करुणाभाव के उदय होने से एवं दानवृत्ति को अपनाने से निकृष्ट भोगवृत्ति का शमन हो जाता है, भोगवृत्ति का उदात्तीकरण हो जाता है। सच्चे दान-भाव से प्रेरित होने पर मनुष्य दान-पात्र की विवशता का अनुचित लाभ नहीं उठायेगा, उसका शोषण नहीं करेगा, उसका ईमान नहीं ले लेगा। दानवृत्ति मनुष्य की भोगवृत्ति का शमन कर देती है। गुप्तदान विशेष फलप्रद होता है। भूमि के भीतर मिट्टी में छिपा हुआ बीज अंकुरित होकर पल्लवित और पुष्पित होता है, फल देता है किन्तु भूमि के ऊपर सबको दीखने वाला बीज अंकुरित नहीं होता है। जनता में दान की घोषणा द्वारा श्लाघा मिलने पर अथवा दान के द्वारा पद मिलने पर कीमत वसूल हो जाती है और दान निष्फल हो जाता है। वास्तव में यज्ञ, दान और तप का उद्देश्य मन की पवित्रता है। (गीता ६।१८) त्यागपूर्वक भोग करें, जैसा कि ईशावास्य उपनिषद् का उपदेश है। 'त्यागपूर्वक' का एक अर्थ 'दानपूर्वक' भी है। स्वेच्छापूर्वक दान देकर रिक्त होना, अपने उपयोग में कम से कम रखना, स्वेच्छागृहीत दैन्य (वालेन्टरी पावर्टी) है जिसकी प्रशंसा गाँधी जी करते थे। यह स्वगृहीत दैन्य स्थूल से सूक्ष्म की ओर, संकीर्णता से उदारता की ओर, मोह से प्रेम की ओर बढ़ने की दिशा में एक आवश्यक पग है।

मोह पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रभु की प्रार्थना परम विशेष सहायक होती है। मोह-निशा किसी प्रकार भी भगवत्कृपा के बिना पार नहीं हो सकती। दुर्बल मानव प्रभुकृपा से ही बलवान् होकर मोह-कटक पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। प्रार्थना का अर्थ है–(१) प्रभु की शरणागति ग्रहण, आत्म-समर्पण एवं भक्तिपूर्ण आत्म-निवेदन तथा (२) पूजा (कीर्तन, जपपूर्वक ध्यान, लय)। पूजा के तीन रूप हैं–कीर्तन, जपपूर्वक ध्यान, लय। पूजा का यह क्रम है।

"राम राम रट, राम राम जप, राम राम रम, जीहा रे।"

यही महात्मा तुलसीदास जी का उपदेश है। प्रभु में लीन होना भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना है। लय होने से विचार-शून्यता में आकाश उत्पन्न होता है। आकाश (वेक्यूम) होने पर शक्ति का संचार होता है तथा

मन के शून्य आकाश में प्रभु का प्रकाश चमकता है। व्रत से अधिक दान और दान से अधिक प्रार्थना का महत्त्व है। इस प्रकार आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण की साधना करें। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण एक दूसरे के पूरक हैं अथवा एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।' अपने मोक्ष और जगत के हित के लिये साधना करनी चाहिये।

भोजन-विधि में व्रत का अन्तिम स्थान है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांचों तत्त्वों पर भोजन-विधि आधारित है। पृथ्वी तत्त्व से सम्बन्धित अन्न है। पृथ्वी का अंश स्थूल अन्न में अधिक होता है। जल तत्त्व से सम्बन्धित दूध, सब्जी, शाक हैं, क्योंकि उनमें अन्न की अपेक्षा जल का तत्त्व अधिक होता है। सूर्य की किरणों से पकने वाले फलों में अग्नि तत्त्व की मात्रा अधिक होती है। इसी आधार पर पाल के फलों में, जो कारबाइड आदि से पकते हैं, अधिक शक्ति नहीं होती, चाहे उनका स्वाद अधिक हो। पत्तियों (पालक, मेथी, सलाद, मूली की पत्ती, तुलसी आदि) में वायु तत्त्व अधिक होता है, क्योंकि वृक्ष, पौधे अपनी पत्तियों द्वारा ही श्वास लेते हैं। अन्त में आकाश तत्त्व है जो व्रत एवं उपवास के द्वारा उपलब्ध होता है। व्रत से उदर रिक्त होता है तथा उसमें शून्य उत्पन्न होता है। पृथ्वी से धीरे-धीरे आकाश की ओर ऊपर उठना चाहिये अथवा, यों कहिये कि भोजन-विधि में भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ना चाहिये। पृथ्वी की अपेक्षा जलतत्त्व, जल की अपेक्षा अग्नि-तत्त्व, अग्नि की अपेक्षा वायुतत्त्व और वायु की अपेक्षा आकाशतत्त्व अधिक बलप्रद होता है। बड़ी आयु में रोटी-दाल को धीरे-धीरे कुछ कम करके शाक, सब्जी, फल, दूध का आहार करें तथा ठोस भोजन कम मात्रा में लें।

ठोस भोजन से शरीर को बल (स्ट्रेन्थ) की प्राप्ति हो सकती है किन्तु ऊर्जा अथवा शक्ति (एनर्जी) अधिक प्राप्त नहीं होती। यह एक प्रचलित भ्रम है कि अधिक खाने से, विशेषतः अधिक अन्न खाने से, अधिक शक्ति उत्पन्न होती है। हाँ, इससे बल का उत्पादन अवश्य होता है। बल और शक्ति में भेद है। बल शक्ति की अपेक्षा तुच्छ होता है। परम बलशाली व्यक्ति थोड़ी दूर चल-कर, सीढ़ी पर चढ़कर ही थक जाता है। पहलवान लोग प्रायः अधिक खाने पर बल देते हैं। अधिक खाने से अधिक विजातीय द्रव्य (फॉरन मैटर) उत्पन्न होते हैं। जब तक कोई पहलवान व्यायाम करता रहता है तब तक उसे इसका अनुभव नहीं होता। सर्वविदित है कि पहलवान की वृद्धावस्था कष्टप्रद होती है क्योंकि वह तब उतना व्यायाम तथा भोजन नहीं कर पाता।

व्रत करने से शरीर में दुर्बलता नहीं आती, यद्यपि ऐसा भास होता है। व्रत से स्वस्थता, शुद्धता, शक्ति, संजीवन एवं स्फूर्ति आते हैं। व्रतकाल में पाचन

क्रिया के स्थान पर रेचन क्रिया अधिक उग्र एवं प्रबल हो जाती है। रेचन क्रिया के द्वारा शरीर से गन्दा, विजातीय द्रव्य बाहर निकला करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो दुर्बलता बढ़ रही है किन्तु वास्तव में अवांछित, अनावश्यक, विषैला, हानिकारक, विजातीय द्रव्य धीरे-धीरे व्रत के द्वारा मल, मूत्र, पसीना आदि के रूप में शरीर से बाहर निकलकर शरीर को स्वस्थ बनाता है। जो शारीरिक शक्ति पहले भोजन के पाचन में संलग्न थी, वह व्रतकाल में विजातीय द्रव्य को बाहर प्रक्षिप्त करने में जुट जाती है। पाचन क्रिया में अत्यधिक शक्ति का प्रयोग होता है। व्रतकाल में पाचन क्रिया के निलम्बित हो जाने पर, उस शक्ति के रेचन में जुट जाने पर, रेचन क्रिया उग्र हो जाती है जिससे शरीरयंत्र शुद्ध होता है तथा उसे विश्राम मिलता है।

उपवास (व्रत में प्रभु स्मरण भी करना) शरीर को क्षीण कर देता है किन्तु जीवनी-शक्ति को जगा देता है तथा उससे आत्मशुद्धि, चित्तशुद्धि एवं शरीरशुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

देह दिनहुं दिन दूबरि होई। घटई तेजु, बल, मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मन न मलीना॥

रेचन में उखाड़-पछाड़ होने के कारण शरीर को मिथ्या दुर्बलता तथा कष्ट का आभास होता है। प्रायः मल के ऊपर एक काई की परत पड़ जाती है जोकि उसकी बदबू तथा गन्दे स्वरूप को ढके रखती है किन्तु रेचन के द्वारा जरा भी उस परत को छेड़ते ही बदबू उठ खड़ी हो जाती है और उसका गन्दा स्वरूप दिखाई पड़ जाता है। सामान्यतः देह-स्थित विजातीय गन्दे द्रव्य पर मानो परत पड़ जाती है किन्तु व्रतकाल में रेचन क्रिया के उद्दीप्त होने पर वह परत फटने लगती है और शरीर में स्थित गन्दगी जिह्वा आदि पर स्पष्टतः दिखाई देने लगती है तथा रेचन से ही धीरे-धीरे आन्तरिक गन्दगी समाप्त हो जाती है। जब तक यह विजातीय द्रव्य बाहर न निकल जाये, तब तक विविध रोग उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वास्थ्य के लिये व्रत का उतना ही महत्त्व है जितना भोजन का है। व्रत भोजन क्रिया का पूरक है।

व्रत की भी एक विधि है, जिस प्रकार भोजन की एक विधि होती है। व्रत में विश्राम, नींबू के पानी, शहद आदि का सेवन करना आवश्यक होता है। व्रत की अवधि का निर्णय भी विशेषज्ञ से पूछ कर करना चाहिये। यों, साधारणतः एक सप्ताह अथवा पक्ष में एक दिन तो बिल्कुल निराहार रहकर नींबू, पानी, शहद आदि पर अथवा परम सात्विक, सरल तथा अल्प भोजन पर

निर्वाह करना चाहिये। जल मनुष्य का भोजन होता है किन्तु रोग में वह औषधि बन जाता है और कभी-कभी अमृत की भाँति रोग का उपचार कर देता है। हमारे पूर्वजों ने व्रतों का अत्यधिक माहात्म्य वर्णित किया है।

पंच तत्त्वों के सिद्धान्त पर आधारित प्राकृतिक चिकित्सा में भी अन्तिम शाखा व्रत (उपवास) है। मानव-देह प्रधानतः पंच तत्त्वों से विनिर्मित है। प्रकृति में मानव देह की सम्यक् चिकित्सा के लिये पाँचों तत्त्व विद्यमान हैं। पंच तत्त्व रचित इस देह की वास्तविक, नैसर्गिक, स्वाभाविक चिकित्सा प्रकृति के पंच तत्त्वों के द्वारा होना सम्भव है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से क्रमशः सम्बद्ध मिट्टी-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, अग्नि-चिकित्सा (धूप, बिजली आदि से), वायु-चिकित्सा (स्टीम बाथ आदि), आकाश-चिकित्सा (उपवास) हैं। उपवास से शरीर में शून्य आकाश (वेक्यूम) उत्पन्न होता है। शून्य ही शक्तिकेन्द्र होता है। सहन होने वाली धूप तथा स्वच्छ वायु का अधिकतम सेवन अगणित रोगों की महौषधि है तथा शरीर में ओज उत्पन्न करता है।

असहनीय शीत तथा उष्णता शरीर को हानि करते हैं। असहनीय तथा दीर्घकालीन उपवास शरीर को क्षति पहुंचाते हैं। शरीर और मन के साथ दुराग्रह करना हिंसा है, हानिकारक है। व्रत, नियम का पालन उतना ही करना चाहिये जितना सहन हो सके और क्लेशप्रद प्रतीत न हो। विशेषतः, अतिनिर्धनता के कारण आधे-भूखे रहने वाले तथा अति दुर्बल व्यक्ति को कठोर उपवास नहीं करना चाहिये। सारा काम-काज छोड़कर तथा शय्या पर पड़े रह कर लम्बा उपवास करना स्वास्थ्य-विशारदों की दृष्टि में स्तुत्य नहीं है। उपवास करने वाले व्यक्ति को अपने हिस्से का भोजन दीन-दुखियों को खिलाना चाहिये, प्याऊ लगवानी चाहिये। उपवास करके गरीब भूखों की भूख का अहसास भी करना चाहिये। हमारे दुःख और अपमान हमें दूसरों के दुःख और अपमान को समझने में सहायक होते हैं। अत्यधिक उपवास द्वारा शरीर को कृश कर लेना अन्तर्यामी प्रभु को कष्ट देना है, एक आसुरी कर्म है (गीता ६।१७)।

हम दिन में अनेक बार कुछ न कुछ खाते रहते हैं। लगभग पच्चीस-तीस वर्ष तक तो शरीर का निर्माण, विकास (बिल्डिंग, डैवलेप्मैंट) चलता है। इस आयु तक तो सुन्दर, गरिष्ठ, शक्तिप्रद भोजन की आवश्यकता होती है तथा अधिक उपवास हानिकर सिद्ध होते हैं; किन्तु तदनन्तर केवल पोषण, रक्षण (मेन्टेनेन्स) करते रहना शेष रह जाता है जिसके लिए उतने भोजन की आवश्यकता नहीं रहती। तब थोड़ा-सा ठोस भोजन ही उपयुक्त रहता है तथा जलराशीय, अग्निराशीय और वायुराशीय भोजन करना अधिक लाभदायक

रहता है। कुछ परिश्रम करने के पश्चात् ही हम भोजन करने के अधिकारी होते हैं। प्रातः उठते ही चाय पीना, फिर नहा-धोकर भारी प्रातराश (नाश्ता) करना अनधिकार चेष्टा है जो कि झूठी भूख को ही सन्तुष्ट करता है किन्तु वास्तविक क्षुधा को क्षीण करता है। थोड़ा शारीरिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को तो यथासम्भव नाश्ता करना ही नहीं चाहिये। नाश्ता छोड़ देने से सफाई की क्रिया (रेचन) बढ़ेगी, जठराग्नि तेज होगी। काम करने के पश्चात् ही भोजन और फिर विश्राम करना चाहिये। सादे भोजन की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। मांसाहार एवं मदिरापान मानव शरीर के लिए सर्वथा अप्राकृतिक एवं अभक्ष्य होते हैं। लहसुन को तामसिक होते हुए भी अल्प मात्रा में महौषधि माना गया है। पलांडु (प्याज़) भी गुणकारी होता है तथा पक्षाघात (लकवा) आदि से रक्षा करता है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान में बिल्व, आंवला, हरीतकी (हैड़), तुलसीदल, गो-दुग्ध, तक्र की विशेष प्रशंसा की गई है। दुग्ध पोषक भोजन होता है किन्तु दधि अगणित रोगों की सिद्ध औषधि होती है। अकारण ही रोगों तथा पापों की चर्चा में रुचि लेना वर्ज्य है। हमारे चिकित्सा-शास्त्रों में बांयी करवट लेटने की भी प्रशंसा है। भूख के बिना ही अथवा भूख से अधिक भोजन करना अनधिकार चेष्टा है। पशु और पक्षी कभी भी पेट भरने पर केवल स्वाद के कारण फालतू भोजन नहीं करते हैं किन्तु मनुष्य यह भूल प्रायः करते हैं। भोजन के उपरान्त कुछ देर तक विश्राम न करना भी शरीर के प्रति कठोरता है। नियमित समय पर नियमित विधि से नियमित भोजन करना चाहिये। दिन में मध्याह्न के समय कुछ हलका भोजन तथा शाम को उचित मात्रा में पर्याप्त भोजन करना चाहिये। किन्तु यदि हम दिन में कई बार खाना चाहें तो थोड़ा-थोड़ा ही खायें और पेट को बुरी तरह न भरें। अधिक कसे हुए (टाइट) कपड़े और जूते व्यक्तित्व को भी जकड़ देते हैं। विशेषतः सोने के समय वस्त्र कसे हुए कदापि नहीं होने चाहियें। सोने से पूर्व तथा भोजन के पश्चात् लघुशंका से निवृत्त होने का भी विधान है। रात्रि में भोजन करते ही सो जाना भी निषिद्ध है। भोजन (और भजन) यथासंभव एकान्त में अथवा केवल पारिवारिक जन के साथ अथवा इष्टजन के साथ करना चाहिये। जहाँ भोजन बनाने अथवा परोसने वाले के मन में आप के लिये सद्भावना नहीं है, वह भोजन स्वास्थ्यकर नहीं हो सकता। अपने भीतर प्रेमतत्त्व का विकास करने से तथा घृणा, चिन्ता और भय का त्याग करने से पाचनक्रिया तीव्र हो जाती है।

मनुष्य को परिश्रम करने पर ही भोजन पाने का अधिकार है। मानसिक परिश्रम के अतिरिक्त दैहिक श्रम करना तथा शारीरिक रूप में सक्रिय रहना परम आवश्यक है। व्यायाम भी एक प्रकार का दैहिक श्रम है। योगियों ने

मांसपेशियों के व्यायाम (दण्ड, बैठक, मुगदर आदि) की अपेक्षा स्नायुओं के व्यायाम (यौगिक आसन, प्राणायाम आदि) को अधिक उपयोगी तथा श्रेयस्कर समझा है। पहलवानी से बल की किन्तु योगाभ्यास से शक्ति की वृद्धि होती है जो कि दीर्घ जीवन तथा स्फूर्ति देती है। भुजंगासन और सर्पासन परम सरल हैं तथा सैंकड़ों रोगों का श्रेष्ठ उपाय हैं, विशेषत: पेट, सीना, श्वास-प्रक्रिया के लिये। सुविज्ञ प्रशिक्षक की सहायता के बिना योगासनों (विशेषत: शीर्षासन और प्राणायाम) का अभ्यास सर्वथा वर्जित है।

शीर्षासन और प्राणायाम के अधिक मात्रा में अथवा अस्वस्थता की दशा में किये जाने पर कल्पनातीत हानि हो सकती है। शीर्षासन स्वस्थावस्था में लगभग एक या दो मिनट तक करना पर्याप्त है। असहनीय व्यायाम हानि करता है। वज्रासन (नमाज पढ़ने का आसन) लगाकर, विशेषत: भोजनोपरान्त, दस मिनट बैठने से गैस दोष तथा रक्तदोष ठीक हो जाते हैं।

सिरदर्द, दमा, खांसी, जुकाम, मानसिक तनाव अथवा घबराहट होने पर पैरों का गर्म स्नान अत्यन्त लाभदायक होता है। एक पात्र में सहने योग्य गर्म जल में घुटनों से कुछ नीचे तक पैरों को बीस-पच्चीस मिनट तक रखा जाना चाहिये। यदि जल ठंडा होने लगे तो सावधानी से कुछ जल बाहर निकालकर गर्म पानी मिलाया जा सकता है। यदि घबराहट अथवा तीव्र सिरदर्द हो तो उस समय कुछ देर के लिये सिर पर ठंडे जल की पट्टी भी रख सकते हैं। पैरों के गर्म स्नान से शरीर की धमनियों में रक्त का अवरोध दूर होता है, रक्त-प्रवाह द्रुत हो जाता है, थकान दूर हो जाती है और ताजगी आ जाती है।

सिरदर्द अधिकांश मानसिक तनाव के कारण होता है। यों, अपच, तेज धूप या सर्दी आदि के कारण भी सिरदर्द हो सकता है। नाइट क्लबों, कैबरे, होटल, सिनेमा आदि में रात्रि में देर तक जागने से सिरदर्द होना स्वाभाविक है। सस्ते मनोरंजन मन को क्षणिक तृप्ति दे सकते हैं किन्तु प्राय: वह पलायन होते हैं। आत्मविश्वास के साथ अपनी समस्याओं का हल निकाल लेना सिरदर्द का सही उपाय है। अपनी परिस्थितियों को कोसने के स्थान पर उनको सुधारने का प्रयत्न करना, उनके साथ समझौता करना, अपने स्वभाव को मधुर एवं विनोदपूर्ण बनाना, जीवन को सादा करना, सन्तोष धारण करना, प्रसन्न रहने का प्रयत्न करना सिरदर्द का स्थायी समाधान है। शारीरिक अथवा मानसिक स्वस्थता लाने के लिये प्रार्थना एवं शक्ति द्वारा आत्मविश्वास जगाना सर्वोपरि होता है। मनुष्य के भीतर अपरिमित शक्ति होती है, ज़रा उसे एक बार जगा कर तो देखें। दृढ़ संकल्प करें।

पैरों को अधिकाधिक संभव समय तक नग्न रखना चाहिये ताकि पसीना निकल सके। हाथों में दस्ताने और पैरों में जुर्राब का उपयोग अत्यल्प करना चाहिये। शरीर के अंगों का धूप, वायु से संस्पर्श होते रहना चाहिये। प्रकृति ने अत्यन्त उपयोगी वायु और जल को सर्वसुलभ बनाया है।

हाथ से कुटा हुआ धान तथा हाथ से पिसा हुआ गेंहू का आटा, जिससे चोकर भूसी न निकाली जाये, निश्चय ही पालिश किए हुए चावल तथा बहुत साफ किये हुए गेंहू के आटे की अपेक्षा, अधिक लाभकारी होते हैं। हमें अनाज तथा फलों के रूक्षांश (रफेज़) का महत्व समझ लेना चाहिये। रसदार फलों (संतरा, गन्ना आदि) का रस निकाल कर पीने की अपेक्षा उन्हें चूसकर खाना अधिक लाभप्रद होता है क्योंकि चूसने से रसग्रन्थियों से स्राव होता है जो पाचक होता है।

हम प्रायः कुपोषण अर्थात् असंतुलित आहार के दोषों के शिकार हो जाते हैं। एमीनो एसिड जो प्रोटीन बनाते हैं तथा जो लगभग बीस प्रकार के होते हैं और जिनसे मस्तिष्क में सेरोटानिन रासायनिक तत्व बनता है, दालों में तथा विशेषतः दूध और सोयाबीन में मिलते हैं। प्रोटीन शरीर के क्षरण द्वारा उत्पन्न हानि की पूर्ति करते हैं तथा उनके अभाव में मनुष्य दुर्बल एवं चिड़चिड़ा हो जाता है। कुपोषण से शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक प्रोटीन, अधिक विटामिन, अधिक खनिज और कम स्टार्च तथा मीठा लेना चाहिए। कैल्शियम, फारफोरस तथा कुछ आयोडीन आवश्यक हैं। विटामिन ए से नेत्रज्योति तथा सुनने की शक्ति में विशेष सहायता मिलती है। निद्रा सुगम होने के लिये विटामिन बी$_{६}$, डी तथा कैल्शियम की आवश्यकता होती है। नेत्रों के लिये विटामिन ए, बी$_{२}$ तथा सी सहायक होते हैं। विटामिन 'सी' की कमी होने से कारोनेरी थ्राम्बोसिस का आघात हो जाता है। विटामिन सी हृदय आघात को रोक देता है। विटामिन सी आंवले में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। विटामिन सी विशेषतः अमरूद, नींबू, संतरा, टमाटर, हरीमिर्च, कच्चे आम और सेव के छिलके में मिलता है। अंकुर फूटे हुए अनाजों में भी विटामिन सी प्राप्त होता है। सुनने के लिये विटामिन ए, बी कम्पलेक्स, बी$_{६}$ ई तथा सी सहायक होते हैं। विटामिन बी कम्पलेक्स पुट्ठों तथा इन्द्रियों को ठीक अवस्था में रखने के लिये और भूख तथा पाचन शक्ति को ठीक रखने के लिये और अनेक अज्ञात रोगों का उपाय करने के लिये आवश्यक है। विटामिन डी हड्डियों और दांतों को शक्ति देता है। विटामिन संरक्षक तत्व हैं। (१) प्रोटीन शरीर की रगों की वृद्धि और विकास में तथा छोटे बच्चों के मस्तिष्क बनाने में सहायक होता है। प्रोटीन दाल, मूंगफली, दूध आदि में उप-

लब्ध होते हैं। (२) कार्बोहाइड्रेट्स शरीर की शक्ति बढ़ाने और स्फूर्ति जगाने के लिये आवश्यक होते हैं। ये चावल, गेहूँ, आलू, जड़ वाली सब्जियों, चीनी और केले में उपलब्ध होते हैं। (३) वसा (चर्बी) शरीर के लिये संचित शक्ति रखने का तथा ईंधन का काम करती हैं। वसा शुद्ध दूध, वनस्पति तेल, सरसों, घी, मक्खन में उपलब्ध होती हैं (किन्तु हृदयरोगी के लिये वसा हानिकारक होती है) (४) विटामिन (५) खनिज तत्त्व दूध, हरी सब्जियों, अनाज, सरसों आदि में मिलते हैं। पौष्टिक आहार में पांचों मुख्य तत्त्व होना आवश्यक है। शरीर में भोजन ईंधन की तरह काम करता है तथा शक्ति प्रदान करता है। भारतीय भोजन में रोटी के साथ दाल खाना जरूरी है क्योंकि गेहूँ में लाइसीन नामक प्रोटीन नहीं होता है और मेथियोनीन नामक प्रोटीन होता है तथा दाल में लाइसीन है, मेथियोनीन नहीं है। दाल या सब्जी में घी या तेल का छोंक लगाया जाता है क्योंकि उनके खनिज पदार्थ वसा के बिना पाच्य नहीं होते हैं। सब प्रकार के मधुमेह में विटामिन ई की अत्यधिक मात्रा लाभप्रद होती है। विटामिन ए और सी लेने से शरीर में प्रतिरोध की शक्ति, रोगों से लड़ने की शक्ति बढ़ती है। तक्र, दुग्ध, शहद तथा फल नित्यप्रति लेने चाहियें। यथासंभव नित्यप्रति उचित मात्रा में विटामिन बी, सी, डी और केल्शियम अवश्य लेना चाहिये तथा समय-समय पर ए और डी विटामिन लेना चाहिये। छोटे बच्चों में कैल्शियम की अधिक आवश्यकता होती है तथा उसके अभाव में उनमें अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। विटामिन ए के अभाव के कारण लाखों बच्चे जीवनभर के लिये पूर्ण अन्धे या रतौंधी के शिकार हो जाते हैं। बहुत छोटे बच्चों को लाड़ में उछालने या झकझोरने से उनके मस्तिष्क में कुछ दोष आ सकता है, रक्त-शिराओं में अवरोध हो सकता है तथा हड्डियों को हानि हो सकती है।

बच्चों के साथ कटुता से व्यवहार करना, उनपर अपना क्रोध उतारना, उन्हें डाँट कर अथवा मार-पीट कर भयभीत करना उन्हें चिड़चिड़ा, क्रोधी और रोगी बनाना है। भय में घृणा छिपी रहती है जिसका क्रोध के रूप में विस्फोट होना अथवा कुण्ठा उत्पन्न करना स्वाभाविक है। माता-पिता और गुरुजन का अत्यधिक क्रोध अथवा कठोर व्यवहार बच्चों को दुर्बल अथवा अपराधी बना देता है। बच्चे को उसके गलत कार्य का अनौचित्य स्नेहपूर्वक बताना चाहिये। अनेक भूल तो बच्चे केवल कौतूहलवश कर देते हैं, किन्तु उन्हें डाँटने के बजाय स्नेहपूर्वक सिखाया जाना चाहिये। घर के मधुर वातावरण से बच्चे शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता प्राप्त करते हैं। घर के वातावरण का उत्तरदायित्व माता-पिता पर होता है। बच्चों को शिक्षा उचित मात्रा में तथा सरल ढंग से देनी चाहिये। पारिवारिक जीवन को प्रेम, क्षमा, सहयोग, सेवा, सहानुभूति, उत्साह

से सींचना चाहिये और परस्पर स्नेहमय हास-परिहास के द्वारा वातावरण को सुगंधित एवं सुखमय बना देना शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये परम उपयोगी है। क्रोध, विलासिता, आलस्य, कलह परिवार को नरक बना देते हैं और प्रेम, क्षमा, सहनशीलता, श्रम, त्याग परिवार को स्वर्ग बना देते हैं।

रोग हो जाना प्रकृति की ओर से चेतावनी है कि शरीर तथा मन को स्वस्थ रखने के नियमों में भूल हुई है। प्रकृति का सहारा लेकर रोगी शरीर और मन का परिष्कार कर सकता है। धूल और पाप से बचना चाहिये। कीचड़ में फँस कर पैर धोने की अपेक्षा कीचड़ से बचना अच्छा है। धूल में रोग के कीटाणु होते हैं, विशेषतः दमा के कीटाणु। सहनीय धूप स्वास्थ्यप्रद होती है, स्वच्छ वायु और स्वच्छ जल स्वास्थ्यप्रद होते हैं। प्रकृति का सम्पर्क मन और शरीर को स्वस्थ बना देता है। प्रकृति मनुष्य को सदा स्वस्थ तथा सुखी रखना चाहती है। औषधि प्रकृति को सहायता देती है। रोग में औषधि तथा भोजन का सहारा पूर्णतः छोड़कर केवल प्राकृतिक चिकित्सा करना बहुधा प्राणघातक सिद्ध हो जाता है। भोजन (फल, दूध इत्यादि) और औषधि का पूर्ण परित्याग रोग को असाध्य बना देता है। कभी-कभी चिकित्सक रोगी के सामने रोग की भयंकरता का वर्णन करके रोग को असाध्य बना देते हैं। ऐसे चिकित्सक से बचना चाहिये जो रोगी को भयभीत करता हो। रोग और शत्रु का प्रारम्भ होते ही उपाय तो होना ही चाहिये किन्तु उनसे भयभीत नहीं होना चाहिये। भोजन, व्यायाम और परिश्रम के नियमों का भंग होने पर शरीर में रोग, तथा ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, लोभ, चिन्ता और भय होने पर मन में दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। रोग के आने पर रोग के कारण को निर्मूल करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रकृति के नियमों का पालन होने पर स्वास्थ्य और सुख सुलभ हो जाते हैं।

रोग चेतावनी देता है कि शारीरिक और मानसिक विश्राम की आवश्यकता है। रोग प्रकृति के द्वारा नियम भंग के लिये दिया हुआ दण्ड है। रोग प्राकृतिक तप है। रोगी के लिए विश्राम ही व्यायाम है। हृदयरोगी के लिये शारीरिक व्यायाम सर्वथा वर्जित है। प्रत्येक रोगी को, विशेषतः हृदयरोगी को, तीव्र गर्मी या ठंड, कड़ा परिश्रम, गरिष्ठ भोजन, आवेशजनक बहस, क्रोध आदि से बचना चाहिये और अधिक से अधिक समय तक शान्तिपूर्वक लेटे रहना चाहिये। वृद्ध एवं दुर्बल व्यक्ति को सहनीय व्यायाम एवं श्रम करना चाहिये। मधुमेह, दमा, स्नायविक तनाव, उच्च रक्तचाप तथा हृदय रोग पर विजय पाना कठिन नहीं है। मसाले, नमक, चीनी का उपयोग न्यूनतम करने के अतिरिक्त सात्विक आहार करना इन रोगों के नियंत्रण करने में आवश्यक होता है। उच्च रक्तचाप में प्रतिदिन धीरे-धीरे पंद्रह-बीस मिनट तक लयपूर्ण श्वसन करना (slow rhythmic brea-

thing without a pause.) अत्यन्त लाभकारी है। मादक वस्तुओं एवं हानिप्रद सामिष भोजन का परित्याग इच्छाशक्ति के द्वारा किया जा सकता है। रक्तचाप तथा हृदयरोग आधुनिक सभ्यता के अभिशाप हैं और भोजन, निद्रा आदि में असंयम करने के फल हैं। हृदयरोग में प्रतिदिन सामान्य आहार के अतिरिक्त दो किलो दही खाने पर कोलेस्ट्रोल नामक घातक रसायन की मात्रा कम हो जाती है तथा शुद्ध घृत के स्थान पर सोयाबीन, मूंगफली, तिल तथा सरसों का तेल उपयोगी होता है। हृदयरोगियों के लिये लहसुन विशेष लाभकारी है यद्यपि आंवला अमृत के तुल्य है। हृदय रोग पर विजय पाना कठिन नहीं है किन्तु शरीर भार न बढ़ने दें, धूम्रपान तथा मादक वस्तुओं का सेवन न करें, अतिव्यस्त न रहें, चिन्ता और क्रोध न करें, प्रसन्न रहें, नियमित हल्का व्यायाम करें, साइकिल चलायें, भ्रमण करें तथा विवेकपूर्ण आहार-व्यवहार करें। मनोबल से तथा पोषक तत्त्वों के द्वारा प्राणघातक रोग से लड़कर उसपर भी विजय पा सकते हैं। सभी को आधुनिक सौन्दर्य प्रसाधनों एवं कृत्रिम शृंगार से बचना चाहिये। कौसमैटिक, लिपस्टिक, क्रीम, स्नो, सेन्टेड तेल, हेयर डाई आदि हानिकारक होते हैं। स्नान में भी यथासंभव साबुन से बचना चाहिये। जीवन से प्रेम कीजिये और सौ वर्ष तक स्वस्थ एवं सुखी रहकर जीने की दृढ़ आशा कीजिये।

संक्षेप में, आरामतलबी को छोड़ दें, अपने दो डाक्टरों (अर्थात् दोनों पैरों) का उपयोग करें–खूब तेज चलें (ब्रिस्क वॉक करें), अपने दोनों मित्रों (दोनों हाथों) का उपयोग करें–पुरुषार्थ करें, लगातार देर तक बैठे या लेटे न रहें, घूमें-फिरें, विशेषतः छुट्टियों में घूमें-फिरें, मोटापा न बढ़ने दें, पेट न बढ़ने दें, शराब और सिगरेट से दूर रहें, चाय और काफी से बचें, अधिक नमक और मीठा न खायें, रात को देर तक न जागें और प्रसन्नचित्त रहें। खिलखिला कर हँसना और गाना भी स्वास्थ्य के लिये लाभकारक व्यायाम हैं। समय का सदुपयोग करना सीखें, अच्छी आदतें डालें, अपना काम अपने हाथों से करें, उत्तम महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये परिश्रम करें, मनोरंजन के उत्तम ढंग अपनायें और सृष्टि के सौन्दर्य में वृद्धि करके जीवन को सार्थक एवं सुखमय बनायें। स्वभाव को मधुर एवं विनोदपूर्ण बनायें, सीधा सोचें, सादा रहें, सन्तोष धारण करें।

अन्त में, विश्राम का भी विशेष महत्व है। विश्राम मानव को पुनः सजीव बना देता है। उचित समय पर पर्याप्त निद्रा प्राप्त करना श्रेष्ठ विश्राम है। रात्रि में शीघ्र सोना और दिन में सूर्योदय से बहुत पूर्व ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना स्वास्थ्य के लिये एक वरदान है। देवी भागवत में तो निद्रा को कल्याणदात्री देवी और परमात्मा के सदृश सुखदा माना है। "निद्रां ब्रह्मतुलां–" तथा,

"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥"

जो देवी (परमात्मा की शक्ति) सब प्राणियों में निद्रा रूप से संस्थित होती है, उसे बारम्बार प्रणाम है।

शान्तभाव एवं प्रसन्नता से निद्रादेवी की गोद में पहुँचकर विश्राम-वरदान प्राप्त करना चाहिये। निद्रा का समय (छह, सात या आठ घंटे) अपनी-अपनी स्वास्थ्य अवस्था पर निर्भर होता है तथा इस संबंध में कोई नियम सब पर लागू नहीं होता है। विश्राम के लिये आवश्यकता होने पर दिन में अर्धनिद्रा में भी कुछ देर तक लेटा जा सकता है। चिन्ता, भय और क्रोध को बिस्तरे पर ले जाना खटमलों और मच्छरों में सोने के तुल्य है। बड़ी आयु में अच्छी नींद प्रायः वह होती है जिसमें स्वप्न भी आते हैं क्योंकि स्वप्न मन की उलझनों को सुलझाते हैं और तनाव को कम करते हैं। मस्तिष्क में सिरोटोनिन नामक रसायन के कम होने पर अनिद्रा की शिकायत होती है। यदि चिन्ता, भय अथवा क्रोध के कारण निद्रा न आ रही हो तो मानसिक तनाव आ जाता है। ऐसी स्थिति में अपने विचारों एवं भावों में स्वयं लिप्त न होकर उनका तटस्थ चिन्तन करने से तथा प्रभुस्मरण (जपादि) करने से अचिर ही मनुष्य निद्राभिभूत हो जाता है। जिनका मन पवित्र और शान्त होता है, वचन शीतल और मधुर होते हैं तथा कर्म लोकोपकारक और उदात्त होते हैं, उनको जागृत अवस्था में सहज प्रसन्नता तथा निद्रा में प्रगाढ़ विश्राम की प्राप्ति होती है।

* * * *

गरुड़ के रूप में महर्षि चरकका प्रश्न—कोऽरुक् कोऽरुक् कोऽरुक्। कौन नीरोग है?

वाग्भट्ट का उत्तर—हितभुक् मितभुक्, ऋतभुक् (शाकभुक्)
शतपदगामी च वामशायी च
अविजितमूत्रपुरीषः खगवर
सोऽरुक् सोऽरुक् सोऽरुक् ॥

जो कुपथ्य नहीं लेता, परिमितमात्रा में खाता है, परिश्रम और ईमानदारी की कमाई खाता है, जीवित रहने के लिए (स्वाद के लिये नहीं) सात्विक भोजन करता है (शाकाहारी है), जो सौ कदम (पर्याप्त) घूमता है, बांयी करवट सोता है; जो मूत्र, शौच के वेग को नहीं रोकता है, हे खगवर (गरुड़) वह नीरोग है, वह नीरोग है, वह नीरोग है।

१३

जीवन-यात्रा की परम साधना

इस संसार में जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जीवन की एक यात्रा होती है। किन्तु मरण जीवनयात्रा का लक्ष्य नहीं है। जीव का लक्ष्य कैवल्यप्राप्ति है। दुःखों से आत्यन्तिक विमुक्ति एवं परम आनन्द की प्राप्ति साध्य है, लक्ष्य है। साधक को इस साध्यप्राप्ति के हेतु कोई साधना करनी चाहिये, कुछ साधन अपनाने चाहियें।

यदि कोई व्यक्ति मील के पत्थर के चारों ओर ही चक्कर लगाता रहे तो वह दस वर्षों तक चलकर भी वहीं रह जायेगा, किन्तु जो व्यक्ति मन्दगति से भी आगे की ओर बढ़ता जायेगा, वह अवश्य ही कुछ मंजिल पार कर लेगा। अतएव, दुःखों से मुक्त होने के लिये, चैतन्यस्वरूप आत्मा में सहजभाव से संस्थित होने के लिये, हमें कुछ साधना, कुछ प्रयत्न, अवश्य ही करना चाहिये। बाह्य ज्ञान लोक-जीवन के लिये आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है किन्तु आत्मज्ञान के बिना वह व्यर्थ ही नहीं, घातक सिद्ध हो सकता है। आत्मकल्याण के लिये आत्मज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। खेद है कि हम बहिर्जगत् के ज्ञान की खोज में अपना समस्त समय एवं शक्ति लगा देते हैं किन्तु आत्मज्ञान की अवहेलना कर देते हैं। मैं कौन हूँ—यह जानने का प्रयत्न ही जीवनयात्रा की परम साधना है। जीवन-यात्रा को आयु की दृष्टि से लम्बा करने की अपेक्षा उसे सुधारना अथवा चमकाना अधिक महत्वपूर्ण होता है।

दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के हेतु निवृत्तिमार्ग को ही ग्रहण करना अभीष्ट है। जब मिट्टी का एक कण भी मेरा नहीं है, मेरा हो भी नहीं सकता है, तथा मेरा अपना तो शरीर भी नहीं है, तब व्यर्थ ही क्यों मैं किसी के साथ मोहलिप्त रहूँ ? इस मोह-बन्धन से छूटना ही निवृत्ति है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, मैं अखण्ड, अभेद्य, अजर, अमर हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं जड़ शरीर

नहीं हूँ। जीव इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आकर अपने वासना-विकार एवं कषाय के कारण उन्हें अपना मान लेता है जो एक भ्रम है, अज्ञान है। इस संसार में सारे दुःख ही मोह के कारण उत्पन्न होते हैं। "मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।" अतः त्याग से ही साधक का मार्ग प्रशस्त होगा। परिग्रह से त्याग की ओर, भोग से सेवा की ओर, संकीर्णता से उदारता की ओर, मोह से व्यापक प्रेम की ओर बढ़ना श्रेयस्कर है।

किन्तु गृहस्थजन किसका त्याग करें? व्यापार, धन, घर आदि का पूर्ण त्याग करने पर तो गृहस्थ नहीं चल सकेगा। व्यापार, धनार्जन छोड़कर बच्चों का पालन, जीवन-निर्वाह, कर्त्तव्य-पालन करना भी सम्भव नहीं है। गृहस्थ के लिये तो प्रवृत्तिमार्ग की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। (भोगों का पूर्ण परित्याग तो अव्यावहारिक है किन्तु धीरे-धीरे भोगवृत्ति का शमन होना अपने ही सुख और शांति के लिये आवश्यक है। भोग्य वस्तुओं का आकर्षण बुद्धि का अपहरण कर लेता है और सोचने की क्षमता को नष्ट कर देता है। भोगों की इच्छा का शमन (न कि बलपूर्वक दमन) होना परम आवश्यक है। कभी-कभी तो तृप्ति पर्यन्त इच्छापूर्ति करना, किन्तु विवेक की आँखें खोल कर, आवश्यक हो जाता है। कामपूर्ति होने पर भी तृप्ति न होना तृष्णा है। काम-शमन ही काम-परित्याग है। नदी को पार करने के लिये नौका की आवश्यकता है तथा पार जाने पर नौका को छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। यह प्रवृत्ति द्वारा निवृत्ति का उदाहरण है। भोगों में से गुजरना, कभी-कभी तथाकथित पापों में से भी अनुभव दृष्टि से, आंखे खोले हुए, गुजरना तृप्ति के द्वारा भोग के खोखलेपन को सिद्ध कर देता है। धनार्जन के हेतु वैध पुरुषार्थ करना गृहस्थ का कर्तव्य है। किन्तु प्रवृत्तिमार्ग के साथ उसे श्लिष्ट होना, चिपकना नहीं चाहिये। प्रवृत्तिमार्ग में रहकर भी निवृत्तिमार्ग को ही श्रेयस्कर मानना चाहिये अतः प्रवृत्ति में धीरे-धीरे निवृत्ति को ग्रहण करना, यह सन्तुलित स्थिति है।

प्रवृत्तिमार्ग में अनेक प्रलोभन आते हैं। पद, सत्ता, प्रतिष्ठा, धन, वैभव तथा उनके कारण प्राप्य विशेष मान, लोक-ख्याति इत्यादि प्रबल आकर्षण होते हैं। मनुष्य में अनेक प्रकार की इच्छा, महत्त्वाकांक्षा जाग उठती है और मनुष्य एक दुर्भेद्य कुचक्र में फंसकर उसी में विनष्ट हो जाता है। कोई एक विवेकशील व्यक्ति ही कभी ठेस लगने पर भौतिक जीवन के खोखलेपन और भौतिक क्रिया-कलाप की निरर्थकता को समझ कर अपने को मृगमरीचिका से निकालकर मुक्त हो पाता है।

विवेकशील व्यक्ति के लिये विषाद (सांसारिक संबंधों एवं वस्तुओं की निस्सारता से उत्पन्न विषाद) एक योग (प्रभु से जुड़ने का माध्यम) होता है।

अर्जुन का विषाद विषादयोग हो गया। संसार के नाते स्वार्थमय और मिथ्या होते हैं जिनमें भरपूर दिखावट, मिलावट और बनावट होती है। संकट आने पर मनुष्य अकेला खड़ा रह जाता है। एक ओर धन-सम्पत्ति के प्रश्न पर सगे-संबंधी घोर शत्रु बन जाते हैं तथा दूसरी ओर आधि, व्याधि, मृत्यु, वस्तुनाश, आपत्ति आने पर स्वजन सहायता निरुपयोगी सिद्ध हो जाती है। ये घटनाएँ, मनुष्यों की कृतघ्नता अथवा उनकी असहायता, हृदय की आँखें खोलने के लिये होती हैं। अन्ततोगत्वा प्रभु ही एकमात्र सच्चा साथी है तथा समर्थ सहायक है—ऐसा समझकर प्रभु से जुड़ जाने पर विषाद भी एक योग हो जाता है। सांसारिक नातों का निर्वाह करते हुए, सबके प्रति कर्तव्य का पालन करते हुए, प्रभु को सच्चा साथी मानकर उसके साथ जुड़े रहना चाहिये। यह स्वस्थ वैराग्य भाव है। भयानक रोग तथा मृत्यु होने पर विपुल धन तथा भौतिक वैभव की निस्सारता एवं अनुपादेयता क्षण भर में स्पष्ट हो जाती है। प्राणान्त होने पर सब कुछ यहीं छूट जाता है। अतः हम सांसारिक वस्तुओं के स्वामी भी नहीं हो सकते हैं, केवल अमानतदार हो सकते हैं। सराय और उसकी वस्तुओं को अपना मानने से क्लेश ही उत्पन्न होता है। शेख सादी ने संसार को भटियारिन की सराय कहा है। अतएव मनीषीजन कहते हैं कि भौतिक वस्तुओं के संग्रह एवं रक्षण के लिये कदापि पाप न करें और न उन्हें पाकर ही पाप करें। संसार में रहकर सांसारिक वस्तुओं का उपभोग तो करें किन्तु उनमें कदापि न फंसें। धन कमाना बुरा नहीं है, बल्कि अत्यन्त उचित है किन्तु उसका मोह करना अथवा उसका दुरुपयोग करना क्लेशप्रद है। धन घोड़े के सदृश है। हम घोड़े पर चढ़कर लक्ष्य की ओर बढ़ें और घोड़े का सदुपयोग करें किन्तु यदि घोड़ा हमारी कमर पर चढ़ बैठेगा तो हमें चकनाचूर कर देगा। संसार से ऊबकर अथवा घबरा कर न भागना है न फंस कर भटक जाना है। प्रवृत्ति होते हुए भी निवृत्ति की ओर उन्मुख होना है। व्यवहार जगत् में प्रवृत्ति होते हुए भी मानसिक स्तर पर निवृत्ति की ओर बढ़ने से स्वस्थ अनासक्ति का उदय होता है।

निवृत्तिमार्ग कठिन है और प्रवृत्तिमार्ग सरल है। प्रारम्भ में ही गृहस्थजन को निवृत्तिमार्ग का पाठ सुपाच्य नहीं होता है। छोटे बच्चों को पौष्टिक पदार्थ अपाच्य होता है, अतः उसे जलमिश्रित दूध, हलका दूध देते हैं जो सुपाच्य होता है। जैसे धीरे-धीरे बल बढ़ने पर ही पौष्टिक पदार्थ का सेवन शरीर के लिये आवश्यक होता है, ऐसे ही गृहस्थ में रह कर धीरे-धीरे तत्वज्ञानपूर्वक अपरिग्रह का वरण करना आवश्यक है। संन्यास तो ले लिया और मन में संसार बसा है तो वह निवृत्ति में भी प्रवृत्ति है, जो निन्द्य है। गृहस्थ में रहते हुए अलिप्त रहना, अनासक्त होकर व्यवहार करना प्रवृत्ति में निवृत्ति है। घर में रहकर भी

निर्लेप रहना श्लाघनीय है। भोगों में से गुजरना तो अनुभव–परिपक्वता एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक तथा अभीष्ट है किन्तु भोगों में डूब जाना आत्मविनाश ही है। गृहस्थ में प्रवृत्ति और निवृत्ति (भोगमार्ग और त्यागमार्ग) का समन्वय करना उचित होता है। पूर्ण निवृत्ति संन्यासी के लिये उचित है। गृहस्थ के लिये एक गृहस्थ ही आदर्श होता है तथा संन्यासी के लिये एक संन्यासी। गृहस्थ का परिपाक होने पर ही संन्यास लेना (पूर्ण त्याग) उचित होता है। गृहस्थजीवन में इच्छाओं के त्याग का अर्थ आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न का त्याग कदापि नहीं है।

प्रारम्भ में प्रवृत्तिमार्ग ग्रहण करने पर ही निवृत्तिमार्ग की ओर बढ़ सकते हैं। प्रवृत्ति में भी निवृत्ति का ग्रहण करके साधक ऐसा अलिप्त रह सकता है, जैसे कि जल में रहकर भी कमल उससे अलिप्त रहता है। सांसारिक भोग्य-पदार्थों के मध्य रहकर भी मनुष्य को उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये, जैसे कि मीठे हलुए के बीच में रहकर भी चम्मच उसके स्वाद से अलिप्त रहता है। यदि अपरिपक्व रहकर संन्यास ले लिया और पर्वत-कन्दरा में जा बैठे, किन्तु संसार के सुखों का स्मरण हो रहा हो, तो वह संन्यास में भी गृहस्थ है। दूसरी ओर घर में बैठे हैं तथा सांसारिक कार्य में संलग्न हैं, किन्तु उनसे सर्वथा अलिप्त हैं, तो वह गृहस्थ में ही संन्यास है जो धन्य है। "सब तजि भजन करौं दिन राती" में "सब तजि" का अर्थ "सब मोह-विकार तजि" है क्योंकि वस्तुओं के त्याग को त्याग नहीं कहते हैं बल्कि वस्तुओं के प्रति मोह के त्याग को ही त्याग कहते हैं। वस्तु नहीं, वासना त्याज्य हैं। संसार नहीं, सांसारिकता निन्द्य है। हमें कर्म नहीं बांधते हैं, आसक्ति बाँधती है। वस्तुओं को छोड़ने का प्रयत्न करने के स्थान पर वस्तुओं के प्रति ममत्व को त्याग देने का प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि वस्तुओं का छोड़ना अथवा न छोड़ना गौण है। "जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को लब्ध कर के भी उनसे पीठ फेर लेता है, सामने आये हुए भोगों का त्याग कर देता है, वह त्यागी कहलाता है।" (दशवैकालिक) त्याग कर्म का नहीं बल्कि फलासक्ति का, पदार्थ का नहीं बल्कि तृष्णा का होता है। हम घृणा, क्रोध एवं कुटिलता को छोड़ दें। साँप और बिच्छू की वृत्ति वाले व्यक्तियों को पहचान कर उनसे सावधान रहना अथवा प्रायः सम्बन्ध विच्छेद कर देना तो व्यावहारिकता है किन्तु उनसे घृणा न करें। निवृत्ति का अर्थ है मन को पवित्र रखना, राग-द्वेष और मोह से मुक्त रखना।

सद्गृहस्थ निरभिमान भाव से यथासम्भव अधिकतम दान देकर भी अलिप्तता का पाठ सीखता है। मन में दानवृत्ति एवं करुणाभाव के आविर्भूत होने पर भोगवृत्ति का शमन एवं उदात्तीकरण हो जाता है। अपने दान

का प्रचार करना मानो दान की कीमत वसूल करना है। दान गुप्त होना चाहिये तथा श्रद्धाभाव से होना चाहिए। दाहिना हाथ दे और बांये हाथ को पता न लगे। सुराही पानी उड़ेलते हुए, फैज़ करते हुए, अपनी गर्दन झुका लेती है, गर्दन को ऊपर उठने नहीं देती। निरभिमानता एवं विनम्रता दान-दाता की शोभा होते हैं। उदारमना रहीम नेत्रों को नीचा करके तथा दान ग्रहण करने वाले याचकों को बिना पहिचाने ही दान देते थे। महादानी रहीम की निरभिमानता का सूत्र था—अस्वामित्व (अपने को धन का स्वामी न मानना)। रहीम की उक्ति है---'देनहार कोई और है, भेजत सो दिन-रैन। लोग भरम हम पे धरें, याते नीचे नैन॥' रहीम ने यह भी कहा—'ज्यों ज्यों कर ऊंचा उठे त्यों त्यों नीचे नैन॥' गृहस्थ में रह कर भी विरक्त भाव का अभ्यास, लोभ-विजय तथा त्याग संभव हैं किन्तु जिस त्याग से अंहकार उत्पन्न हो जाये वह त्याग नहीं है। त्याग से शान्ति प्राप्त होती है, मन निर्मल होता है। अतएव अभिमान का त्याग प्रथम त्याग है तथा अभिमान रहित होकर त्याग करना, दान देना ही पुण्य प्रदायक होता है। सब धन प्रभु का ही है। खुले हाथ से और खुश होकर देना चाहिये।

बहिरंग दान के साथ अन्तरंग त्यागभाव का होना आवश्यक है। बादल जल-संचय करने पर कृष्णवर्ण हो जाता है किन्तु जलदान करके स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है। यदि बादल जलदान न करे तो उसका अहित है और पृथ्वी का भी। यदि गौ दुग्ध न दे, वृक्ष फल न दें, तो व्यवस्था ही दूषित हो जाये। प्रजापति की एकाक्षरी भाषा द, द, द, का अर्थ यही है कि हम त्याग भाव से दान देकर मन को निर्मल करें। उचित सहायता देना और लेना मानवीय धर्म है। सहायता लेने वाला व्यक्ति भविष्य में अन्य जन की उचित सहायता करके उऋण हो सकता है। हमारी साधना का स्वरूप है–प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर बढ़ना, अहंभाव से मुक्त होकर प्रभुमय होना।

प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होने के लिये हमें धीरे-धीरे "पर" (परद्रव्य) और "स्व" (आत्मतत्व) का निर्णय कर लेना चाहिये। "पर" से दूर रहकर अथवा अलिप्त होकर "स्व" की प्राप्ति करना तथा उसमें स्थित रहना आदर्श है। साध्य के निर्णय होने पर ही साधना का प्रारम्भ होता है। पर-पदार्थों से विरक्ति होने पर ही मन की मुक्ति होना सम्भव है। विषयों से, कषायों से विरक्ति, अथवा पर-द्रव्यों की आसक्ति का परित्याग एवं अनर्थकारी अभिनिवेश का त्याग होने पर ही हम परमात्मतत्व-दर्शन के अधिकारी होते हैं अथवा तभी आत्मस्वरूप में सहजभाव से स्थित होना सम्भव है। मैं कौन हूँ ? मैं यह इन्द्रिय-मन-बुद्धियुक्त जड़ देह नहीं हूँ। मैं वस्तुतः चैतन्य हूँ, मैं ज्ञान-

स्वरूप हूँ। मैं ज्योति हूँ। किन्तु मैं इन्द्रियों के साथ संलग्न होकर, इन्द्रियों के वशीभूत होकर, विषयों में फंसकर, पर-द्रव्यों से लिप्त होकर, जीवरूप में दुःखी होता जा रहा हूँ। मैं स्थानभ्रष्ट हो गया हूँ। मैं इन्द्रियदास होकर किसी दुःख-मय कुपथ पर आरूढ़ हो गया हूँ। जब संसार के सभी पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं कुछ भी साथ लेकर उत्पन्न नहीं हुआ हूँ और न एक भी पदार्थ मृत्यु के उपरान्त मेरे साथ जायेगा, तो फिर पर-द्रव्यों में ममत्व जोड़ना तो एक बड़ी भूल है। आत्मतत्व सत् (स्थायी, अनश्वर) है; अनात्म तत्व (भौतिक अथवा पर-पदार्थ) असत् (नश्वर) है तथा यह बोध होना विवेक है। विवेक उत्पन्न होने पर न मोह रहता है, न भय और न चिन्ता ही। मोह एक भयानक भ्रम है। मैंने संसार में आकर न जाने क्या-क्या पदार्थ यहीं से एकत्रित किये और मैं उनका स्वामी बनने का मिथ्या पाखण्ड कर रहा हूँ, क्योंकि संसार को छोड़कर जाते समय मुझे इन सभी पदार्थों को यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। वास्तव में संसार की वस्तुओं में से मिट्टी का एक कण भी मेरा नहीं है। 'कहैं कबीर अन्त की बारी, हाथ झारि कै चले जुआरी।' पशु खेत में चारा खाकर, पक्षी फल खाकर तृप्त हो जाते हैं किन्तु मनुष्य गठरी बांधकर बोझ उठाना चाहता है यद्यपि उसे हाथ झाड़कर सब कुछ यहीं छोड़ जाना है। मुझे जान लेना चाहिये कि इनके प्रति आसक्ति, मोह करना एक अज्ञान है जो दुःखमूलक है। इस अज्ञान के कारण हमारे जीवन में सब ओर दुःख व्याप्त हो जाता है। 'ज्ञानामृतं भोजनम्।' ज्ञानामृत ही प्रज्ञा का भोजन है। हम छोटी-छोटी बातों के लिये युद्ध कर बैठते हैं।

"दिये लोभ चश्मा चखन लघु पुनि बढ़ो लखाय।"

लोभ-मोह का चश्मा लगा होने के कारण, तुच्छ भौतिक पदार्थ, पद, सत्ता, सम्पत्ति हमें महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। मोह में फंसा हुआ मनुष्य कर्तव्य पालन भी नहीं कर सकता है। मोह के कारण मकड़ी अपने बनाये हुए कोमल जाल में फंस जाती है, उससे नहीं छूटती तथा लकड़ी को भेद देने वाला भ्रमर कमल की कोमल पंखुड़ियों में बन्द हो जाता है और रेशम का कीड़ा अपने रेशम में ही फंस कर मर जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने सहज ही राज्य का त्याग कर दिया। न उन्हें राज्याभिषेक में हर्ष हुआ, न वनगमन में क्लेश ही हुआ। चारों भाइयों में से कोई भी राज्य को स्वीकार न कर रहा था, मानों फुटबाल की भाँति उसे ठोकर मारकर वे एक-दूसरे के पास फेंक रहे थे। यह मोह-त्याग की महिमा है। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। किन्तु कुछ शासकों ने राज्य-प्राप्ति के लिये अपने पिता और भाइयों आदि को कैद ही नहीं किया, अपितु उनकी हत्याएँ भी की हैं।

इस आत्म-साधना का सार है—"आत्मसंयम"। आत्मसंयम के बिना हमारी ब्रह्मचर्चा भी एक दम्भ है। मन का संयम एवं पवित्रता साधना का आधार है। आत्मसंयम से ही मन बलवान् होता है। जब तक जल में लहर उत्पन्न हो रही है, तब तक उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता। मन के स्थिर एवं प्रशान्त होने पर, मनन, चिन्तन तथा ध्यान के द्वारा आत्मा में ही प्रभु का संदर्शन होगा, जैसे दूध के बिलोने पर दूध में से ही घृत प्रकट होता है। हमें धीरे-धीरे मन के चाञ्चल्य को परिसमाप्त कर देना चाहिये। जगत् को जीतने से पूर्व मन को जीतें। मन ही एक विशाल जगत् है। "जितं जगत् केन ? मनो हि येन।" शंकराचार्य की उक्ति है। जगत् को किसने जीता है ? जिसने मन को जीत लिया है। मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" मन की निर्मलता होने पर ही परमात्म तत्व का दर्शन होना सम्भव है। मन से ही हम इन्द्रियों को वश में कर सकते हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (गीता ३।७)

मन की निर्मलता से ही मन की स्थिरता संभव होती है। विशुद्ध मन परम-तीर्थ है। 'तीर्थं परं किम्? हि मनो विशुद्धम्।' फारसी के कवि खुसरो भी मानव हृदय को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। 'दिल बदस्त यावर की हज्जे अकबर अस्त। अज हजारां काबा एक दिल बेहतर अस्त।' सहस्रों काबों की तीर्थयात्रा से बेहतर एक दिल को प्रसन्न करना है। मन के स्थिर एवं समाहित होने पर ही वह प्रभु के पास रह सकता है। प्रभुप्राप्ति के लिये मन का निर्विकार एवं पारदर्शी होना आवश्यक है। भीतर का शोधन करना, अपनी प्रकृति में परिवर्तन लाना परम आवश्यक है। मन पारदर्शी शीशे की भाँति निर्मल होकर स्थिर हो जाता है। स्थिर मन की स्थिरता स्वयं में एक बल है। 'अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥' शम, यम, नियम बाण के सदृश हैं और स्वस्थ मन दृढ़ त्रोण के समान है। मन के स्थिर होने पर ही ध्यानाग्नि का प्रज्वलन सम्भव है, जिससे कि अभद्र संस्कार ऐसे दग्ध हो जाते हैं, जैसे वनाग्नि से महावृक्ष भी भस्मीभूत हो जाते हैं। साधक को चाहिये कि मन को अचंचल, सात्विक बनाये रखने के लिये युक्ताहार-विहार करे, व्यर्थ शक्ति का क्षय न करे (जैसे कि बैठे-बैठे नाखूनों को मुख से कुतरना, तिनके तोड़ना, अँगुलियाँ चटखाना, निरर्थक घूमना, अनर्गल परचर्चा करना, परनिन्दा करना, परदोष वर्णन करना, दूसरों के विरुद्ध षड्यंत्र रचना, आलस्य में पड़े रहना आदि)। हमें मितभाषी होना चाहिये। 'महान्तो हि प्रकृत्या मितभाषिणः' सत्पुरुष स्वभाव से ही मित-

भाषी होते हैं। ईश्वर ने हमें दो कान, दो आंखें दी हैं किन्तु जिह्वा एक ही दी है जिससे कि हम अधिक सुनें और अधिक देखें किन्तु कम बोले, सोच कर बोलें। कुसंगति से भी बचना चाहिये। कुसंगति का प्रभाव अवश्य होता है। कुसंगति का प्रभाव न पड़ने पर भी उससे व्यर्थ अपयश अवश्य मिल जाता है। हम दिन भर जहाँ सन्तान, धन, पद, यश आदि भौतिक वस्तुओं का ध्यान करते हैं, वहाँ आत्म-कल्याण के लिये नियत रूप से अवश्य ही आध्यात्मिक साधना करें। यदि शरीर जल से शुद्ध होता है तो मन सत्याचरण से शुद्ध होता है। 'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।'

प्रभु में मन के आसक्त होने पर, उसमें नैर्मल्य आ जाता है तथा बिना प्रयत्न के ही वह पाप और पुण्य से ऊपर उठ जाता है। मन ही तो पाप-पुण्य के चक्र में फंसता है, मन ही पुण्य करता है, मन ही पाप करता है। किन्तु परमात्मतत्व से जुड़कर मन पाप-पुण्य से छूट जाता है।

मनः करोति पापानि लिप्यते पातकैः मनः।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

यदि पाप लोहे की जंजीर हैं तो पुण्य सोने की बेड़ियाँ हैं। उत्तम पुरुष तो दोनों से मुक्त होकर तथा समभाव में स्थित होकर सहज भाव से सत्कर्म करता रहता है। समभाव का अर्थ नीरसता नहीं है बल्कि भौतिक स्तर पर सुख में न बौराना और दुःख में न घबराना है तथा कर्म में पुरुषार्थ एवं फल में अनासक्ति है। समता की स्थिति शून्य की स्थिति नहीं है, निरन्तर आनन्द (स्थायी सुख) की स्थिति है। समता का अर्थ है भागवती चेतना में स्थित होकर समभाव से सर्वत्र ईश्वर को देखना, सरल आचरण करना। बाल्मीकि राम को उपदेश देते हैं—हे राम, मन में भीतर सब आशाओं को छोड़कर, राग-द्वेष तथा वासना से मुक्त होकर बाह्य जगत् में क्रियाकलाप करते हुए विचरण करो।

'अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव॥'

व्यक्तिगत इच्छाएं, महत्वाकांक्षा तथा धन, सत्ता, पद, यश आदि के प्रलोभन मन को विचलित कर देते हैं। इच्छाओं का दमन करना तो अपने स्वभाव के प्रति हिंसा है किन्तु धीरे-धीरे उनका शमन करना आवश्यक है। आदर्शों, मूल्यों के लिये जीने से अथवा प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण के भाव में जीने से, हम व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर उठ सकते हैं तथा आशा, निराशा, चिन्ता और भय के कुचक्र से बच सकते हैं। मूल प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण (सबलिमेशन) का यह श्रेष्ठ मार्ग है। ऐसा सोचना भूल है कि इच्छाओं के द्वारा ही उन्नति

होना सम्भव होता है। असन्तोष को प्रेरक मानकर दैवी (डिवाइन डिस्कन्टेन्ट) कहना नितान्त भूल है। ईमानदारी और इच्छा शक्ति से युक्त होकर परिश्रम द्वारा अधिकतम धन, पद, सत्ता आदि को प्राप्त करना ही व्यक्ति एवं समाज के लिये सुखकर होता है। किन्तु ईमानदारी और आदर्श का त्याग करके संसार की भव्यतम वस्तु को उपलब्ध करना भी दुःखदायक ही सिद्ध होगा। सद् सिद्धान्तों का सत्कार करने वाले साधक के लिये सन्तोष धारण करना परम आवश्यक है। बेईमानी और धोखे के द्वारा धनिक अथवा सत्तावान् बनने की अपेक्षा ईमानदारी में निर्धन अथवा सत्ताहीन रहना श्रेयस्कर है। असन्तोष अकल्पनीय धन एवं सत्ता होने पर भी मनुष्य को दयनीय बना देता है। सत्य-निष्ठ व्यक्ति मितव्ययी होता है तथा सादा जीवन व्यतीत करता है। कल्पना अथवा महत्वाकांक्षा के लोक में घूमने वाला व्यक्ति असत्य का सहारा लेकर धन एकत्रित करता है तथा असन्तुष्ट एवं दुःखी ही रहता है। बरसात में गंगा विपुला हो जाती है किन्तु उसमें स्नान करने अथवा उसके जल का आचमन करने में किसी की रुचि नहीं होती है। शरद ऋतु में गंगा कृश एवं क्षीण हो जाती है किन्तु निर्मलता के कारण मनोहारिणी और स्नान अथवा आचमन में सुखदायिनी होती है। पापमय, प्रचुर धन का वैभव सुखद नहीं होता है, ईमान-दारी की रूखी-सूखी रोटी शान्तिप्रद होती है। सचाई में ही सन्तोष होता है। असन्तुष्ट व्यक्ति को कर्तव्य पालन में भी रस का अनुभव नहीं होता है। शिकायत, चिड़चिड़ापन, कुण्ठा और असन्तुलन उत्पन्न करने वाले असन्तोष को जीवन का रस कहना हास्यास्पद एवं अयथार्थ है। थोड़ा धीरज धरो और असन्तोष से बचो। असन्तोष से प्रेरित होकर ही मनुष्य प्रलोभनों में फंस कर प्रतिष्ठा और प्राण को खतरे में डाल लेता है तथा दुःख भोगता है। प्राप्त के प्रति असन्तोष तथा अप्राप्त के प्रति लालसा की अपेक्षा प्राप्त के प्रति सन्तोष (एवं प्रभु के प्रति कृतज्ञता) तथा अप्राप्य के लिये (कर्तव्य स्वरूप) प्रयत्न अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। असन्तोष किसी भी अवस्था में स्वस्थ नहीं होता है।

कर्त्तव्य भावना से प्रेरणा लेना श्रेष्ठ है। कर्त्तव्य भावना के जागने पर ही मनुष्य डट कर प्रयत्न एवं संघर्ष करता है तथा तभी वह फल की कामना से छूट पाता है। स्वधर्मानुसरण एवं कर्त्तव्यपालन से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। कर्त्तव्यपालन करने पर अधिकार स्वयं मिल जाते हैं। अदम्य इच्छा से असन्तोष, एवं निराशा का जन्म होता है। इच्छाओं से ऊपर उठकर आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त करना दैवी है, शान्तिप्रद है। इच्छा का परित्याग करने पर चिन्ता भी छूट जाती है क्योंकि चाह से चिन्ता उत्पन्न होती है। चाह और चिन्ता का

युग्म है। इच्छारहित व्यक्ति प्रभु के साथ जुड़ जाता है तथा वह प्रभु-प्रेरणा अथवा कर्त्तव्य के अनुसार कर्म करता है। उसकी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति प्रभु स्वयं करते हैं। इच्छाओं पर विजय पाकर उत्तम मनुष्य कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से कर्म करता है तथा उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं। 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।' सत्पुरुष का संकल्प बलवान् होता है तथा उन्नति के द्वार उसके लिये स्वयं खुलते जाते हैं। प्रभु ही दूसरे मनुष्यों में सत्पुरुषों की सहायता करने की प्रेरणा देते हैं। वही प्रभु के लम्बे हाथ हैं। अतएव किसी से सहायता प्राप्त होने पर उसमें प्रभुकृपा का ही दर्शन करें। प्रभु के प्रति कृतज्ञता का भाव ही भक्ति है। प्रभुकृपा का सर्वत्र दर्शन करने वाला सदा शांत रहता है। संसार के पदार्थों को लक्ष्य मानने वाला व्यक्ति सदैव भटकता रहता है तथा अशांति, चिन्ता, तनाव, भय आदि से घिरा रहता है। आदर्शों, मूल्यों के लिये अथवा प्रभु-प्रीत्यर्थ जीने वाला व्यक्ति न केवल उन्नति पथ पर आगे बढ़ता ही रहता है, बल्कि शान्ति और सुख को भी प्राप्त कर लेता है। गीता का उपदेश है–'कामत्यागस्तपः स्मृतम्।' कामना से ऊपर उठना, कामना का त्याग करना, तप होता है।

महापुरुष व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित नहीं होते। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का लक्ष्य होता है व्यक्तिगत महिमा, पद, सत्ता, वैभव और यश को प्राप्त करना। यह निम्न स्तर की बात है क्योंकि व्यक्तिगत कामना की सिद्धि के लिये मनुष्य न्याय्य पथ को छोड़ देता है तथा ऐसे व्यक्ति से समाज का उपकार भी नहीं होता है। 'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' धीर पुरुष कभी न्याय्य पथ से एक पग भी नहीं हटते हैं। सिकन्दर अथवा नेपोलियन के महान् बनने से समाज का क्या हित हुआ? महापुरुष आदर्शों से प्रेरणा लेते हैं तथा सत्ता, यश आदि उपलब्धियों को साध्य नहीं मानते हैं। वे उन्हें भी जनसेवा का साधन मानते हैं। हाँ, विवेकशील मनुष्य के आदर्श यथार्थ पर आधारित होते हैं तथा कोरे स्वप्न नहीं होते हैं। वह मानो धरती पर पैर टेक कर आकाश की ओर देखता है, पृथ्वी पर पग रखते हुए भी उसकी दृष्टि आकाश पर होती है। यथार्थ की धरती पर पैर टेक कर आदर्श रूप आकाश की ओर दृष्टि रखना मनुष्य को उच्चतम प्रेरणा प्रदान करता है। समाज-सेवा के उद्देश्य से भौतिक धन एवं बल का प्रचुर अर्जन करना सराहनीय होता है। नैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही महत्त्वाकांक्षा करना प्रशस्त होता है।

सामान्य दृष्टि से धन, पद, सत्ता आदि से संपन्न व्यक्ति को बुद्धिमान्, सफल एवं सुखी समझा जाता है और सिद्धान्तों एवं मूल्यों के लिये त्याग, बलिदान करने वाले तथा कष्ट सहने वाले व्यक्ति को मूर्ख, विफल एवं दुःखी

समझा जाता है। वास्तव में महापुरुष आदर्शों की रक्षाहेतु स्वयं संकट को आमंत्रित करते हैं और चुनौती देकर उसका सामना करते हैं। जब कुछ भारत-वासी अंग्रेज शासकों के जी-हुजूर बनकर रायबहादुर और खानबहादुर बन रहे थे, अनेक देशभक्त जेलों में सहर्ष जाकर यातना सहते थे, हंसते-हंसते फाँसी का फन्दा चूम लेते थे तथा उनके बच्चे भूखे मरते रहते थे। त्याग और बलि-दान से पूर्ण, संकटमय जीवन महापुरुषों की शोभा होती है। यद्यपि अन्यजन उन्हें दुःखी समझते हैं तथापि उनका आन्तरिक तोष तो अवश्य अनिर्वचनीय होता है। सत्य और न्याय के पथ पर चलने वाले तथाकथित विफल महापुरुष समाज के प्रकाश-स्तम्भ होते हैं, मानवता उनकी ऋणी होती है। इन थोड़े से तथा-कथित विफल लोगों के त्याग एवं बलिदान के आधार पर ही तो मानवता आगे की ओर बढ़ती है। सफलता तथा विफलता के मापदण्ड सामान्य जन तथा महापुरुष की दृष्टि में भिन्न-भिन्न होते हैं।

मन को निर्मल और सशक्त बनाने के लिये प्रभु-प्रार्थना सर्वोत्कृष्ट उपाय है। हम जैसी प्रार्थना करते हैं वैसे ही बन जाते हैं। प्रार्थना में दूसरों के कल्याण की कामना करनी चाहिये। प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये—"हे प्रभो, यदि मुझे सुख दें तो मैं सुख पाकर बौरा न जाऊं और निरभिमान बना रहूं। यदि मुझे दुःख दें तो मैं बौखला न जाऊं। दुःख में मुझे दुःख सहने की शक्ति दीजिये। आप मुझे सुख दें या दुःख किन्तु जीवन पथ पर चलते हुए मेरा हाथ पकड़े रहें। यदि मैं आपका हाथ पकड़ूंगा तो वह छूट सकता है किन्तु आपके द्वारा मेरा हाथ पकड़े जाने पर वह न छूटेगा। जब आपने हाथ पकड़ा है तो क्या कांटे, क्या फूल ?" यद्यपि प्रभु से कुछ मांगना, मांगना नहीं कहलाता तथापि सर्वज्ञ से क्या मांगना ? भिखारी को केवल भीख ही मिलती है किन्तु कुछ न मांगने वाले को सब कुछ मिल जाता है। प्रभुभक्त केवलमात्र प्रभु-कृपा के लिये याचना करता है। सांसारिक इच्छायें अज्ञानजन्य होती हैं, मोह पर आधारित होती हैं और उनकी पूर्ति के लिये प्रार्थना करना मानो भटक जाना है। प्रभुभक्त अपनी इच्छाओं को प्रभु-इच्छा में विलीन कर देता है तथा उसका संबंध केवलमात्र कर्तव्य पालन से होता है। मानसिक पवित्रता एवं शान्ति के अन्य साधन हैं--तीर्थयात्रा, स्तोत्र-पाठ, मन्त्रजप, सत्संग, भजन, नाम-जप, कीर्तन, उपवास, मौन, ध्यान, तप, दान, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय आदि।

तप, व्रत, दान आदि से मानो आत्मारूपी दिव्य रत्न की रक्षा होती है। सत्संग से मन पर श्रेष्ठ संस्कार पड़ते हैं जैसे कुएँ के पत्थर पर रस्सी के चिन्ह छूट जाते हैं। सत्संग में सुने हुए एक शब्द का भी प्रभाव न जाने कब हो जाये। यह स्मरण रखना चाहिये कि हमें अपने घर का दीपक स्वयं जलाना पड़ेगा।

सन्तों की वाणी सुनकर साधक को यह प्रश्न स्वयं से अवश्य पूछना चाहिये–क्या मेरा आचरण आदर्शों के अनुरूप है ? साधक के जीवन में जप, तप की विशेष महत्ता होती है। वास्तव में जप भी स्मरण का एक अंग है; साधन है। कुछ अबोध जन जप-तप आदि के फलस्वरूप सन्तान, धन, पदोन्नति, यश आदि नश्वर एवं क्षणभंगुर भौतिक वस्तुओं की कामना करते हैं। जप-तपादि तो प्रभुप्राप्ति के उद्देश्य से ही, तन्मय होकर, करना चाहिये। जैसे लाठी के सहारे से हम कहीं दूर गन्तव्य तक चले जाते हैं, वैसे ही हम इन साधनों के द्वारा परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार तक पहुँच सकते हैं। जप-तपादि का लक्ष्य परमात्म-दर्शन होना चाहिये जोकि मानव के लिये सर्वोपरि है। यही लौकिक जीवनयात्रा का परम लक्ष्य है। परमभक्त तो आत्मसमर्पण-भाव से अपने प्रत्येक कर्म को, तन्मय होकर प्रभुप्रीत्यर्थ करता है। ज्ञानी सोचता है कि उसे कर्म करना चाहिये और फल प्रभु के अधीन छोड़ना चाहिये तथा वह पाप से बचता है और पुण्य करता है किन्तु प्रभुभक्त कर्म करने का गुमान ही नहीं करता है और न वह पाप-पुण्य के चक्र में फंसता है। वह कर्म करने का श्रेय भी स्वयं नहीं लेता है। जैसी हरि-प्रेरणा होती है, वैसा ही वह करता रहता है और कहता है कि प्रभु ही सब कुछ करते अथवा कराते हैं। "करन करावन आपै आप।" साधकजगत् के प्रति प्रेम भी प्रभु के नाते ही करता है तथा वह जगत् के रूप में प्रभु का ही दर्शन करता है। आत्मसमर्पण होने पर कुग्रह, कुयोग, अपशकुन प्रभावहीन हो जाते हैं। भक्त का भविष्य प्रभु के हाथ में होता है। प्रभुभक्त सहजभाव में रहता है। वह न पाप करता है, न पुण्य। आत्मसमर्पित भक्त प्रभु प्रेरणा के अनुसार, व्यवहार एवं आचरण करता है तथा सहजमृदु, सुनम्य सहजप्रसन्न रहता है। धर्म के मर्म का ज्ञान भीतर छिपा हुआ है जो आत्म-समर्पण से प्रकट हो जाता है। उसका प्रत्येक कर्म, उसका उच्छ्वास भी, प्रभुपूजन है–प्रभुप्राप्ति का साधन है। गीता में श्रीकृष्ण का दिव्य वाक्य है–

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९।२७)

अर्थात् तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन-पूजा करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है, वह सब प्रभु के अर्पण कर दे।

जीवन-यात्रा में सन्त जन द्वारा मार्गदर्शन भी अत्यन्त लाभकारी होता है। हमें साधारण पर्यटन में भी पथप्रदर्शक (टूरिस्ट गाइड) की आवश्यकता होती है। सन्त एवं गुरु का आशीर्वाद अमोघ होता है। किसी समुज्ज्वल संत के साथ

आत्मिक स्तर पर नाता होने से सहस्त्रों मील दूर भी शक्ति, सुख और शान्ति का लाभ हो जाता है। एक प्रबल मन अन्य शोकमोहपतित मन को उत्तोलक की भांति ऊपर उठा कर स्वस्थ एवं सुखी कर देता है। इमरसन ने कहा है, जीवन में चेतना की नौका को, तूफान और झकझोर से बचाने के लिये, सन्तों के प्रति श्रद्धा की डोर से बांध देना चाहिये। गुरु, सद्ग्रन्थ, तीर्थ आदि सीढ़ी की भांति साधन होते हैं, साध्य नहीं। सन्त के देह से शान्तिप्रद तरंग निकलती है, उसके देह को आभामण्डल अदृश्य रूप से घेरे रखता है। व्यक्तित्व की गंध-विशेष के व्याप्त होने के कारण ही खोजी कुत्ते, गंध के आधार पर व्यक्ति की खोज कर लेते हैं। प्रेम, सेवा, त्याग और क्षमा सन्त का सहज स्वभाव होते हैं। जैसे सर्प को पिलाया हुआ दूध विष बन जाता है, वैसे ही गौ को खिलाई हुई घास दूध बन जाती है

प्रभु के भाव में सुस्थिर होने पर स्वस्थ विरक्तभाव का उदय हो जाता है। राजा जनक का उदाहरण ज्वलन्त है। जल में कमल की भांति राजा जनक राज्य वैभव के मध्य में भी उससे अप्रभावित रहते थे। अतएव उन्हें विदेह कहा जाता है।

> अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन।
> मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन॥

जनक कहते हैं--मेरे पास अनन्त धन है, अपार भोगैश्वर्य है तथापि मेरे लिये वह मानो कुछ नहीं है, मेरा अपना कुछ भी नहीं है। मेरे लिये "है" और "नहीं है" समान हैं। यदि सारी मिथिला भी जलकर भस्म हो जाये तब भी मेरा कुछ नहीं जलता है।

प्रभु भक्ति का प्रकाश मन के विकार-तिमिर को निरस्त कर देता है। भक्ति का उदय होने पर, बिना प्रयत्न किये हुए ही, मनोविकार नष्ट हो जाते हैं। भक्ति मन को निर्मल करती है, मन का परिष्कार कर देती है। तब लगि हृदय बसत खल नाना, लोभ मोह मत्सर मदमाना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा, धरे चाप सायक कटि भाथा॥ ममता तरुन तमीं अंधियारी, रागद्वेष उलूक सुखकारी॥ तब लगि बसति जीव मन माहीं, जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥ निर्मलता में सुगन्ध होती है, सुयश होता है। प्रभु-विश्वास अनन्त शक्तिदायक है। तुलसी सीताराम कँह दृढ़ राखो विस्वास, कबहुँ बिगड़ते ना सुने रामचन्द्र के दास॥

भक्ति-भाव के द्वारा विरक्त भावना के जागृत होने पर संसार में कुछ भी दुःखमय नहीं रहता है तथा कोई अभाव नहीं खटकता है। अभाव की प्रतीति

हो तो सन्तोष कहाँ और आत्मतृप्ति कहाँ ? सांसारिक दृष्टि रहने पर अभाव खटकते हैं; किन्तु अध्यात्म दृष्टि होने पर मनुष्य में पूर्णत्व का आभास होने लगता है। कायर ही वस्तुस्थिति से पलायन करते हैं; किन्तु कर्म करते हुए भी निर्लेप रहने वाले साधक को पूर्णत्व का भान होता है तथा उसे समस्त सृष्टि मंगलमय प्रतीत होने लगती है। सिद्ध स्थिति में (जैसे रामकृष्ण परम हंस तथा स्वामी रामतीर्थ) तो कर्म और कर्त्तव्य नहीं रहते। अहंभाव की पूर्ण निवृत्ति होने पर प्रयत्न स्वयं छूट जाता है और उसके दायित्व का निर्वाह प्रभु स्वयं करते हैं। उसके लिये नियम की मर्यादा नहीं होती। केवल आध्यात्मिक विकास के काल में साधक को कर्म और कर्त्तव्य करना आवश्यक होता है। "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।" गीता ७।१६॥ भक्त मानुषी चेतना को पार कर ब्राह्मी चेतना में प्रतिष्ठित होने पर ब्रह्मलीन अवस्था में प्रभु की भाँति अन्तर्यमन करता है। जिस की चेतना निस्सीम है, काल से बँधी हुई नहीं है, उसके लिये सब वर्तमान है।

वसुधा की समस्त धन-सम्पदा ब्रह्मलीन प्रभुभक्त की ही है। "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचित् जगतीतले।" तथापि भूमण्डल और उसका वैभव उसे प्रलुब्ध नहीं कर पाते हैं। वह धनैश्वर्य का भोग करते हुए भी अनासक्त रहने के कारण उससे ऊपर उठकर ही रहता है। "निस्पृहस्य तृणं जगत्।" निस्पृह व्यक्ति के लिए जगत् तृण के समान है। निस्पृह व्यक्ति सुख के सम्बन्ध में स्वाधीन होता है। यदि इन्द्रियों की दासता है, इच्छाओं ने हमें जकड़ रखा है तथा चिन्ता का भूत सवार है तब अनन्त धन वैभव का स्वामित्व भी हमें सुख नहीं दे सकता है। सांसारिक वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के कारण अपने को सुखी मानना अपने सुख के लिए पराधीन होना है। सुख सदा स्वाधीन होता है तथा किसी के अवलम्बन की अपेक्षा नहीं करता है। चित्तवृत्ति के राग-द्वेष से विमुक्त होने पर तथा वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति स्वस्थ वैराग्य-भाव जागने पर मनुष्य का सम्बन्ध विश्वात्मा से हो जाता है और भीतर से सुख का अजस्र स्रोत फूट निकलता है। तब सांसारिक सुख अभिशप्त नहीं होते हैं तथा दुःख मधुर हो जाते हैं। नश्वर वस्तुएं शाश्वत सुख कदापि नहीं दे सकती हैं। अतः हम उनका आवश्यक उपभोग तो करें, किन्तु उनमें आसक्त न हों। व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर उठकर, मानवमात्र के साथ तादात्म्य भाव होने पर तथा ईश्वर के साथ जुड़कर ही मानव स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकता है। तभी वह जीवन में सुख का सच्चा अनुभव कर सकता है।

१४

मृत्यु महोत्सव

हम मृत्यु को कैसे स्वीकार करते हैं, इससे हमारे ज्ञान, व्यक्तित्व और जीवन साधना की परीक्षा होती है। आत्मा तो अमर है, किन्तु शरीर गलता, सड़ता और रोगी होता है तथा वस्त्र की भाँति जर्जर होकर, घिसकर, विनष्ट हो जाता है। इसमें आश्चर्य एवं दुःख की क्या बात है? यह एक प्राकृतिक नियम है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--जैसे कुमार, युवा और जरा अवस्था स्थूल शरीर के विकार के रूप में अज्ञान से आत्मा में भासते हैं, वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होने के रूप में, सूक्ष्म शरीर का विकार भी अज्ञान से आत्मा में भासता है। इसलिये तत्त्व को समझने वाले धीर पुरुष को इस विषय में मोह नहीं होता है (गीता २।१३)।

"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।" (गीता २।१८)

नित्य स्वरूप जीवात्मा के ये शरीर नाशवान् हैं। जीवात्मा स्वयं अमर है।

"न जायते म्रियते वा कदाचित्" (गीता २।२०)।

"आत्मा न कभी जन्मता है न मरता है।" शरीर ही जन्मता है, मरता है।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है (गीता २।२२)। इसी भाव को श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है:

मृत्यु एक सरिता है जिसमें श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर नूतन धारण करता है कायारूपी वस्त्र बहाकर॥

जीव मृत्युरूपी नदी में पुराने शरीररूपी वस्त्र बहाकर नये (शरीररूपी) वस्त्र धारण करता है।

जीवन मिट्टी के दीपक में प्रज्वलित शिखा है अथवा मिट्टी के प्याले में अमृत बिन्दु है। कबीर इसे ही अन्य प्रकार से समझाकर कहते हैं :

जल में कुंभ, कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ ज्ञानी।।

चारों ओर ब्रह्मरूपी जल से यह विश्व ओत-प्रोत है। देहरूपी घट में ब्रह्मरूपी जल की एक बूँद आत्मा के रूप में विद्यमान है। देहरूपी घट फूट गया और उसमें से आत्मारूपी जल-बिन्दु निकलकर परमात्मारूपी जलसागर में निमग्न हो गया। कबीर कहते हैं--'हम न मरैं, मरिहैं संसारा, हमकू मिल्या जियावन हारा।' यह अमरत्व-बोधक आध्यात्मिक भाव हैं। वस्तुस्थिति यह है कि चैतन्य के अनन्त सागर में जीवरूपी बुद्बुद् प्रकट होते रहते हैं तथा विलुप्त होते रहते हैं। वे उसी से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होते रहते हैं।

आत्मा नित्य और अवध्य है तथा शरीर का नष्ट होना नितान्त अपरिहार्य हैं। मृत्यु होने पर शरीर ही नहीं छूट जाता है, संसार के सभी प्रियजन, कुटुम्बी, सम्बन्धी और सभी पदार्थ, धन, सम्पत्ति आदि भी छूट जाते हैं। मृत्यु विवेकदायिनी है--गुरु है। संसार के नाते मिथ्या हैं। मनुष्य अकेला ही संसार में आता है और अकेला ही यहाँ से जाता है। धन-सम्पत्ति और पद, जिनके संचय और सुरक्षा हेतु मनुष्य पाप भी करता है, यहीं छूट जाते हैं। कोई व्यक्ति न धन लेकर उत्पन्न होता है और न मरता है। अतः हमें यह समझ लेना चाहिये कि मैं धन-सम्पत्ति से पृथक् हूँ। इन पर अपना अधिकार मानना मूर्खता है। इनके साथ ममत्व स्थापित करना भयंकर भूल है।

जिस वस्तु का आदि है उसका अवसान अवश्य है। जहाँ प्रारम्भ है, वहाँ अन्त है। भूतल पर शरीर यात्रा का प्रारम्भ जन्म से होता है और अन्त मरण में होता है। जन्म और मरण देह का होता है। आत्मा तो अनादि और अनन्त है। देह ही शैशव, यौवन और वृद्धता, क्षीणता, कृशता तथा पीनता का अनुभव करता है। जन्म होने पर जब माता बच्चे की आयु के विषय में ज्योतिषी से प्रश्न करती है तब वह वस्तुतः उससे मृत्यु की तिथि पूछती है। जन्म होने पर मरण होना एक ध्रुव सत्य है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' मृत्यु की अपरिहार्यता एवं अनिवार्यता के संबंध में कबीर की उक्ति है--माली आवत देख करि कलिन्ह कीन्ह पुकार। फूले फूले चुन लिये काल्ह हमारी बार।।' काल किसे छोड़ता है? कुछ उसके झोले में हैं, कुछ उसके गाल में हैं।

जगत चबेना काल का कुछ मुख में कुछ गोद।

यह क्रम अटूट है। जिस प्रकार जल-परिपूरित कुम्भ में छिद्र होने पर धीरे-धीरे वह रिक्त हो जाता है, उसी प्रकार शरीर भी मृत्युछिद्र होने के कारण धीरे-धीरे समाप्ति की ओर ही अग्रसर होता रहता है। धन, परिवार और प्रतिष्ठा आदि तो बढ़ रहे हैं; किन्तु आयु समाप्त होती जा रही है। जन्म होते ही मनुष्य मृत्यु की ओर उन्मुख हो जाता है, यद्यपि आयु घटने को बड़ा होना मानकर प्रतिवर्ष जन्मदिन पर हम उत्सव मनाते हैं। हम बढ़ते हैं; मृत्यु की ओर किन्तु देखते हैं संसार की ओर--यह विडम्बना है।

मृत्यु एक प्राकृतिक घटना है जो प्रत्येक शरीरधारी के साथ घटित होती है। मृत्यु को सहजभाव से स्वीकार किया जाना चाहिये। किन्तु फिर भी मनुष्य मृत्यु से ऐसे डरते हैं जैसे बालक अंधकार में प्रवेश करने से डरते हैं। जैसे कहीं से उड़कर आता हुआ पक्षी एक प्रकाशपूर्ण कमरे में प्रवेश करके थोड़ी देर वहाँ उड़ते हुए उसमें से निकलकर फिर कहीं बाहर अंधकार में लुप्त हो जाता है, ऐसा ही क्षणभंगुर प्रतीत होता है ऐहिक जीवन ! मनुष्य मृत्यु में विलीन होने के भय से भयभीत रहता है। संसार में कोई किसी प्रकार का भी भय मृत्यु-भय से बढ़कर नहीं होता है। अतएव मृत्यु-भय को भयराज (मास्टर फीयर) कहते हैं। जिसने मृत्यु के भय को जीत लिया, उसने समस्त भयों पर विजय पा ली, जिसने मृत्यु को मित्र समझ लिया, उसने जीवन को मित्र बना लिया। जीवन और मृत्यु का रहस्य समझ लेने पर मन से भय निरस्त हो जाता है। सद् ज्ञान का उदय होने पर भय समाप्त हो जाता है। मृत्यु से भय मानने पर जीवन दूभर बोझ बन जाता है। 'जब फ़ना ठहरी तो फिर क्या सौ बरस, क्या एक दिन'। मृत्यु को आना है, वह आये। हम क्यों डरें ?

मृत्यु का सम्यक स्मरण विवेकशील मनुष्य को पुण्य की ओर प्रवृत्त करता है, उसे भयत्रस्त नहीं करता है। भय के स्थान पर उत्साह आ जाने पर मृत्यु एक महोत्सव हो जाता है। मृत्यु का सम्यक् स्मरण मनुष्य को मिथ्याभिमान से विमुक्त कर देता है। यदि स्वस्थ, सुखी जीवनयापन करना एक कला है तो मृत्यु का सुखद आलिंगन करना भी एक कला है। वही आनन्दपूर्वक जी सकता है जिसने सुखपूर्वक मरना सीख लिया है। श्रेष्ठ सिद्धान्तों, आदर्शों पर चलते हुए जीवन को सुखमय बनाने वाला व्यक्ति ही आदर्शों के लिये मरना जानता है। उसके लिये मृत्यु एक सुखपूर्ण जीवनावसान बन जाता है। आदर्शों के लिये जीने वाले और आदर्शों के लिए ही मरने वाले मनुष्य की जीवनयात्रा धन्य होती है तथा ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों के लिये मृत्यु एक महोत्सव होता है।

विवेकशील व्यक्ति के लिये मृत्यु कोई समस्या नहीं है। यह देहान्तर-प्राप्ति का एक साधनमात्र है। मैं देह नहीं हूँ, मैं चैतन्य हूँ, मैं चिरन्तन हूँ।

अतः मेरी मृत्यु होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। आत्मा अमर है तथा उसका वाहन-स्वरूप शरीर पंचतत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर—से विनिर्मित है और विनाशशील है। यही विवेक है, ज्ञान है।

मनुष्य धन-सम्पत्ति इकट्ठा करके उसे संसार में ही छोड़कर ऐसे चला जाता है जैसे बटोही सराय में कुछ समय रहकर अकस्मात् चला जाता है। शेख़ सादी ने संसार को भटियारिन की सराय कहा है। कबीर कहते हैं कि पशु-पक्षी खेत में खाकर तृप्त हो जाते हैं; किन्तु मनुष्य गठरी बांध कर तथा अपने ऊपर लाद कर साथ ले चलना चाहता है यद्यपि हाथ झाड़ कर सब कुछ छोड़ जाना है। 'कहै कबीर अन्त की बारी, हाथ झारि कै चलै जुआरी।' संसार की वस्तुएं मेरी हैं ही नहीं, और मेरी हो भी नहीं सकती हैं। उनके परिग्रह के लिये पाप करना और उनके प्रति मोह करना अथवा उन पर अपना स्वत्व मानना, अधिकार समझना एक दुःखदायक भूल है। हम प्रभु का प्रसाद मान कर वस्तुओं का उपयोग करें; किन्तु ममत्व जोड़कर अधिकार न मानें।

मोहपूर्वक वस्तुओं का अनावश्यक परिग्रह न केवल जीवनकाल में चिन्ता एवं भय का कारण होता है, मृत्यु के सन्निकट होने पर शान्तिपूर्वक प्राण छूटने में भी बाधक होता है। सर्वाधिक प्रिय वस्तुओं का परिग्रह मनुष्यों के लिये विशेष दुःखदायी होता है। अकिञ्चन व्यक्ति (वस्तुओं का स्वामी होकर भी विरक्त व्यक्ति) अनन्त सुख पाता है।

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचन ॥
(भागवतम् ११-९-२)

हम तनिक देखें और सोचें कि मित्र तथा कुटुम्बी तो श्मशान तक साथ देते हैं और मृतक व्यक्ति की देह को भस्मीभूत करके अपने-अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं। इस जीवन-काल में किये हुए सत्कर्म अथवा दुष्कर्म संस्कार बनकर जीवात्मा के आगामी जीवन में प्रारब्ध के रूप में उसके साथ रहते हैं। वायु जिस प्रकार गन्धस्थान से सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी त्याग दिये गये हुए पहिले शरीर से मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके उन्हें फिर दूसरे शरीर में ले जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् (गीता १५।८)

मनुष्य की सच्ची कमाई वह है जो उसके साथ जाये और आगामी जीवन यात्रा में सहायक हो। बैंकों के लॉकरों और सेफ में रखा हुआ धन, जिसे हमने प्रायः पाप से कमाया और परिश्रम से सुरक्षित रखा, यहीं छूट जायेगा। श्रद्धा से दिया हुआ दान, किया हुआ परोपकार और तप साथ जायेंगे। केवल आत्मतत्त्व ही सच्चा है, अन्य सब पदार्थ मिथ्या हैं — यही सत्-असत् का ज्ञान है, विवेक है। हम असत् वस्तुओं की सुरक्षा करने की चिन्ता में अपनी शान्ति भंग कर देते हैं। नित्यप्रति अपने समक्ष अनेक व्यक्तियों की मृत्यु होते हुए देखकर भी और सभी को खाली हाथ जाते हुए देखकर भी हमें अपनी मृत्यु पर विश्वास नहीं होता है और हम क्षणभंगुर संसार में अपनी स्थिरता का प्रयत्न करते हैं। "सामान सौ बरस के, पल की खबर नहीं।" कबीर ने चेतावनी दी—'चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय। इन पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय ॥' काया-माया अथवा जन्म-मरण के पाटों के बीच में सभी पिस रहे हैं। मृत्यु को देख कर निर्वेद उत्पन्न होता है और संसार का मिथ्यापन समझ में आ जाता है। मृत्यु एक शिक्षक है जो वैराग्य और नम्रता का पाठ पढ़ाता है। 'माटी कहे कुम्हार से तू क्या रौंदे मोहि। इक दिन ऐसा आयेगा मैं रौंदूंगी तोहि ॥' महाभारत के वनपर्व में यक्ष द्वारा यह पूछे जाने पर कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है, युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषा स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

(महाभारत, वनपर्व ३१३।११६)

'प्राणी प्रतिदिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं; किन्तु फिर भी मनुष्य स्थिरता चाहते हैं (और ऐसा अभिमानपूर्ण आचरण करते हैं, मानों उन्हें सदैव यहीं रहना हो)। इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या हो सकता है!'

कुछ लोग विषम परिस्थितियों से भयभीत होकर पलायनवृत्ति से उनसे बचने के लिये मृत्यु की इच्छा करते हैं। कोई दुर्बुद्धि तो विषपान आदि के द्वारा आत्म-हत्या कर लेते हैं, जो संसार का घोरतम पाप है। जीवन प्रभु की देन है और इसका अधिकतम सदुपयोग करना हमारा परम धर्म है। कोटि-कोटि पुण्यों से मनुष्य योनि प्राप्त होती है। हमें इसका समुचित मूल्यांकन अवश्य करना चाहिये। कुछ अल्पबुद्धि दुःखों के मूल कारण मोह को तो विच्छिन्न नहीं करते हैं (मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला) और थोड़े समय के लिये दुःखों को भूलने के लिये मदिरापान आदि के द्वारा पवित्र प्रभुमन्दिर-स्वरूप शरीर को दूषित एवं नष्ट-भ्रष्ट करते हैं। यदि वे रामनामरूपी सुमधुर सोमरस पान

करें ग्रौर रामभक्ति रूपी संजीवनी बूटी प्रयोग करें (रघुपति भगति संजीवन मूरी) तो भवरोग ही मिट जायें। ग्राजकल के कुछ दम्भी लोग तो गर्भपातरूप जीवहत्या जैसे घोर पाप के पक्ष में वकालत कर रहे हैं।

पंचभूतविनिर्मित शरीर का स्वभाव गलना-सड़ना है। परम सुन्दर शरीर के सम्पर्क में ग्राकर भी मूल्यवान वस्त्र में दुर्गन्ध ग्राने लगती है, सुगन्ध (इत्र, तेल, फुलेल इत्यादि) शरीर के संस्पर्श से दुर्गन्ध हो जाता है ग्रौर श्रेष्ठ पदार्थ शरीर के भीतर पहुंच कर मल-मूत्र बन जाता है। परम सुन्दर देह के भीतर रक्त-मज्जा, मल-मूत्र ग्रादि भरे रहते हैं। ग्रात्मा मानो एक सड़े, गले ग्रौर गन्दे कारागार में बन्दी रहकर मुक्ति के लिये छटपटाता रहता है। शरीर की वीभत्सता ग्रात्मा का निर्गमन होते ही स्पष्टतः प्रकट हो जाती है। ग्रतः शरीर का गर्व कदापि न करें ग्रौर न उसके साथ ममत्व बढ़ायें। इसे स्वस्थ ग्रौर सुथरा रखकर सदुपयोग करें, किन्तु व्यर्थ ही इसका ग्रतिशय शृंगार करना ग्रौर इसकी क्षणभंगुर सुन्दरता का ग्रभिमान करना मूर्खता का परिचायक है। सुन्दर एवं स्वच्छ विचारों तथा मन, वचन ग्रौर कर्म की पवित्रता से ही मानव ग्रलंकृत होता है। ग्रान्तरिक सात्विक सौन्दर्य ही सत्पुरुष के मुख पर प्रतिबिम्बित होता है। ग्राज उसके ग्रभाव की पूर्ति प्रसाधनों के ग्रतिशय प्रयोग द्वारा की जा रही है। शरीर का मोह, मृत्यु वेला समुपस्थित होने पर, सुखपूर्वक प्राण निर्गमन में भी बाधक सिद्ध होता है तथा इसके कारण मृत्यु भयानक प्रतीत होने लगती है। जो जीवनकाल में शान्त एवं सुखी है, तथा विरक्त भाव से जीवित है, वही मृत्यु के समय भी शान्त एवं सुखी रहता है।

ग्रनेक संत शरीर के ग्रति जर्जर होने पर तथा चिकित्सा की विफलता देखकर ग्रौषधि-सेवन का त्याग कर देते हैं तथा केवल गंगा जल का पान ही करते-करते प्राण विसर्जन कर देते हैं। मरणावस्था होने पर ग्रनेक जैन साधु सल्लेखना ग्रहण कर भोजन, ग्रौषधि, जल ग्रादि का पूर्ण परित्याग करके मृत्यु का सहर्ष ग्रालिंगन करते हैं। संतों के लिये मृत्यु एक महोत्सव है, जिसकी तैयारी करने में उन्हें एक विशेष ग्राह्लाद का ग्रनुभव होता है। उन्हें तो मानो मृत्युद्वार को पार करने पर प्रियतम प्रभु का संदर्शन होने की ग्राशा ही ग्रानन्दित करती रहती है। महाकवि टेनीसन ने भी एक प्रसिद्ध कविता में यह भाव व्यक्त किया है। "मृत्युः सर्वहरश्चाहं" (गीता १०।३४) मृत्यु स्वयं ईश्वर का ही रूप है।

वीर पुरुष युद्धकाल में सहर्ष मृत्यु-ग्रालिंगन करते हैं ग्रौर उसे गौरव का विषय मानते हैं। श्रीकृष्ण ने ग्रर्जुन से युद्ध में वीरगति प्राप्त होने की प्रशंसा

की। हिटलर का आदेश पाकर जनरल रोमैल वीरता से प्राणोत्सर्ग करने के लिये अपने निवासस्थान से निकले तथा उन्होंने द्वार पर स्थित पत्नी एवं बच्चों की ओर मुड़कर भी नहीं देखा। यह था वीर का निर्लेप भाव।

प्राणोत्सर्ग के समय मनुष्य को संसार के सभी विषयों से तथा मित्रगण एवं कुटुम्बीजन से मोह-नाता छोड़कर, प्रभु का स्मरण, नामजप एवं ध्यान करना चाहिये, तथा वीतराग होकर; प्राणत्याग करना चाहिये। शान्तरस में निमग्न होकर, शारीरिक एवं मानसिक सुख-दुःख से ऊपर उठकर तथा प्रभुभाव में विभोर होकर सहर्ष मृत्यु का आलिंगन कर लेना चाहिये। सुकरात ने विषपान करते हुए मृत्यु को प्राप्त किया; किन्तु अपने सहज शान्तभाव को न छोड़ा। महर्षि दयानन्द ने मृत्यु के समय कहा—"ईश्वर, तेरी इच्छा पूर्ण हो" और अन्त समय तक शान्त रहे। गांधीजी ने गोली लगने पर भी "हे राम" कहा। रामकृष्ण परमहंस तथा महर्षि रमण की मृत्यु कैंसर के घोर कष्ट में हुई किन्तु वे शरीर की यातना को तटस्थ दृष्टि से देखते रहे और अन्त तक पूर्णतः शान्त रहे। मरणासन्न होने पर मोह छोड़कर रामनाम का सहारा लेना ही सर्वाधिक शान्ति-प्रदायक होता है।

जीवनकाल में मरण की इच्छा नहीं करनी चाहिये और मृत्यु समुपस्थित होने पर जीते रहने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। जब तक जीवन है तब तक जीवन से ऊब कर मृत्यु की कामना करना कायरता है और जब मृत्यु समुपस्थित हो जाये तब जीवन की लालसा से तड़पना अविवेक है। जब तक जीवन है, सुख मान कर जीना चाहिये और जब मृत्यु आये तब हमें जीवन की चाह छोड़ कर सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करना चाहिये। "न जाने किस क़दम पर ज़िन्दगी की शाम हो जाये।" सहर्ष तैयार रहें। जीवन भर परोपकार-रत रहकर निःस्वार्थ जनसेवा करने वाले व्यक्ति का मन मृत्युवेला में अवश्य प्रशान्त रहेगा। यदि किसी ने जीवन में आततायी बनकर अत्याचार किये हैं तो उसे महाप्रयाण के समय अत्यधिक मानसिक कष्ट होगा। औरंगजेब के अन्तिम शब्द इसकी पुष्टि करते हैं। महमूद गज़नवी मृत्यु संकट के समुपस्थित होने पर उस धन को धिक्कारने लगा था जिसके हेतु उसने घोर अत्याचार किये थे। मृत्यु के समय समस्त जीवन के पुण्य-पाप मन के सामने मंडराकर शान्ति अथवा अशान्ति देते हैं। ईश्वरनिष्ठ व्यक्ति देहावसान-काल में परम शान्ति का अनुभव करता है। ब्राउनिंग मृत्यु-समागम को एक साहसिक कार्य (एडवेंचर) मानते थे। धीर पुरुष मृत्यु से भयभीत नहीं होता है।

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।'

धीर पुरुष तो वे हैं जिनके मन में विकार (दुःख, अशान्ति, चिन्ता, भय इत्यादि) की कारणभूत परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी, विकार उत्पन्न नहीं होते हैं।

मनुष्य को प्राण-विसर्जन के समय न स्वयं रोना चाहिये, न अन्य जन को ही मरणासन्न व्यक्ति के समक्ष रोना चाहिये; क्योंकि रोने से शान्ति भंग होती है। अपनी मृत्यु के समय ज्ञानी सुकरात ने रोने वाली अधीर स्त्रियों को अपने समीप से दूर हट जाने का आदेश दिया तथा अपने प्रशंसकों को भी न रोने का आदेश दिया। कभी-कभी अल्प आयु में ही मृत्यु हो जाती है जिसके कारण माता-पिता, कुटुम्बीजन तथा मित्रगण अधीर होकर रोने लगते हैं, किन्तु प्रभु का विधान सदैव प्रसन्नतापूर्वक मान्य होना चाहिये। काल आने पर श्रेष्ठ चिकित्सा होने पर भी एकमात्र पुत्र माता-पिता के हाथों में प्राण छोड़ देता है। चिकित्सक चिकित्सा कर सकता है किन्तु प्राणरक्षा तो केवल ईश्वर करता है। कौन जानता है कि किस समय, किस रूप में, किस की मृत्यु आ जाये। परम प्रिय व्यक्ति की मृत्यु भी अकस्मात् हो जाती है और करुण क्रन्दन एवं हाहाकार मच जाता है तथा सभी असहाय होकर हाथ मलते रह जाते हैं। मृत्यु अवश्यंभावी है, अनिवार्य है। जिसे हम अज्ञानवश अकालमृत्यु कहते हैं वह भी विधि-विधान के अनुसार ही नियमित है। सभी रोने बैठ जायेंगे तो चुप कौन करेगा? रोकर क्या फल मिलेगा? रोते-रोते आँखें और स्वास्थ्य खोकर अपनी दुर्गति करने से क्या हित हो सकता है? आखिर कब तक रोयेंगे? जितना शीघ्र शोक-सागर से निकल कर समभाव में आ सकें उतना ही अच्छा है। हृदय, मस्तिष्क, स्नायुतंत्र (नर्वस सिस्टम) एवं देह को शोकाग्नि में झुलसाने पर पछताना ही पड़ता है, यद्यपि शोक के समय यह समझ में नहीं आता है। मृत्यु को सहजभाव से स्वीकार करना चाहिये, ईश्वर का विधान मान कर शांत हो जाना चाहिये। माली ने हरे-हरे पौधों को भी क्यों काट दिया, माली ही समझता है। कभी-कभी सड़क अथवा पुल बनाने के लिये नये तथा हरे वृक्ष भी उखाड़ दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सभी अपने-अपने कर्मानुसार अल्पायु अथवा दीर्घायु में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ईश्वर का विधान निर्दोष है। मोहवश रोकर विरहव्यथा की वृद्धि करना अविवेक है। स्वयं रोना अथवा दूसरों को रुलाना अविवेक है। अनेक बार सहानुभूति प्रकट करने वाले व्यक्ति स्वयं थोड़ा-सा अश्रुपात करके दूसरे को शोकनिमग्न कर चले जाते हैं तथा उसके शोक को दूर करने का कोई प्रयत्न करते ही नहीं हैं। प्रभु अपनी खेती कच्ची काट रहे हैं या पकी हुई, यह उनका ही संबंध है, उनका ही अधिकार-क्षेत्र है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते थे कि मृत्यु एक भयानक विजेता शत्रु की भाँति आती है यदि हम प्रिय अतिथि की भाँति इसका सत्कार एवं स्वागत करने की कला को भूल गये हैं। एलबर्ट श्वीतजर, अन्य नोबल पुरस्कार विजेता, ने कहा था--"किसी मनुष्य को मृत्यु से डरने की आवश्यकता नहीं है। उसे इस बात से अवश्य डरना है कि कहीं वह अपनी सबसे बड़ी शक्ति को बिना जाने हुए न मर जाये--दूसरों के लिये अपना जीवन उत्सर्ग करने की प्रबल इच्छा-शक्ति।" जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों का महत्त्व न समझकर जीने वाले व्यक्ति जीवित ही मृतप्राय होते हैं। जो मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुरूप उपलब्धि कर लेता है तथा जिसके मन में जीवन के प्रति गहरी आस्था होती है, उसके हृदय से मृत्यु का भय निकल जाता है तथा उसके जीवन में सरसता आ जाती है। उपलब्धियों की स्मृति मृत्यु सन्निकट आने पर संतोष प्रदान करती है। मृत्यु मनुष्य के सुयश को नहीं खा सकती है, उसकी उपलब्धियों को धूमिल नहीं कर सकती है।

सत्य तो यह है कि संसार में मिलना और बिछुड़ना सभी कर्मवश होते हैं। कुछ पक्षी एक वृक्ष पर संयोगवश बैठे हैं, फिर वे उड़कर विभिन्न वृक्षों पर बैठ जाते हैं और पुराने सम्बन्ध भूल जाते हैं। रेल के डिब्बे में जब तक बैठना है, हँस-खेलकर प्रेमपूर्वक बैठना चाहिये। फिर विभिन्न स्टेशनों पर सबको ही एक-एक करके उतरना पड़ेगा। यदि न उतरेंगे तो डिब्बे में स्थान ही न रहेगा। संसार में संयोग-वियोग का खेल विचित्र है। एक व्यक्ति की मृत्यु पर कहीं करुण क्रन्दन होता है और उसके अन्यत्र जन्म लेने पर किसी माता की गोद में पुत्र रत्न आ जाता है तथा शहनाई बजती है। मृत्यु होने पर पुराने नाते टूट जाते हैं जिससे उनका मिथ्यापन सिद्ध हो जाता है।

संसार एक स्वप्न है, भौतिक जीवन नश्वर एवं निस्सार है। इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए सिद्ध पुरुष रामकृष्ण परमहंस एक दृष्टान्त कहते थे। एक रात एक निर्धन व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि वह राजा हो गया है और वह आठ पुत्रों का पिता है। अगले दिन दैवयोग से उसका एकमात्र पुत्र अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हो गया। परिवार, कुटुम्ब और पड़ौस के नर-नारी रोने लगे, किन्तु वह शान्त रहा। सब चकित थे। उसकी पत्नी ने उसकी तटस्थता पर रोष प्रकट किया। तब उसने अपना स्वप्न सुना कर कहा--रात्रि के स्वप्न के आठ पुत्र नष्ट हो गये, वे अब नहीं रहे। मैं उन आठ के लिये रोऊं अथवा इस एक के लिये--यह मैं समझ नहीं रहा हूँ। यह भौतिक संसार नश्वर है, मिथ्या है। 'सपने होइ भिखारि नृप रंकु नाकपति होई॥ जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोई॥' केवल आत्मतत्त्व अमर है, सत्य है। संसार और उसके

संबंध स्वप्नमात्र (मिथ्या, नश्वर एवं निस्सार) हैं तथा विवेक जागरण होने पर संसार का मिथ्या-मोह छूट जाता है। 'ज्ञानी काटे ज्ञान से, मूरख काटे रोय।' विवेक मिथ्या मोह से रक्षा करता है और अधीर नहीं होने देता है। इष्टजन की मृत्यु होने पर गीतापाठ, हरिकीर्तन आदि के द्वारा शोकाकुल वातावरण को शान्त किया जा सकता है। शान्ति का एक ही उपाय है—विवेक जगाना और सन्तोष करना, मृत्यु को दैवी व्यवस्था मानकर उसे स्वीकार करना। जिसके मन को आत्मज्ञान की ज्योति प्रकाशित कर रही है, उसे मृत्यु का क्या भय है? आत्मज्ञानी मृत्यु पर जय प्राप्त कर लेता है। आत्मज्ञान के द्वारा मनुष्य जीवनकाल में अपने आचरण में तथा अन्त में मृत्यु के समुपस्थित होने पर सन्तुलित एवं सम रहता है। बच्चे खिलौना टूटने पर रो पड़ते हैं, किन्तु माता-पिता उन्हें समझाते हैं कि मिट्टी के खिलौने का स्वभाव टूटना ही है और वह चाहे जब टूट सकता है। आत्मज्ञानी को यथार्थ ज्ञान होता है और वह सम्यक् दृष्टि अथवा समता के कारण अपने अथवा किसी अन्य के शरीर के नष्ट होने पर शान्त रहता है।

मृत्यु महोत्सव के समुपस्थित होने पर हम उल्लास का अनुभव करें।

प्रयाणकाले मनसाचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्, स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ (गीता ८।१०)

वह भक्तियुक्त (मनुष्य) अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटि के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार से स्थापित करके और फिर निश्चल मन से (ईश्वर को स्मरण करता हुआ) उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य, मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ (गीता ८।१२।)

सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर (अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर) मन को हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापित करके योगधारण में स्थित होना चाहिये।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता ८।१३)

जो पुरुष, ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और प्रभु

का चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

मृत्यु वेला समुपस्थित होने पर मौन की गंगा में आत्मा का अवगाहन करना चाहिये। राम को हृदय में आसीन करके, राम के ध्यान-स्मरण में निमग्न होकर, राम में ही विलीन हो जाना जीवन-यात्रा का श्रेष्ठ अवसान है।

किंचिन्मात्र यह तो विचार करें कि सच बात क्या है? युधिष्ठिर कहते हैं--

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालो पचतीति वार्ता॥
(महाभारत, वनपर्व ३१३।११८)

अर्थात्, यह संसार एक महामोह रूपी कड़ाह है, सूर्य रूपी अग्नि उसे गरम कर रही है; रात्रि और दिन ईंधन की भाँति उसे परितप्त कर रहे हैं, मास और ऋतु (समय) एक दर्वी (घोटने वाला डंडा) है जिसके द्वारा घोटने से काल प्राणियों को (कड़ाह में) पका रहा है। यह वास्तविकता (सत्य) है। किसी आदर्श अथवा मूल्य के लिये प्राणोत्सर्ग करना मृत्यु महोत्सव ही है। जिन्हें आत्मबोध हो गया, उनके लिये भी मृत्यु एक सुखद महोत्सव है। जो अपने जीवन में आत्म-सन्तुष्ट हैं, वे मृत्यु-समागम को एक उत्सव ही मानते हैं। मृत्यु पर विजय पाने के लिये जीवन को शुद्ध विचार, आचरण एवं कर्म के द्वारा पवित्र बना लेना परम आवश्यक है। मृत्यु हमें सिखाती है कि जीवन को प्रेम, सेवा, क्षमा, त्याग, उदारता, सहनशीलता, सहानुभूति और सत्य से भर दो क्योंकि जीवन एक लघु किन्तु स्वर्णिम अवसर है। जीवन अस्थिर है, इसे स्थिर करने का ढंग यही है। सबको सुख देने वाला, सबकी सेवा करने वाला, सबसे प्रेम करने वाला तथा आत्मतत्त्व को समझने वाला मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। मृत्यु के लिये तैयार रहने का अर्थ है कि किसी प्राणी के प्रति आसक्ति अथवा पदार्थ के प्रति तृष्णा शेष न रहे और हम नितान्त निर्मल एवं निर्भय हों। पवित्र एवं निरीह होकर शान्त भाव का अभ्यास करना जीवन को एक आनन्दमय यात्रा तथा मृत्यु को एक महोत्सव बना देता है। यदि हमने जीवन के स्वर्णावसर का पूर्ण सदुपयोग कर कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं तथा हम आत्मतृप्त हैं तो अवश्य ही मृत्यु का आलिंगन एक महोत्सव प्रतीत होगा। चरित्र के उदात्त होने पर जब जीवन में स्थायी सुख का समावेश हो जाता है, तब मृत्यु भी एक महोत्सव हो जाती है।

हम न मरैं

हम न मरैं, मरिहै संसारा, हम कू मिल्या जियावन हारा।
अब न मरौं, मरनै मन मानां, तेई मुएं जिन राम न जाना ।।
साकत मरै सन्त जन जीवै, भरि-भरि राम रसाइन पीवै।
हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं, हरि न मरैं हम काहे कुं मरिहैं ।।
कह कबीर मन-मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा ।।

१५

सुख की चाह और उसकी सच्ची राह

मंगलमय भगवान् की सृष्टि मंगलमयी है, उसका विधान भी पूर्णतः मंगलमय है। यह ब्रह्माण्ड अनन्त सुखसिन्धु भगवान् से उत्पन्न हुआ है और उसी में विलीन होता है। सभी कुछ मंगलमय है, दसों दिशा आनन्द से परिपूर्ण हैं। उस आप्तकाम, पूर्णकाम, लोकाभिराम प्रभु की समस्त सृष्टि रचना सच-मुच ही हमारे आनन्द के लिये हुई है। यह अनन्त दिङ् मण्डल देवाधिदेव प्रभु के अनन्त समुल्लास से ही परिपूरित है, किन्तु आश्चर्य, परम आश्चर्य और न केवल आश्चर्य अपितु वैचित्र्य है कि चारों ओर दुःख––घोर दुःख, कष्ट––परम कष्ट, व्यथा––अत्यन्त व्यथा की पुकार सुनाई पड़ती है। यह दुर्भाग्य नहीं है तो क्या है? क्या पाँच या छः फुट का मानव इस सुखपूर्ण विशाल एवं विस्तृत सृष्टि-मण्डल में अणु मात्र सुख भी नहीं प्राप्त कर पाता है? क्यों? सृष्टि में सुख-सामग्री भरी पड़ी है, जीवन में रस भरा पड़ा है और प्रभु ने मानव को रसास्वादन करने की क्षमता भी दी है, किन्तु मनुष्य जीवन-रस में विष घोल लेता है। प्रभु ने मनुष्य के स्वभाव में सुख की चाह दी है और सुखी रहना उसका स्वाभाविक रूप भी है। क्यों, फिर, मानव दुःखी है?

वास्तव में मानव सम्यक् प्रकार से जीवन-पथ पर चलना नहीं सीखता है और अपने दोषपूर्ण दृष्टिकोण अथवा अपने ही दोषपूर्ण स्वभाव (स्वार्थपूर्ण स्वभाव, चिड़चिड़ा और संकीर्ण स्वभाव) के कारण सुख से ओत-प्रोत सृष्टि उसे दुःखदायिनी प्रतीत होती है। सृष्टि तो प्रभु का सुखद विलासमात्र है। उस अनन्त ब्रह्माण्डनायक, जगन्नियन्ता परमात्मा का अंश-स्वरूप आत्मा स्वयं सुख-स्वरूप है, किन्तु सच्चे सुख का अनुभव तथा सृष्टि की सुखमयता की अनुभूति मानव को तभी प्राप्त होगी जब वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर उसी में विचरण करेगा। अन्यथा, त्रिगुणमयी माया के कुचक्र में फँसकर तथा

अज्ञानतिमिर से आवृत होकर वह सुखप्रधान सृष्टि में सुख के स्थान पर दुःख का ही अनुभव करेगा। दुःख तो अज्ञानजन्य भ्रम है, अयथार्थ है, कल्पनामात्र है और उसका निराकरण पूर्णतः सम्भव है। प्रभु के सान्निध्य में दुःख-भावना अवश्य परिसमाप्त हो जाती है। प्रभु से आत्मीयता होने के नाते सृष्टि सुखदायक ही है; केवल मोह, स्वार्थ के नाते दुःखदायक है।

जिस अनन्त सौन्दर्य-निधान भगवान् के संस्पर्श से जड़ जगत् की वस्तुओं में मनोरमता, रुचिरता, आकर्षण एवं प्रियता आ जाती है उसे छोड़कर तथा भूलकर हम भौतिक वस्तुओं में लिप्त हो जाते हैं और उन्हें भोग्य एवं साध्य मान लेते हैं। उन भौतिक पदार्थों को ही हम अपने सुख का आधार मान बैठते हैं, किन्तु वे तो क्षणभंगुर एवं नश्वर हैं, अस्थायी हैं, तथा अक्षुण्ण एवं अबाध सुख पहुँचाने में नितान्त अक्षम हैं, सर्वथा असमर्थ हैं। हम प्रायः समझते हैं कि केवल धन, पुत्र-कलत्रादि, यश, पद, कीर्ति, सत्ता, सम्पत्ति प्राप्त होने से हम पूर्ण सुखी हो सकते हैं, किन्तु यदि हम उन मनुष्यों को देखें जिन्हें ये सब प्राप्त हैं तथापि वे अत्यन्त दुःखी हैं तो हमें ज्ञात होगा कि ये कितने निस्सार हैं। फिर, हम धन, पुत्र, कलत्रादि, पद, यश, कीर्ति, सत्ता, सम्पत्ति को अकस्मात् ही नष्ट होते हुए भी प्रायः देखा करते हैं। हम इन्हें अपने सुख का आधार मानते हैं अतएव इनके विनष्ट होते ही हमारा सुख भी नष्ट हो जाता है। इनसे अधिक गहन एवं स्थायी सुख बौद्धिक सुख है। इसी कारण अनेक वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार तथा विद्वान व्यक्ति बुद्धिरंजन तथा बौद्धिक उपलब्धियों को सांसारिक ऐश्वर्य की अपेक्षा अधिक स्थायी एवं सारमय मानते हैं और वे भौतिक सुखों का परित्याग कर, बौद्धिक वृत्तियों में ही कालयापन करते हैं। किन्तु अनुभव सिखाता है कि उन्हें भी पराशान्ति प्राप्त नहीं होती है। उससे भी आगे बढ़कर आत्मरंजन है जो वास्तव में परम शान्ति एवं आत्यन्तिक सुख का प्रदायक है। आत्मा की पिपासा है कि उसे आत्म-साक्षात्कार द्वारा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो। उसकी सहज प्रवृत्ति है कि वह परम पद की ओर अग्रसर हो। केवल भौतिक तथा बौद्धिक स्तर पर रहने से सब कुछ पाकर भी यथार्थतः आत्म-सन्तुष्टि नहीं होती है और आध्यात्मिक सुख की अपेक्षा रह जाती है जिसके बिना जीव को शान्ति नहीं प्राप्त होती है। हमें जीवन में भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक, इन तीनों स्तरों पर रहना होता है और कभी किसी भी स्तर की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। हमें भौतिक स्तर (शरीर एवं इन्द्रियों का स्तर) पर सुखमय जीवन बिताते हुए जीना है, बौद्धिक स्तर पर बुद्धिरंजन करना है तथा आध्यात्मिक स्तर पर अमृतत्व का आस्वादन भी करना है। यह हम सबका जन्मसिद्ध अधिकार है। किन्तु व्यक्तित्व में परिपक्वता आने पर धीरे-

धीरे ऊँचे स्तरों की ओर उठने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। भौतिक स्तर पर हमारे शरीर तथा शरीर के सम्बन्धों की आवश्यकताएं होती हैं, बौद्धिक स्तर पर ज्ञान की भूख होती है तथा आध्यात्मिक स्तर पर जप, ध्यान, प्रार्थना की गहरी मांगें होती हैं। नैतिक स्तर पर परोपकार, सेवा, त्याग, बलिदान में रुचि लेना, बौद्धिक स्तर से ऊपर उठकर, आध्यात्मिक स्तर का पूर्वार्द्ध है तथा आध्यात्मिकता का आधार है।

सेन्ट आगस्टाइन के समय से ईसाइयों में एक सुन्दर उक्ति प्रचलित है कि 'प्रभु ने मानव के हृदय को अपने लिये बनाया और मानव हृदय को परमात्मा को प्राप्त किये बिना सच्ची शान्ति नहीं मिलती'। प्रभु तो सबके लिये समान रूप से सहज दयामय हैं। कोई प्रभु से नाता जोड़कर उससे लाभ उठाते हैं, कोई उसे कोसते ही रह जाते हैं। गंगा तो समान बहती रहती है, कोई उसमें आचमन और अवगाहन, स्नान करते हैं तथा कोई उसमें मलमूत्र त्याग देते हैं। प्रभु उसको भी नहीं तजते जो उन्हें कभी नहीं भजते हैं। प्रभु को हमारी पूजा की आवश्यकता नहीं है, अपनी भावशुद्धि एवं शान्ति के लिये प्रभुभक्ति करना हमारी आवश्यकता है। प्रार्थना से अहंकार छूटता है। प्रार्थना करना आत्मा की मांग है। प्रार्थना से मन पवित्र होता है। प्रार्थना करने पर मनुष्य अपने को अकेला तथा असहाय नहीं समझता है। पिता के हाथ से अंगुली छूटते ही बालक रोचक एवं सुखद मेले को भयावह समझ लेता है तथा उसका हाथ पकड़े हुए आनन्दपूर्वक मेला पार कर लेता है। प्रार्थना जीव और परमात्मा के बीच सुखद नाता है। पुरुषार्थ के साथ प्रार्थना जुड़ने पर प्रसन्नता आ जाती है और जीवन रसमय हो जाता है। प्रभु के समक्ष हृदय को उंडेल दो, वही शरण है। संस्कारों की गठरी को खोलकर प्रभु के सामने रख लो और पारदर्शी शीशे की भाँति निर्मल हो जाओ। पवित्रता एवं निर्मलता में ही शांति और बल छिपे पड़े हैं। पवित्र एवं निर्मल तथा निरहंकार होना हमारा अपना स्वार्थ है। पवित्र एवं निर्मल तथा शान्त होने पर हम प्रभु के समीप आ जाते हैं। जिस प्रकार गंदे जल में आकाश के तारे प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं, तथा मिट्टी के नीचे बैठ जाने पर और जल स्वच्छ होने पर वे स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, उसी प्रकार वासनाविकार से दूषित मन में प्रभु का ऐश्वर्य प्रतिबिम्बित नहीं होता है तथा वासनाविकार के शान्त होने पर और मन के स्वच्छ होने पर वह स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो जाता है। मन की निर्मलता प्रभुप्राप्ति का सरल एवं सहज मार्ग है। सभी सभ्य एवं असभ्य जातियों में इस प्रभु-प्राप्ति की पिपासा की भिन्न-भिन्न प्रकार से चर्चा है। नान्यः पन्थाः। परम सुख, आत्यन्तिक शान्ति, प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

हमारे घर में हीरों का हार रखा हो, किन्तु यदि हमें उसका ज्ञान नहीं है तो हम निर्धन हैं तथा भिक्षावृत्ति भी कर सकते हैं। यदि हमें उसके मूल्य का उचित ज्ञान हो जाये तो फिर क्षण भर में हम धनिक हो जाते हैं। आत्मतत्त्व ही वह हीरक हार है, जिसके मूल्य को न जानने के कारण हम दुःखी रहते हैं। ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः। इस मधुर तत्त्व के ज्ञात होने पर संसार के भोग फीके पड़ जाते हैं। भोगाः न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः। भोग्य पदार्थ नहीं भोगे जाते बल्कि धीरे-धीरे मानव ही भोगों के द्वारा भुक्त होकर क्षीण-बल होने से नष्ट हो जाता है। मनुष्य जीवनभर कष्ट उठा कर तथा अपमान सहकर भोग-सामग्री एकत्रित करता है और भोग के अम्बार में मनुष्य का अस्तित्व ही मानो दफ़न हो जाता है, उसका स्वरूप ही विकृत हो जाता है। हम जिसे फलदार वृक्ष समझ बैठे हैं, वह पत्तों का ढेरमात्र है। भ्रमास्पद भोग को जीवन का लक्ष्य मान कर उसमें आस्था रखने पर मनुष्य भटक जाता है। हम सुख को वहां ढूंढते हैं जहां वह नहीं होता है, अतएव भटकते रहते हैं। आत्मा स्वयं सुख का अक्षय स्रोत है। जीवन और सुख हमारे भीतर हैं। भोगों की तृष्णा, इच्छा कभी बूढ़ी नहीं होती; हम ही बूढ़े, जर्जर हो जाते हैं। तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णाः। तृष्णा एक अजगर है जो बुद्धि को कवलित कर लेती है। तृष्णा बेकाबू घोड़े की भाँति मनुष्य को न जाने कहाँ ले जाकर पटक देती है। लिप्त होने पर हमारे भोग ही हमारे भक्षक बन जाते हैं। "शमन से क्रोध को, मृदुता से अभिमान को, सरलता से माया को तथा सन्तोष से लोभ को जीतें" (दशवैकालिक)। विवेक से भोगवृत्ति को जीतना चाहिये। मर्यादा पार होने पर भोग मनुष्य के सुख, शान्ति एवं शक्ति को चाट लेते हैं। यह ठीक है कि भोग भी भौतिक स्तर पर आवश्यक होते हैं क्योंकि शरीर की माँगों को ठुकराया नहीं जा सकता है, न उन्हें जीवन से निरस्त किया जा सकता है। उन्हें झुठलाने अथवा पूर्णतः निरस्त करने से कुण्ठाएं बन जाती हैं किन्तु जीवन भोगैश्वर्य में ही डूबे तथा भटकते रहने के लिये नहीं मिला है। भोगों की नदी को पार कर दूसरे तट को भी तो देखें, आगे बढ़कर भी तो देखें। शरीर की उचित माँग पूरी करें, किन्तु उसमें फंसे न रह जायें, लिप्त न हो जायें। भोजन, यौन (सेक्स) आदि का जीवन में स्थान है; किन्तु वह जीवन का लक्ष्य नहीं है। संकल्पबल एवं पुरुषार्थ के द्वारा आगे बढ़कर, ऊपर उठ कर, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर भी पहुंचना चाहिये और जीवन लक्ष्य को पहिचानना और प्राप्त करना चाहिये। सुख की चाह का गहन विश्लेषण हमें उसकी राह का निर्देशन कर देता है। धीरे-धीरे भोगों से ऊपर अवश्य उठें। यद्यपि शरीर के स्तर पर भी हमें किसी सीमा तक जीवन भर ही रहना होता है तथापि

धीरे-धीरे ऊपर के स्तरों का महत्त्व समझ में आने पर स्वयं भोगवृत्ति छूट जाती है। तुलसीदास जी सन्तों एवं भक्तों की महिमा का गान करते हुए कहते हैं--

रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन इव नर बड़भागी॥

जीवन में महान् उपलब्धियों को प्राप्त करने वाले महापुरुष महान् संकल्प करते हैं तथा भोग से ऊपर उठ जाते हैं। तभी वे जीवन की किसी दिशा में कुछ उपलब्धि कर पाते हैं। राम पुनीत विषय रस रूखे। पुनीत होकर तथा भोगानुरक्ति पर विजय पाकर ही मनुष्य महान् बन सकता है।

जे विषया सन्तन तजे मूढ़ ताहि लिपटात।
ज्यों नर डारे वमन कर, स्वान स्वाद सों खात॥

सच पूछिये तो, वस्तुओं में दोष नहीं है; हमारी वासना, भोग-वासना, तृष्णा का ही दोष है। तृष्णा शूल की भाँति चुभती है। शंकराचार्य कहते हैं कि तृष्णा से मुक्ति ही स्वर्ग है। यदि यही तृष्णा प्रभुप्राप्ति की तीव्र उत्कंठा बन जाये तो कल्याण ही हो जाये। भगवद्-विषयिणी तृष्णा धन्य है। दोष तो भीतर हैं। अपने दोष को बाहर ढूंढने से तथा परदोष-दर्शन से सुधार होना संभव नहीं है। मार्ग में पड़े हुए पत्थर से टकराने पर पत्थर को दोष देने से क्या लाभ है? हमारा दृष्टिदोष तो हमारे भीतर है। अन्तर्दोष मिटाकर बहिर्जगत् में विवेकपूर्ण व्यवहार करना ही बुद्धिमत्ता है। स्वदोष-दर्शन तथा परगुण-दर्शन करना मानो आत्मसुधार का प्रारंभ होता है। हमारी ही भूल से चाकू ने अंगुली काट दी है, ऐसा स्वीकार करने से ही सुधार संभव होता है। दूसरों के गुणों से प्रेरणा लें तथा अपने दोषों को दूर करें, यह बुद्धिमत्ता है। परदोष दर्शन एवं परछिद्रान्वेषण से कटुता उत्पन्न होती है। संसार में दोष नहीं है, सांसारिकबुद्धि में मोह रूपी दोष है। हमें गृह-त्याग अथवा वस्तु-त्याग नहीं करना है, ममत्व का त्याग करना है। देह एवं वस्तुओं को अपना मानना अभिनिवेश है, एक दुःखद भ्रम है जिसका त्याग करने पर बाह्यवृत्ति अन्तर्मुखी हो जायेगी तथा आत्म-स्तर पर वह वृत्ति ही आत्माकार हो जायेगी। परिवार एवं वस्तु बाधक न रहकर साधक हो जायेंगे, सुखद हो जायेंगे। आत्मतत्त्व को जानने वाला व्यक्ति भोग्य-वस्तुओं का भोग करता हुआ भी संसार के साथ संसक्त एवं लिप्त नहीं होता है। हम पुत्र, कलत्र आदि से तथा वस्तुओं से प्रेम करें तथा उनके प्रति कर्तव्य पालन करें, किन्तु उन्हें ईश्वर का मान कर, उनके विषय में चिन्ता एवं दुःख न करें। मोह त्याग का अर्थ है--कर्तव्य करना किन्तु

चिन्ता न करना। यही वैराग्य भाव है जो पलायन नहीं है। वैराग्य का अर्थ है विषयभोगों में सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयता न भासना एवं उन पर विजय पा लेना। आत्म-तत्त्व के जानने पर, परमात्मपद के प्राप्त होने पर, मनुष्य स्वतः क्षणिक भोगों से ऊपर उठ जाता है। वह यश-अपयश, क्षणिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर परम सुख एवं आत्यन्तिक शान्ति में प्रतिष्ठित हो जाता है। भौतिक स्तर पर मनुष्य नगण्य, दीन एवं दुर्बल हो सकता है, किन्तु अध्यात्म स्तर पर वह महान् है, ब्रह्मस्वरूप है तथा परमानन्द का अधिकारी है। आत्मानुभूति होने पर मनुष्य निर्भय हो जाता है। आत्मानुभूति से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। आत्मानुभूति के क्षण अनिर्वचनीय होते हैं। आत्मानुभूति होने पर बाहर कुछ पाना शेष नहीं रहता है। जीवन तो भीतर है। इन्द्रिय, मन, अहंकार के सहारे मनुष्य अपने स्वरूप को कदापि नहीं पा सकता है। ईश्वरतत्व एवं आत्मतत्व की महत्ता का भान होने पर आत्मकल्याण का प्रयत्न करना स्वार्थ नहीं, परमार्थ है। यदि सभी व्यक्ति आत्मकल्याण की राह पकड़ कर जीवनयात्रा करें तो संसार स्वर्ग हो जाये। परसेवा, परोपकार भी आत्मकल्याण के लिये ही होना चाहिये। परोपकार का गर्व करना, पर-सुधार का दंभ करना व्यक्ति एवं समाज के लिये अहितकर होता है। परोपकार द्वारा वास्तव में हम ही कृतकृत्य होते हैं। समस्त कुण्ठाओं, दुर्बलताओं से छूटने के लिये, आत्मविश्वास को दृढ़ करने के लिये, खोये हुए सुख को पुनः पाने के लिये तथा अपनी गहरी मस्ती में मस्त रहने के लिये अध्यात्मरस का सहारा लें।

मानव का ईश्वर के साथ आत्मीयता का नाता है जिसे न पहिचानकर वह दुःखी रहता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" (गीता)
ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।

आत्मा ईश्वर का अंशभूत है। अतएव आत्मा चेतन, शुद्ध एवं सहज आनन्द स्वरूप है। मानव अज्ञानवश, भ्रमवश, दुःखी रहता है। निज आनन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर हम सहज आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। हम सभी ईश्वर के अंश हैं, पुत्र हैं। (अमृतस्य पुत्राः)। ईसा महान् में यह भाव उग्र हो गया और उन्होंने कहा—मैं ईश्वर का पुत्र हूँ। ऐसा महापुरुष ही प्रभु विश्वास का आनन्द जानता है जो विषम परिस्थिति में भी प्रभु का वरद हस्त देखता है और संकट को भो कल्याणकारक समझता है। ऐसा महापुरुष ही सूली पर चढ़ाने वालों के लिए प्रार्थना कर सकता है "हे प्रभो, इन्हें क्षमा करो क्योंकि ये नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं।" मानव को अपना निजस्वरूप अवश्य जानना

चाहिये। "आत्मानं विद्धि।" 'अपने आप को जान लें'। अपने को पा लेना, अपने वास्तविक रूप एवं स्वभाव को जान कर आत्मसंस्थित होना, सोऽहम् की अनुभूति करना साधना का लक्ष्य होता है। हंस अपने को बकुल मानकर दुःख ही भोगता है तथा निज स्वरूप पहिचान कर उसमें प्रतिष्ठित होने पर सुख प्राप्त कर लेता है। आत्मचिन्तन एवं आत्मसाक्षात्कार से बढ़कर कोई सुख नहीं है। मिट्टी में उत्पन्न होकर भी मुझे मिट्टी की जड़ता नहीं छू सकती है। देह में रहकर देहातीत अवस्था को प्राप्त करना साध्य है।

जो सम्बन्ध जल-तरंग का जल से है, घटाकाश का महाकाश से है, प्रतिबिम्ब का बिम्ब से है, मुकुट-कुण्डल का स्वर्ण से है, स्फुलिंग का अग्नि से है, वही सम्बन्ध हमारा परमात्मा से है। जल के बिना तरंग की कल्पना ही संभव नहीं है। वह परमात्मा नाम-रूप से शून्य है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। तरंग जल से उत्पन्न होकर, जल में स्थित रह कर, जल में विलीन होती है। तरंग जल ही है। बहिर्मुखी होकर आत्मा को कैसे पहिचानें ? अन्तर्मुखी होने पर उसका आभास एवं अनुभूति होना संभव है। शरीर के नाम और रूप हैं किन्तु आत्मतत्त्व निरुपाधि है। निर्णयात्मिका बुद्धि से मन की नियंत्रित करके प्रभुचिन्तन करने से जीव तद्रूप हो जाता है। आत्मा सबके भीतर है, किन्तु उसके जानने से ही (हीरे की भाँति) सुख की प्राप्ति होती है। हीरे की पहिचान कराने वाला गुरु होता है। वह हमें अनुभूति का मार्ग बताता है किन्तु अनुभूति तो निर्दिष्ट मार्ग पर चलने पर ही होगी। हीरे अथवा स्वर्णकलश का स्वामी होकर भी उसके मूल्य को न पहिचानने पर मनुष्य दयनीय भिखारी ही रहता है। हम इस अज्ञान के कारण सुख के मन्दिर में दुःख की प्रतिमा प्रतिष्ठित कर लेते हैं, जीवन के प्याले में अमृत के स्थान पर विष भर लेते हैं। भीतर अमृतमय संयोग होने पर, आत्मानुभूति होने पर दुःख दुःखद नहीं रहते हैं। भीतर मस्ती की अवस्था जागने पर बहिर्जगत् के क्लेश और दुःख मनुष्य को विचलित नहीं कर सकते हैं। 'तरति शोकं आत्मवित्।' आत्मज्ञानी शोक-सागर को पार कर लेता है।

प्रभु के साक्षात्कार से ही समस्त अभाव की पूर्ति एवं पूर्णता की अनुभूति होगी। शरणागति साक्षात्कार का द्वार है। दुष्ट भी प्रभु के सम्मुख होने पर दिव्य हो जाता है।

जो पै दुष्ट हृदय सोई होई। मोरे सन्मुख आवा कि सोई॥

प्रभु की शरणागति का अर्थ होता है उसे सच्चा रक्षक, परम आश्रय, परमगति मानकर तथा अपना प्रिय मान कर उसका वरण करना तथा एकाकार होना। समस्त वेद-शास्त्रों का सारभूत गीता है और गीता का रहस्य भक्तिपूर्ण

शरणागति है। इन्द्र ने जैसे "मामेव विजानीहि" 'मुझे जानो' का वरदान दिया, श्रीकृष्ण ने "मामेकं शरणं व्रज", केवलमात्र ईश्वर की शरण में जाओ, कहा है। प्रभु का प्रण शरणागत की रक्षा करना है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

अर्थात् जो एक बार भी शरणागत होकर, प्रभु के साथ आत्मीयता का नाता जोड़कर, "मैं तेरा हूँ" ऐसे भाव से याचना कर लेता है, प्रभु अभय दान दे देते हैं, यह प्रभु का प्रण है। "मम पन सरनागत भयहारी"। कदाचित् रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड को सुन्दर कहने का एक कारण यह भी है कि इसमें शरणागतवत्सल राम ने शरणागत भक्त को हृदय से लगाकर शरणागति के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। राम कहते हैं—

कोटि विप्र वध लागहि जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताऊ॥
सन्मुख होहि जीव मोहि जबही। जनम कोटि अघ नासहिं तबही॥

ज्ञानी प्रभु का हाथ पकड़ता है तथा भक्त प्रभु को अपना हाथ पकड़ा देता है। ज्ञानी संशय में पड़कर हाथ छोड़ सकता है किन्तु भक्त आत्मसमर्पित होकर निश्चिन्त हो जाता है। प्रभु को मन, बुद्धि और आत्मा सौंप दें और तब प्रभु-प्रेरणा अथवा भगवत्-इच्छा के अनुरूप व्यवहार करने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, बल्कि एक उल्लास का अनुभव होता है। भक्त प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म करता है, पुरस्कार, सत्कार एवं सम्मान के लिये नहीं। निजी इच्छाओं एवं वासनाओं से बँधकर व्यवहार करने पर मनुष्य निराश एवं दुखी होता है, ईश्वर से संबद्ध होकर तथा ईश्वर का यंत्र अथवा दूत बन कर कर्म करने वाला व्यक्ति आनन्द प्राप्त करता है। भक्त अपनी इच्छाओं को प्रभु-इच्छा में विलीन कर देता है। अपनी इच्छाएँ तो भटका देती हैं; क्योंकि वे ज्ञानजन्य नहीं होती हैं। सन्तोष एवं प्रभु से अपनी इच्छाओं की पूर्ति की याचना करना अन्धकार में प्रवृत्त होना है। यदि इच्छा जागे तो उसको प्रभु के समक्ष निवेदित करके उससे मुक्त हो जाना चाहियें तथा प्रभु-इच्छा में ही अपने कल्याण का दर्शन करना चाहिये। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" का अर्थ है कर्म करने के उपरान्त फल को प्रभु-इच्छा पर छोड़ना। प्रभु की शरणागति ग्रहण करने पर मनुष्य विफलता एवं प्रतिकूलता को प्रभु का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लेता है तथा वह समझ लेता है कि उसका हित प्रभु के हाथ में सुरक्षित है। प्रभुकृपा से सुख अभिशप्त नहीं होता है तथा दुःख मधुर हो जाता है।

प्रभु ही त्वरा से तात्कालिक एवं आत्यन्तिक अभय तथा रक्षा प्रदान करने में समर्थ हैं। शरणागति का अर्थ दासता नहीं है बल्कि अंशका अंशी से सम्मिलन, सीकर का आनन्द-सिन्धु में अवगाहन है। जीव स्वयं आनन्दस्वरूप है, किन्तु विद्या से ही यह तत्त्व प्रकट होता है। उसमें भी प्रभु की भाँति, सत्ता, ज्ञान, आनन्द, स्वतन्त्रता तथा शासन-शक्ति हैं। तादात्म्य होने पर "जीवो ब्रह्मैव नापरः" अर्थात् जीव तो ब्रह्म ही है, आत्मा ही परमात्मा है, सिद्ध हो जाता है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" केवल ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। किन्तु अब कुछ चतुर लोग यह कहते हैं कि "ब्रह्म सत्यं जगदपि सत्यं सापेक्षिकम्" अर्थात् जगत् मिथ्या नहीं है बल्कि आपेक्षित सत्य है। वस्तुतः सत्य तो सत्य है, पूर्ण सत्य है। सत्य में श्रेणी नहीं होती है। "आपेक्षित सत्य" परस्पर-विरोधी है। सत्य में पूर्णत्व होता है। सत्य आपेक्षिक नहीं होता है। सत्य सनातन और अनश्वर होता है, तथा मिथ्या तत्त्व नश्वर होता है। अतः अनादि, अनन्त ब्रह्म सत् है, सत्य है, जगत् असत् है, मिथ्या है। केवल ईश्वर तत्त्व ही सत् है, सत्य है, सदा रहने वाला है। जगत् परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है अर्थात् असत् है। जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म ही है।

प्रभु की अनन्य-भक्तिपूर्ण शरणागति जीव के लिये अद्भुत आनन्द का कारण होती है। रसिक भ्रमर की रसिकता ही चरम सीमा के आने पर मीन की (जल के प्रति) अनन्यता बन जाती है। भ्रमर रसिक होता है किन्तु अनन्यता मीन का ही गुण होता है। भ्रमर अनेक पुष्पों का रसास्वादन करता है किन्तु मीन केवल जल के प्रति आसक्त होती है। रसिकता का परिपाक अनन्यता में ही होता है तथा अनन्यता होने पर अद्भुत आनन्द का उदय हो जाता है। अनन्यभाव होने पर ही मन में मस्ती अथवा फक्कड़पन का आविर्भाव हो सकता है। संसार के अपमान भक्त के मन में नहीं चुभते और मान उसके मन को नहीं बौरा सकते। यदि मन पर बाह्य परिस्थितियों का कुप्रभाव पड़ता है तो अनन्यता और मस्ती मिथ्या हैं। अनन्यता गोपिकाओं की भक्ति की भी विशेषता थी। "असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।" गोपिकाएँ कहती हैं "श्रीकृष्ण असुन्दर हो अथवा सुन्दर, गुण रहित हों अथवा गुणसम्पन्न, हमें सुप्रिय हैं।" गोपिकाओं का तीव्र वियोगभाव ही मनोभूमि में तुरन्त संयोग का कारण (पूर्वानुभूति के अभाव में) प्रतिक्षण नवसुखानुभूति देता है तथा नितान्त अलौकिक, अगाध एवं अनुपम है। गोपिकाओं का विप्रलम्भ भी व्यवधान नहीं है, बल्कि साक्षात्कार का हेतु है। चक्षु-इन्द्रिय और द्रष्टव्य वस्तु के मध्य साधारण पदार्थ तो बाधक होता है किन्तु सूक्ष्मदर्शी कांच साधक होता है। सूक्ष्म विप्रलम्भ संयोग में साधक होता है।

प्रेम के राज्य में जीत की होड़ नहीं होती है, हार की होड़ होती है। भक्त को सर्वत्र प्रिय का दर्शन होता है और प्रिय से कोई शिकायत भी नहीं होती है। श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर उनके मार्ग को खोजती हुई गोपी एक सुविकसित पुष्प को देखकर कहती है—"सुन्दर पिय के परस बिना अस फूल न होई।" वेद में इसी को कहा है—"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।" सचमुच ही वासना-कामना से घिरे हृदय में शुद्ध निर्मल प्रेम तत्त्व जागृत नहीं होता है। "न मलिनचेतसि बीजप्ररोहः।" पवित्र हृदय ही प्रेम के सार को पहचानता है। वासनाग्रस्त व्यक्ति शुद्ध प्रेम तत्त्व को नहीं समझ पाता। वह सर्वत्र शंका की दृष्टि से ही देखता है तथा अपनी दोषदृष्टि का बाह्यप्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) करता है। प्रेम अलौकिक तत्त्व है, वासना भौतिक होती है। प्रेम निर्मल, पवित्र एवं पावन होता है, वासना पतनकारक होती है। प्रेम का संबंध आत्मा से होता है, वासना का केवल शरीर से। प्रेम यथार्थ होता है, वासना प्रवंचना होती है। शरीर के स्तर पर जो वासना है, वही परिष्कृत एवं उदात्त होकर प्रेम बन जाती है।

प्रभुभक्त कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता है। वह सत्कर्म और कुकर्म दोनों से ऊपर उठ जाता है। यदि कुकर्म का भान होना लोहे की बेड़ी है तो सत्कर्म का अभिमान सोने की जंजीर है। भक्त को सत्कर्म (परोपकार, सेवा आदि) का अहंकार नहीं होता। सत्कर्म करना उसके लिये स्वाभाविक होता है, अतः उसे इसका अहंकार नहीं होता है। वह प्रभु-प्रेरणा से स्वभावतः सत्कर्म ही करता है, किन्तु वह अपने को उसका निमित्त मात्र ही मानता है। कर्तृत्व—"मैं कर्ता हूँ" तो अहंकार है, एक बन्धन है। कर्म बन्धन नहीं है, कर्तृत्व बंधन है, आसक्ति बंधन है, अहंकार बंधन है। वह जानता है कि गुण ही गुणों में बर्तते हैं और आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है किन्तु अहंकारविमूढ़ व्यक्ति अपने को कर्त्ता मान लेता है। कर्त्ता तो प्रभु है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (गीता ३।२७)

वह अपने को निमित्त मात्र मानकर प्रत्येक कर्म प्रभुप्रीत्यर्थ करता है और सब कर्म प्रभु को अर्पण करता रहता है। उसका प्रत्येक कर्म प्रभु-पूजा होता है। प्रभु का स्मरण करते हुए अनासक्त भाव से कर्म करने से वह "कर्ता" नहीं होता है। "मामनुस्मर युध्य च" (प्रभु का स्मरण करते हुए युद्ध अर्थात् कर्म करो) यह गीता का आदर्श वाक्य है। स्मरण प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न, चेतन अथवा अचेतन मन में, अजस्र रूप से प्रवाहित हो सकता है। नाम-जप स्मरण का एक अंग है, साधन है। जिस प्रकार गोपिकाएं चलते हुए और

परस्पर वार्त्ता करते हुए सिर पर रक्खे हुए घड़ों का स्मरण रखती हैं ग्रथवा कच्छप जल में घूमते हुए भी जलतट पर रक्खे हुए ग्रपने ग्रण्डों का स्मरण रखता है, उसी प्रकार समस्त कार्य-कलाप करते हुए भी निरन्तर प्रभु-स्मरण रखना संभव है। मन-मन्दिर में राम को बसाने पर रस बरसता ही रहता है ग्रौर जीव को सुख के लिये तरसना नहीं पड़ता है। जो मानसिक ग्रवस्था ध्यान ग्रादि के चिर ग्रभ्यास से प्राप्त होती है, वह भक्त को सहज ही प्राप्त हो जाती है। ग्रनासक्त भगवद्भक्त का, जो प्रभु को प्रिय है, लक्षण यह है--

> ग्रद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मर्य्यपितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ (गीता १२।१३, १४)

ग्रर्थात् श्रेष्ठ पुरुष सब प्राणियों के प्रति द्वेष-भाव से रहित रहता है तथा सबका निःस्वार्थ प्रेमी ग्रौर हेतुरहित दयालु होता है। ममता (मोह) से रहित, ग्रहंकार से भी रहित, वह सांसारिक दुःख-सुख की प्राप्ति में समभाव से रहता है ग्रौर क्षमाशील होता है। 'तुलसी ममता राम सों समता सब संसार। राग द्वेष न दोष दुख दास भये सब पार ॥' जो ध्यान योग में "युक्त" (प्रभु के साथ जुड़ा हुग्रा) है, निरन्तर (लाभ-हानि में समान) सन्तुष्ट है तथा मन ग्रौर इन्द्रियों के सहित शरीर को वश में रखता है ग्रौर दृढ़ निश्चय वाला है, वह प्रभु में ग्रर्पित मन-बुद्धि वाला प्रभु-भक्त प्रभु को परम प्रिय है। प्रभु के साथ जुड़कर (युक्त होकर) ही जीव में जीवन, चमक ग्रौर शांति का प्रादुर्भाव होता है, जैसे मिट्टी के कण में सूर्य के साथ जुड़कर चमक ग्रा जाती है तथा दूर हटते ही वह फिर निर्जीव कण रह जाता है।

यों तो हम सभी विश्वनियन्ता के यन्त्र हैं किन्तु हम यह भी विश्वास कर लें कि सब कुछ प्रभु ही करते हैं। विश्व-चेतना के साथ जुड़कर तथा सहयोग-शील यन्त्र बनकर सहर्ष ग्राचरण करने पर हमें ग्रवश्य ही सुख का ग्रनुभव होगा तथा इसके विपरीत यदि हम ग्रसहयोगशील यन्त्र बनकर निस्सहाय भाव से ग्राचरण करेंगे तो दुःख ही प्राप्त होगा। विधि के विधान के साथ ग्रात्मसात् होकर, दैवी प्रवाह के ग्रनुरूप चलकर जीना मानो सुख की राह पर चलना है। कदाचित् यही भाव गीता के इस प्रसिद्ध वाक्य में सन्निहित है, "कर्मण्येवाधि-कारस्ते मा फलेषु कदाचन।" मनुष्य का ग्रधिकार कर्म करने में है, फल में कदापि नहीं है। फल सदैव ईश्वराधीन होता है। फल में ग्रासक्ति होने से मनुष्य सन्तुलित एवं दत्तचित्त होकर कर्म करने में जुट नहीं सकता है तथा

अनुकूल अथवा प्रतिकूल फल प्राप्त होने पर सुख उसे बौरा सकता है और दुःख उसे बौखला सकता है। कर्म करने तक ही अपने अधिकार को सीमित रखकर मनुष्य सन्तुलित एवं सम रह सकता है। स्थितप्रज्ञता एवं समता के अभ्यास का प्रारंभ कर्म-सम्पादन में निस्पृह रह कर होता है। निस्पृह (फलासक्ति रहित) कर्म-सम्पादन स्थितप्रज्ञता एवं समता का प्रथम पाठ है। 'ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२।१२) अर्थात् ध्यान से बढ़कर कर्मफल त्याग है क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति होती है। त्यागात् शान्तिः। त्याग से शान्ति प्राप्त होती है। त्याग सुख का सोपान है। दूसरों के सुख के लिये अपनी सुख-सुविधा का त्याग करने पर गहरा और सच्चा सुख मिल जाता है, आसक्ति-त्याग से शान्ति प्राप्त होती है। स्वकर्म (अपना कर्त्तव्य) करना भी प्रभु की पूजा है जिससे मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है (गीता ६।१८)। परिस्थितियां मानो विधि-विधान का अंग हैं। घटना-प्रवाह भी मानो दैवी योजना के कारण होता है। हमारा कर्त्तव्य है प्रदत्त परिस्थितियों में अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप तथा अन्तर्प्रेरणा के अनुसार कर्म करते ही रहें तथा फल को प्रभु का प्रसाद मानकर सन्तोषपूर्वक स्वीकार कर लें। 'यद् भगवता विधीयते तन्मंगलाय।' अर्थात् प्रभु जो कुछ करते हैं वह हमारे मंगल के लिये होता है। विधि का विधान मंगलमय है। जो कुछ हो रहा है, वह अन्ततोगत्वा मंगल के लिये ही है। संघर्ष करना हमारा मानवीय कर्त्तव्य है किंतु फल के संबंध में दुःख-सुख से ऊपर उठकर समभाव में रहना हमारा आध्यात्मिक कर्त्तव्य है। कुछ दैवी महापुरुष विश्व एवं विश्वात्मा के साथ एकाकार होकर प्रबल कर्म के द्वारा घटना-चक्र को भी बदल देने में समर्थ होते हैं।

मनुष्य अन्तरात्मा की ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुने तथा उस पर दृढ़ता से आचरण करे किन्तु जो भी फल मिले, उसे प्रभु का प्रसाद, हरि-इच्छा, मानकर सहर्ष स्वीकार कर ले। हम सभी पृथक्-पृथक् मिशन लेकर आये हैं तथा हमें अपने नियत क्षेत्र में उसका निर्वाह करना चाहिये। जिसे काम (अपना मिशन, अपना कर्त्तव्य पथ, अपना जीवन-उद्देश्य) मिल गया उसे राम मिल गया क्योंकि काम में राम समाया हुआ है। काम (कर्त्तव्यपालन) के माध्यम से राम (परम आनन्द) की प्राप्ति संभव है। अपने-अपने क्षेत्र में अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करना मानो ईश्वर का काम पूरा करके कृतार्थ होना है। यही "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" का अर्थ है।

यदि गम्भीरता से विचार करें तो भौतिक सुख और दुःख दोनों ही मन की कल्पना हैं। एक स्त्री को केश बढ़ाना अच्छा लगता है दूसरी को केश कटाना,

एक मनुष्य को एक काम करने में दुःख होता है, दूसरे को सुख। बिवेक द्वारा अपने काल्पनिक सुख और दुःख से ऊपर उठकर समभाव में स्थित होकर, भीतर कहीं गहरे आनन्द स्तर को निरन्तर छूते हुए, सदा प्रफुल्ल एवं प्रसन्नचित्त रहना एक कला है।

मन को सुखी बनाने के लिये कोई जड़ी-बूटी नहीं है। विवेक मनुष्य को दुःख से बचा सकता है। विवेक द्वारा हम सुख में उन्माद और दुःख में क्लेश से बच कर, सुख-दुःख से ऊपर उठ कर, समभाव में स्थित होकर, निरन्तर शान्त एवं सुखी रह सकते हैं। "शान्तिं निर्वाणपरमां" (गीता ६।१५)। शान्ति की पराकाष्ठा परमानन्द है जो स्वाधीन मन होने से तथा प्रभु के साथ भक्तिपूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा जुड़ने से प्राप्त होता है।

हमें यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिये कि सुख का संबंध मन से है। सच तो यह है कि सुख मन की एक अवस्था है जो बाहर की दुनिया के परिवर्तनों से अप्रभावित, बाह्य दुःख-सुख से अप्रभावित तथा अपने में मस्त होने से प्राप्त होती है। सुख में स्वाधीनता होती है, परवशता नहीं होती है। सुख स्वावलम्बी होता है, परावलम्बी नहीं होता है। हम अपने सुख के लिये बाह्य वस्तुओं अथवा व्यक्तियों पर निर्भर क्यों रहें? वस्तु और व्यक्ति तो परिवर्तनशील हैं। मन को उन पर आधारित करने से मन सदैव भटकता रहेगा, अस्थिर रहेगा, परेशान रहेगा। सुख भीतर मन में उपजता है, बाहर से नहीं आता है। कुछ लोग पारिवारिक सम्पन्नता और भोगैश्वर्य सामग्री के मध्य में रहकर भी दुःख मानते रहते हैं तथा कुछ अन्य संकटमय परिस्थितियों में भी हँसते, मुस्कराते रहते हैं, मस्त रहते हैं। धीरे-धीरे दुःखी और सुखी रहने की, झींकते रहने की या हँसते रहने की, आदत पड़ जाती है। तितली गुलाब पर बैठ कर उतनी ही मस्त रहती है जितनी किसी पत्थर की चट्टान पर बैठ कर। दुःख और सुख छूत की बीमारी की तरह समाज में फैलते भी हैं। कुछ लोग दुःख को फैलाते फिरते हैं और कुछ सुख को। जिसने जीवन में सुखी रहना सीख लिया, उसने जीवन का रहस्य समझ लिया। सद्विचारपूर्वक सत्कर्म करने वाला व्यक्ति सुख प्राप्त कर लेता है। सन्तजन अहंकार छोड़कर, निस्स्वार्थ भाव से सेवाधर्म को अपनाकर, प्रभु के सहारे रह कर, स्वयं सुखी रहते हैं तथा दूसरों को भी सुख देते हैं। सुखमय जीवन को ही जीवन कहते हैं। जीवन और सुख पर्यायवाची हैं। यदि सुख नहीं है तो जीवन एक अभिशाप है, बोझ है। सुख प्राप्त करना सरल एवं संभव है; किन्तु हम सुखमय होने का प्रयत्न भी तो करें, सुख की राह पर भी तो चलें। परिवर्तनशील जगत् की क्षणभंगुर वस्तुओं एवं नश्वर व्यक्तियों पर अपने सुख और दुःख के लिये आधारित रहने से मनुष्य सदैव विचलित एवं

अस्थिर ही रहेगा। अतएव परिस्थितियों एवं सुख-दुःख से ऊपर उठकर आन्तरिक प्रसन्नता को सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बनाये रखना न केवल उचित ही है बल्कि परम आवश्यक भी है। दुःख और सुख के पाटों के मध्य में पेषण से बचने के लिये ईश्वररूपी कीली से संलग्न रहना अथवा भौतिक स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तर पर जीना निरन्तर सुखी रहने का श्रेष्ठ सूत्र है। यही जीवन में सुख पाने का उपाय है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत—उपनिषद्

अर्थात् उठो, जागो, श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उनके द्वारा परमात्मा को जानो।

सूरिरसि वर्चोधाऽसि, तनूपानोऽसि आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥

अथर्व २-११-४

अर्थात् तू तो विद्वान् है, वर्चस्वी है, शरीररक्षक है। अपने को पहिचान। श्रेष्ठ-जन तक पहुँच और बराबर वालों से आगे बढ़ जा।

१६

अनूठा बदला

रात अँधेरी थी। अरब की मरुभूमि में चतुर्दिक् व्याप्त तमस् अत्यन्त भयावह प्रतीत हो रहा था। इस निस्तब्ध वातावरण में सहसा किसी अनजाने व्यक्ति ने यूसुफ के द्वार को खटखटाया। द्वार खुला। शान्त मुद्रा में खड़े यूसुफ से इस आगन्तुक ने कहा,--"यह व्यक्ति जो आपके द्वार पर अर्द्धनिशा के घोर अन्धकार में आया है, समाज से निष्कासित एक पापी है और सभी ने गर्हित मानकर इसका परित्याग कर दिया है। यह भीतित्रस्त है और प्रकम्पित है। राजकर्मचारी इसे पकड़कर दण्डित करने के लिये इसके पीछे लगे हुए हैं जिनसे प्राण बचाने के हेतु यह भागा-भागा घूम रहा है, किन्तु कहीं भी सिर छिपाने का स्थान न पाकर अब आपके द्वार पर आया है। हे यूसुफ, आप अपनी सहज दयालुता के लिये सुविख्यात हैं। सभी आपको एक श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं। यह मैं अब आपकी शरण ग्रहण करता हूँ और आपसे भोजन एवं विश्राम पाने की याचना करता हूँ। मैं आर्त्त हूँ और मुझे कुछ भी सूझता नहीं है। मेरी चिन्तन-शक्ति भी क्षीण हो चुकी है। क्या मुझे इस द्वार पर शरण मिलेगी?"

तुरन्त ही स्वागत के लिये भुजा उठाकर यूसुफ ने कहा--"भद्र पुरुष, यह घर मेरा नहीं है, उस प्रभु का है जो सबका ही समान रूप से पिता है, पोषक है। अतः इसमें तुम्हारा भी समान अधिकार है। यह समस्त संसार एक बड़ी धर्मशाला है जहाँ यात्री कुछ समय तक ठहर कर चले जाते हैं। प्रत्येक सदन भी एक छोटी धर्मशाला ही होता है जहाँ से सभी कौटुम्बिक जन कुछ अवधि के पश्चात् विदा लेते रहते हैं। सच पूछो तो यह शरीर भी एक धर्मशाला ही है जहाँ कुछ समय तक आत्मा एक यात्री के सदृश ठहरती है और एक दिन उसे छोड़कर अकस्मात् कहीं चली जाती है। तो फिर जब मैं इस देह का भी स्वामी नहीं हूँ, इस आवास स्थान का एकाधिपति कैसे हूँ? तुम्हारे लिये इसके

द्वार खुले हैं। शान्त हो जाओ। यहाँ भोजन आदि सामग्री का स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग करो क्योंकि इसका सच्चा स्वामी परमात्मा है जिसके द्वार पर कभी किसी को भी "नहीं" सुनने को नहीं मिलता। तुम अपने को बुरा और मुझे भला क्यों कहते हो ? हम सभी समान रूप से अपनी-अपनी दुर्बलताओं से जकड़कर बँधे हुए पड़े हैं, केवल मात्रा का ही अन्तर हो सकता है।

शरणार्थी ने यूसुफ के खेमे में प्रवेश किया जहाँ उसने शान्ति से रात बिताई और विश्राम किया। रात्रि में इस नवागन्तुक ने आत्म-परिचय न दिया और अतिथि रूप में समुचित सेवा-सत्कार उसे उपलब्ध हुआ। यूसुफ ने स्वयं उसकी परिचर्या की। मनोभाव की सम्पन्नता का परिमाप सहृदयता एवं संवेदनशीलता होती है और सन्तहृदय उससे परिपूर्ण होता है।

सूर्योदय से पूर्व ही जब कुछ नक्षत्र अभी चन्द्रदेव की सभा विसर्जन होने के उपरान्त भी आकाश में विद्यमान थे, यूसुफ ने अपने अतिथि को धीरे से जगाकर उससे कहा—महाभाग, सूर्योदय की वेला समीप ही है। आपकी सुविधा के हेतु मैं कुछ धन आपकी सेवा में अर्पित कर रहा हूँ। इसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये और मेरे द्रुतगामी अश्व पर आरूढ़ होकर अन्यत्र चले जाइये जिससे दिन का प्रकाश आपको आपके विरोधीगण के सम्मुख प्रकट न कर सके। आपके हित की दृष्टि से ही मैंने यह सम्मति दी है। आप इसे अन्यथा न समझें। सेवा में जो त्रुटियां हुई हैं तथा आपको जो असुविधा हुई है आप उसके लिये मुझे उदारता से क्षमा करें। मैं और मेरी सम्पदा मानवमात्र की सेवा के लिए हैं।

यूसुफ के हृदय की पवित्रता, उसके मुखमण्डल पर स्वच्छ चन्द्रिका की भाँति छाई हुई थी। उसके मौन में समुद्र की गहनता अन्तर्निहित थी। उसके नेत्रों में भी मनोरम आकर्षण था। उस की स्निग्ध, जीवनदायिनी दृष्टि सरलता से पापकालुष्य को धो सकती थी तथा मानो मृतक देह में भी प्राण-संचार कर सकती थी। उसके दिव्य व्यवहार ने आगन्तुक के हृदय में भी सात्त्विकता का उजाला उत्पन्न कर दिया। इस अनोखे अतिथि के हृदय-प्रांगण में अंधकार आच्छन्न था, वहाँ पाप की कालिमा थी, भय का उद्रेक था और ग्लानि का तमस् था। किन्तु यूसुफ की शान्त, पुण्यपूत, सत्यरंजित आकृति से निस्सृत होकर बिखरने वाले सूक्ष्म, भावनामय किरणपुंज ने इस व्यक्ति के हृदय में उल्लास की धवलता को विकीर्ण कर दिया। भय के स्थान पर साहस और ग्लानि के स्थान पर ओज प्रकट हो गये थे। उसका मुख नव-विकसित कमल की भाँति खिल उठा और उसके शरीर में मानो सात्त्विकता की मन्दाकिनी

प्रवाहित हो रही थी। उसके हृदय की सुमधुर पवित्रता उसके विस्फारित नेत्रों से झाँकने लगी।

नीचे झुककर, पृथ्वी पर जानु टेककर, उसने यूसुफ के अभयप्रदाता दक्षिणकर पर अपना मस्तक रख दिया। इस आगन्तुक के मुख पर एक अद्भुत स्मेरता थिरक रही थी मानो कसौटी पर स्वर्णरेखा चमक रही हो और उसने सिसककर कहा--शेख, मैं आपको अब इस दशा में भला कैसे छोड़कर जाऊं? मैं कैसे कृतघ्न हो जाऊं? आपने मुझे त्राण दिया, प्रकाश दिया, शान्ति दी, सुरक्षा दी और केवल इतना ही नहीं आपने मुझ भटकते हुए को राह दिखाई, आत्म-प्रकाश से मेरे मन में जीवन-ज्योति जला दी। मैं जीवन को भार समझ रहा था और अपने आपसे भयभीत था। किन्तु अब मैं आपके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन करना चाहता हूँ, आज्ञा दीजिये।

यूसुफ को इस सबका अर्थ स्पष्ट न हुआ और उसने ठिठककर कहा--प्रियवर, मैंने तो साधारण मानवीय कर्त्तव्य का पालन किया है। सबकी उदरपूर्ति ईश्वर करता है जो हम सभी का पोषक है। यदि कोई व्यक्ति मेरे घर पर ईश्वर-प्रदत्त भोजन को ग्रहण करता है तो वह मेरे घर को पवित्र करता है, और मुझे सौभाग्य एवं यश प्रदान करता है। मैं ही आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे सेवा का अवसर दिया।

इस अज्ञात, अपरिचित व्यक्ति ने यूसुफ से फिर कहा--मैं कैसे यह बताऊं कि यह उपकार आपने उस कुकर्मी, पातकी इब्राहीम के लिए किया है जिसने आपके ज्येष्ठ पुत्र की जघन्य हत्या की थी। हमारी जाति में यह मान्यता है कि हत्यारे का वध करने पर ही मृतक की आत्मा को शान्ति मिलती है। अतएव मेरा सिर आपकी सेवा में अर्पित है। आप खड्ग उठाकर मेरा वध कर दें जिससे कि आपके पुत्र की आत्मा को चिरशान्ति और मुझे उचित दण्ड प्राप्त हो सके।

यह कहकर इब्राहीम प्रस्तर प्रतिमा की भाँति मौन हो गया, किन्तु उसके मौन ने यूसुफ को मुखरित कर दिया। उसके मन में सहसा एक तूफान उठ खड़ा हुआ था जिसे वह शान्त कर देना चाहता था। पुत्र के स्मरणमात्र से उसके शरीर में सहसा भावावेश का भूकम्प आ गया था। एक ओर तो पिता के रूप में उसके हृदय में अपने पुत्र के हत्यारे का वध करने की पाशविक इच्छा जाग रही थी और दूसरी ओर शरणागत की रक्षा करना उसका महान् कर्त्तव्य था। आज परीक्षा की घड़ी थी यूसुफ के चारित्र्य की। उसके मानस में इस संघर्ष ने एक क्षण ही उथल-पुथल की होगी कि दिव्यभाव से संप्रेरित होकर वह शीघ्रता से बोल उठा--तब तो आप और भी अधिक त्वरित गति से विदा लें

और इधर कभी न लौटें, कहीं ऐसा न हो कि मेरे मन में प्रतिशोध की दानवी भावना उग्र हो जाये और मैं कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो जाऊं। मेरे नेत्रों से आपके ओझल हो जाने के साथ ही मेरे हृदय की कलुष भावना भी मानो विलुप्त हो जायेगी। शीघ्रता कीजिये और अब यह तिगुना धन ले जाइये। यह द्वार तुम्हारे लिये सदैव खुला रहेगा।

दिव्य यूसुफ के हृदय में करुणा भरी हुई थी। विषधर भुजंग तो क्षमा करना नहीं जानता है और वह सतत विषवमन ही करता है किन्तु निरभिमान महापुरुष का हृदय तो क्षमा और प्रेम का अथाह समुद्र होता है। उसने प्रेम-पुलकित होकर इब्राहीम को तुरन्त क्षमा कर दिया। नेत्र मूंदकर और दुआ में दोनों भुजा ऊपर उठाकर उसने कहा—हे मेरे दिवंगत ज्येष्ठ पुत्र, मैं तेरे लिये दिन-रात तड़पा करता हूँ। आज मैंने तेरा बदला ले लिया है। तेरे हत्यारे की नृशंस भावना पश्चात्ताप की अग्नि से विनष्ट हो चुकी है और आज उसका स्वरूप पवित्र है। तेरी हत्या का दैवी प्रतिशोध आज सम्पन्न हो चुका है। अब तू शान्ति की चिर-निद्रा में सो जा।

सन्तों की सहिष्णुता, करुणा और क्षमा सभी सीमाओं को पार कर देते हैं। सन्त की क्षमा पापी के मन को भी निर्मल कर देती है। पारस में अरु सन्त में बहुत अन्तरो जान, वह लोहा कंचन करै यह करै आपु समान। क्षमा मानव के हृदय की विशालता एवं चारित्रिक उत्कर्ष का परिचय देती है तथा जन-मन को पावन कर देती है। क्षमा मानव स्वभाव का अमृत तथा सन्त का सात्त्विक आयुध होती है। क्षमा सर्वोत्तम प्रतिशोध होता है। सन्त सन्तापहरण करते हैं। सन्ताप देना पाप है, सन्तापहरण पुण्य है। "तुलसी सन्त सुअम्ब तरु, फूल फलहिं पर हेत। जितते ये पाहन हनत उतते वे फल देत।" "संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह परि कहै न जाना। निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुःख द्रवहि संत सुपुनीता।" संत मरहम होते हैं जो जख्म नहीं करते हैं, जख्म को ठीक कर देते हैं। 'सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।' थोड़े से सन्त ही अपने तप, त्याग और बलिदान से पृथ्वी को धारण करते हैं। सन्त पृथ्वी पर प्रभु के श्रेष्ठ प्रतिनिधि होते हैं, मानवता के शृंगार होते हैं। संत चन्दन की भांति होते है जो घिसने पर सुगंध एवं शीतलता देता है तथा मस्तक की शोभा बन जाता है। धन्य है सन्तों की क्षमाशीलता।

* * *

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः। सन्तोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेश्वर पूजनम्॥ बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार भी संभव हो शरीरधारी

को सुख देना चाहिये। यही सच्चा ईश्वर-पूजन है। शेख सादी कहते हैं--'दिल बदस्त आवर कि हज्जे अकबर अस्त। अज़ हज़ारां काबा यक दिल बेहतर अस्त॥' अर्थात् किसी के दिल को तसल्ली देना बड़ा हज (तीर्थयात्रा) है। इंसान का दिल हज़ारों काबों (पवित्र तीर्थों) से भी बढ़कर है। इंसान का दिल भगवान का मन्दिर है।

१७

व्यक्तित्व का विकास

(भारतीय चिन्तन के आधार पर)

आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक के आधार पर मानव सभ्यता ने विविध दिशाओं में अद्भुत उन्नति की है और मानव को उस पर गर्व होना स्वाभाविक है। विज्ञान और तकनीक ने जीवन में कल्पनातीत सुख-सुविधा ला दी है किन्तु प्रतिद्वन्द्वितामय संघर्ष, मानसिक तनाव, विषैला वातावरण इत्यादि समस्याएँ भी खड़ी कर दी हैं और शांति को मानो छीन ही लिया है। मानव अपनी ही सभ्यता के बोझ से कुचला जा रहा है और भौतिक उन्नति के प्रतिफल उसके लिए सरदर्द बन गये हैं।

कैसी विडम्बना है कि सुख और सुविधा की सामग्रियों के प्रसार होने के साथ विषमता, चिन्ताएँ और अशान्ति बढ़ती जा रही है, साहित्यिक एवं शैक्षिक प्रसार के साथ घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, भ्रष्टता और भय का वातावरण फैलता जा रहा है, विश्व स्तर पर सेवा-संस्थाएँ बनने के साथ पारस्परिक सद्भाव एवं प्रेम लुप्त होता जा रहा है, पौष्टिक आहार के सेवन के साथ दुर्बलता, थकावट और स्वास्थ्य भंग होता जा रहा है। उत्कृष्ट औषधियों के उपलब्ध होने पर भी रोग विमुक्ति नहीं हो रही है, ज्ञान-विस्फोट होने के साथ ही व्यक्तिगत एवं समाजगत झगड़े तथा सुरक्षा का अभाव बढ़ते जा रहे हैं। स्थायी रूप से शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार हो, जीवन में अभय का समावेश कैसे हो, पारस्परिक प्रेमभाव का उदय कैसे हो, शक्ति एवं सबलता कैसे उपलब्ध हों, नीरोगता एवं स्वास्थ्य कैसे उपलब्ध हों, व्यक्ति एवं समाज के जीवन में सुरक्षा के भाव का उदय कैसे हो—यह एक समस्या हो गई है। आधुनिक सभ्यता ने मानो सुख की सामग्री देकर सुख छीन लिया है अथवा यों कहिए मानव की भौतिक उन्नति के साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक

उन्नति न होने के कारण वैभव-प्राचुर्य होते हुए भी अशान्ति व्यापक हो गई है। सभ्यता एक समस्या हो गई है। मंदाग्नि के कारण कुछ पच नहीं रहा है तथा प्रकृति वमन के लिए विवश कर रही है। प्रकृति का न्याय सर्वोपरि है। मानव प्रकृति से दूर हटता जा रहा है और उसके जीवन में सरलता समाप्त होती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी परम्परागत प्रकृति-प्रेम, सन्तोष, सरलता, आतिथ्य, आत्मविश्वास, प्रेम और मधुरता मानो विलुप्त होते जा रहे हैं। पाश्चात्य नगरों के सभ्य समाज में पनपते हुए हिप्पीवाद, अत्यधिक फैशन, खुफिया एजेन्टों की तोड़-फोड़, जासूसी, छल, हिंसा, उच्छृंखलता, असंयम, स्वैराचारिता, अतिशय यौन, अपराध वृद्धि, वैज्ञानिक ज्ञान एवं तकनीकी यंत्रीकरण पर निर्भरता तथा अनेक प्रकार के असन्तुलन ने मनुष्य के पुंस्त्व को क्षीण कर दिया है। क्या मानव इतिहासोत्तर मानव (विश्व मानव) के निर्माण की ओर बढ़ रहा है? जीवन में कृत्रिमता, आडम्बर, काल्पनिक अभाव, विलासिता एवं रतिलीलाओं की लालसा, परिग्रह एवं सत्ता की होड़ मनुष्य को दयनीय बना रहे हैं। चिन्ता और भय ने तनाव उत्पन्न करके जीवन को एक कठिन समस्या बना दिया है। कृत्रिम तडित, प्रभंजन आदि के द्वारा ध्वंस योजनाएँ बनाई जा रही हैं तथा ऐसे भी प्रयोग हो रहे हैं कि अदृश्य विद्युत् तरंगों के द्वारा शत्रु-देशों के मानवों की बुद्धि को ही बाधित कर दिया जाये। सौरमण्डल की वाटिका पृथ्वी पर नरक के बीभत्स दृश्य लाने के कुत्सित प्रयास करने वाले आधुनिक मनुष्य को कैसे सभ्य कहें? आधुनिक सभ्यता ने मनुष्य को ज्ञानवान् पशु बना दिया है। लक्ष्यरहित ज्ञान विनाशक सिद्ध हो रहा है। आधुनिक ज्ञान के प्रभाव में मनुष्य ने विवेक खो दिया है। अशुभ उद्देश्य होने पर ज्ञान घातक पाप बन जाता है। शिक्षा का प्रसार होने पर भी आधुनिक सभ्यता के प्रभाव के कारण व्यक्तित्व का निर्बाध विकास नहीं हो रहा है और मनोग्रंथियां व्यक्ति एवं समाज के जीवन को बोझिल बना रही हैं। आज मनुष्य के भीतर एक सड़ा हुआ मुर्दा है यद्यपि वह बाहर से साफ और चमकदार वस्त्र धारण किए हुए नेकी और खुशी का नकाब पहिने हुए है। पश्चिमी देश जिन बातों पर पछता रहे हैं, भारत के लोग अनुकृति के द्वारा उन्हें अपना रहे हैं। यह एक दुर्भाग्य का विषय है।

इस युग में ही जब कुछ तथाकथित चतुर लोग कह रहे हैं कि विज्ञान ने धर्म को निरस्त कर दिया है, विनाश के कगार पर खड़ी हुई मानवता को आत्मरक्षा के लिए तथा सुख-शान्ति के लिए अध्यात्म की अत्यधिक आवश्यकता हो गई है। मानव को अध्यात्म-औषधि की कभी इतनी आवश्यकता नहीं हुई जितनी इस युग में है यद्यपि यह विज्ञान और तर्क का युग है। मनुष्य को केवल बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी भी होना चाहिए।

भारतीय चिन्तन के आधार पर ग्रंथिरहित व्यक्तित्व का विकास होना न केवल संभव है अपितु सरल एवं सहज है। भारतीय विचारधारा एवं स्वस्थ भारतीय परम्पराओं का प्रसार होना नितान्त आवश्यक है। आज भारत में बेकारी, बेरोजगारी, गरीबी, आर्थिक विषमता इत्यादि जन-जीवन को कटु बना रहे हैं किन्तु शाश्वत मूल्यों की उपेक्षा, अनुशासनहीनता, फैशनपरस्ती, भोगलोलुपता, उच्छृंखलता तो अभिशाप बनकर सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर रहे हैं। परिवर्तन एवं प्रगति के नाम पर अस्वस्थ जीवन पद्धतियाँ अपनाई जा रही हैं। आधुनिक सभ्यता भौतिकता पर आधारित होने के कारण स्वार्थमूलक तथा प्रतिस्पर्धापरक अतएव विध्वंसात्मक है और इसके प्रभाव से जड़वाद तथा भोगवाद फैल रहे हैं।

अध्यात्म-मार्ग पर चलने से ग्रन्थिरहित विकास होना तथा मनोग्रन्थियों का पूर्ण निर्मूलन अथवा ग्रन्थि-छेदन होना अवश्य ही सम्भव है। जड़ता के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध होने पर मानव की मनोग्रन्थियां भी दृढ़ हो जाती हैं। यदि मन में संसार बसा हुआ है तो ग्रन्थियां ही बसी हुई हैं। हम संसार में रहकर और सारे लोकव्यवहार को करते हुए भी संसार में न फँस सकें, यही ग्रन्थियों से मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय है। भारतीय विचारधारा हमें संसार में जल-स्थित कमल की भांति निर्लेप रहना सिखाती है। कोयला तथा हीरा एक ही जाति के होते हैं किन्तु कालान्तर में उपयुक्त विकास होने पर कोयला ही हीरा बन जाता है। कोयला जला दिया जाता है और हीरा देदीप्यमान होने के कारण राज-मुकुट में धारण किया जाता है। आध्यात्मिक विकास होने पर मनुष्य हीरे की भाँति प्रकाशपुंज हो जाता है।

संसार कर्मभूमि है। हम सब अपना कर्त्तव्य कर्म करें किन्तु संसार की क्षणभंगुरता, भौतिक भोगों की निस्सारता तथा मोह का खोखलापन समझ कर संसार में कदापि न फँसे। संसार में भोग-सामग्री एक सड़े नारियल की भांति है जिसकी आभ्यन्तर सड़न न जानने के कारण मंगल पर्व पर भी उसे पूजा में अर्पित कर दिया जाता है। सांसारिक भोगों में आकर्षण है किन्तु सुख देने की क्षमता नहीं है। सुख तो मनुष्य को अन्ततोगत्वा कर्त्तव्यमार्ग पर चल कर, आदर्शों की पूर्ति के द्वारा अपने भीतर ही मिलता है। भोगवृत्ति से निवृत्ति (भोगसामग्री से उपरत होना) भोगों में फँसे रहकर नहीं बल्कि विवेक द्वारा भोगों में से गुजर जाने से होती है। यह कोई पलायन नहीं है बल्कि स्वस्थ वैराग्यभाव है जिसके बिना हम समुचित प्रकार से कर्त्तव्य पालन भी नहीं कर सकते हैं। संसार का भौतिक आकर्षण कम होने पर ही ग्रंथियां निर्मूल हो सकती हैं।

संसार के भौतिक नाते शिथिल होने पर ही जड़ता से मुक्ति मिलती है तथा मनुष्य स्वस्थ चिन्तन कर सकता है। भौतिकता का दास होकर मनुष्य ग्रंथियों से जकड़ा ही रहेगा। यौन भाव मनुष्य के पशुस्तर की मौलिक एवं प्रमुख सहज प्रवृत्ति है किन्तु उसकी पूर्ण तृप्ति भी केवल पशुस्तर पर रहने से नहीं होती है। प्रेमभाव के बिना यौनभाव विष है। प्रेमभाव तथा सौन्दर्यभावना की तृप्ति से ही यौनभाव की स्वस्थ तृप्ति होती है। अमर्यादित अथवा संयमरहित यौन-भाव मनुष्य की पशुवृत्ति-प्रधानता एवं संस्कारहीनता को सिद्ध करता है। स्नेह-रहित यौनभाव व्यभिचार है। यौनभाव का उदात्तीकरण प्रेम एवं सौन्दर्य-भावना के विकास से संभव है। प्रेम एवं सौन्दर्य भावना का विकास धीरे-धीरे मन को स्वस्थ एवं निर्मल, तृप्त एवं सन्तुष्ट कर देता है तथा पाशविक भोग-वृत्ति स्वयं विलुप्त हो जाती है। प्रेम विकसित एवं व्यापक होने पर सेवा, परोपकार, क्षमा, त्याग और आत्मबलिदान का रूप धारण करके मनुष्य को महान् बना देता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य पशुस्तर से बौद्धिक स्तर तथा आध्यात्मिक स्तर की ओर बढ़ता अथवा उठता जाता है, त्यों-त्यों मनुष्य का व्यक्तित्व निखरता जाता है और व्यक्ति स्वयमेव ग्रंथिरहित एवं उन्मुक्त होता जाता है। विश्वात्मा एवं विश्व के साथ आत्मसात् होना जीवन की चरम सार्थकता है। उन्मुक्त व्यक्ति उन्मुक्त चिन्तन एवं उन्मुक्त व्यवहार कर सकता है। विद्वान् व्यक्ति तो अनेक हैं किन्तु उन्मुक्त व्यक्ति बहुत कम होते हैं। परमात्मा के साथ आध्यात्मिक संबंध जुड़ने पर अथवा आत्म-साक्षात्कार होने पर मनुष्य पूर्ण निर्ग्रन्थ हो सकता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

कारण और कार्य स्वरूप परमात्मा के साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रंथियों का भेदन हो जाता है, समस्त संदेहों का निराकरण हो जाता है तथा समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। ग्रन्थिछेदन का श्रेष्ठ उपाय अध्यात्म की राह पर चलकर प्रभु के साथ एक प्रगाढ़ व्यक्तिगत नाता जोड़ना है, प्रभु के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। प्रभु के साथ नाता होने पर मन की जड़ता नष्ट हो जाती है और संसार के साथ भौतिक बन्धन शिथिल हो जाते हैं। जिस अनुपात में मनुष्य भौतिक बन्धन से मुक्त होता है, उसी अनुपात में मनोग्रन्थि भी निर्मूल हो जाती है। प्रभु के साथ नाता स्थापित होने पर स्वस्थ वैराग्य का उदय हो जाता है। आवश्यक वस्तुओं के अभाव में पलने पर विवेकशील व्यक्ति अभावपूर्ति का प्रयत्न तो करेगा किन्तु कुण्ठित नहीं होगा। पुरानी कुण्ठाओं

का उपाय प्रभु से नाता जोड़कर विवेकपूर्ण आत्मनिरीक्षण के द्वारा विवेक की आंखें खोलना है। मनुष्य में दीनता नहीं रहती और न वह विषम स्थितियों में पलायन करता है। न दैन्यं न पलायनम्। प्रभु के साथ नाता होना योग कहलाता है। योग के अनेक प्रकार हैं।

गीता ने कर्मयोग का संदेश दिया है। मनुष्य कर्म को बिना किये हुए क्षण भर भी नहीं रह सकता है किंतु कर्म कैसे करे? प्रायः मनुष्य स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म करते हैं और आशा-निराशा में फँसकर व्यर्थ ही शंकित होते रहते हैं और फल के अनुकूल-प्रतिकूल होने पर सुखी-दुःखी हो जाते हैं। कर्मयोगी स्वार्थ से प्रेरित नहीं होता है बल्कि परमार्थ से प्रेरित होता है तथा सब कर्म प्रभु की प्रसन्नता के लिए, प्रभुप्रीत्यर्थ, करता है। वह अपने लिए कुछ नहीं करता है। वह कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से कर्म करता है तथा फल प्रभु पर छोड़ देता है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" कर्मयोगी का अधिकार कर्म करने मात्र में ही है, फल में कभी नहीं। वह कर्म-फल की वासना से मुक्त होता है। उसकी कर्म न करने में प्रीति नहीं होती तथा वह पलायन नहीं करता है। कर्मयोगी प्रभु के साथ जुड़कर कर्म करता है, अतएव उसमें आसक्ति नहीं होती। "योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।" यही समत्व योग है––सम भाव में रहना तथा फल से विचलित न होना। कर्मयोगी सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-अजय में सम रहता है। काम (इच्छा) से प्रेरित होकर कर्म करने पर फल की आशा होती है तथा फल मिलने पर सुख-दुःख होता है। कर्मयोगी के लिए उत्साहभंग एवं नैराश्य (फ्रस्ट्रेशन) से बचने का एकमात्र उपाय है––कर्त्तव्य मान कर, प्रभु की प्रसन्नता के लिये और निराशा-आशा से ऊपर उठ कर कर्म करना। कर्मयोग द्वारा चारित्रिक गुणों (उत्तरदायित्व समझकर कर्त्तव्यपालन करना, निकटतम कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहना, सच्चाई, नैतिक साहस और परस्पर सहयोग होना) का समावेश स्वयं हो जाता है। कर्मयोगी निराशी (निराश नहीं, आशामुक्त) होकर प्रभुप्रीत्यर्थ उत्साह से कार्य करता है और प्रत्येक फल को सम भाव से ईश्वर इच्छा के रूप में स्वीकार कर लेता है। कर्मयोगी पुरुषार्थ ऐसे करता है मानो वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है और सब कुछ उसके अधीन है तथा प्रभु से प्रार्थना ऐसे करता है मानो उसके अधीन कुछ भी नहीं है और वह स्वयं कुछ भी नहीं है। वह कर्मफल को प्रभु का प्रसाद मान कर सहर्ष ग्रहण करने में सदैव तत्पर रहता है। उसके जीवन में निराशा (फ्रस्ट्रेशन) का प्रभाव कदापि नहीं होता है। निराशा से आशा अच्छी होती है किन्तु दोनों से ऊपर उठना श्रेयस्कर है।

कर्मयोगी श्रम की प्रतिष्ठा को समझता है तथा किसी श्रम को भी निकृष्ट नहीं समझता है। उसे जो भी कर्म करना पड़ता है, वह उसे रुचि एवं ध्यान से करता है। उसे जय अवश्य मिलती है। 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।' मेरे दायें हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में जय है। 'नास्ति सिद्धिः अकर्मणः।' कर्म के बिना जीवन में सफलता नहीं मिलती है।

गीता का उपदेश है कि मनुष्य को काम (व्यक्तिगत इच्छा, महत्त्वाकांक्षा) का पूर्ण परित्याग कर देना चाहिए। मनुष्य को प्रदत्त परिस्थिति में, कर्त्तव्यानुसार, प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म करना चाहिये। कामना से आशा, निराशा, चिन्ता, भय, आशंका, अस्थिरता उत्पन्न होते हैं और कामकामी को कदापि शान्ति नहीं मिलती है। जीवन में संघर्ष की आवश्यकता है किन्तु उसका उद्देश्य व्यक्तिगत कामना पूर्ति नहीं होना चाहिए। कामना की विफलता से ग्रंथियों का जन्म होता है एवं ग्रंथियां प्रगाढ़ होती हैं। कामना का निर्मूलन मानो ग्रंथियों का निर्मूलन है। चाह मिटने पर चिन्ता भी मिट जाती है। 'राम भजन बिनु मिटहि कि कामा।' भजन-भक्ति से सन्तोष उत्पन्न होता है, सन्तोष से काम का शमन होता है। 'बिनु संतोष न काम नसाई।' भक्त का काम (कामना) भक्ति रूप गंगा में परिष्कृत एवं पवित्र हो जाता है। काम चार पदार्थों में से एक है जिनका क्रम है---धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमें धर्म अर्थात् सत्याचरण, सच्चरित्रता एवं कर्त्तव्य भावना (समाज के प्रति तथा अपने प्रति) सर्वप्रमुख है, सर्वप्रथम है। धर्म से प्रेरित होकर अर्थ (धन, भौतिक सामग्री) का अर्जन एवं उपयोग करें। धर्म से प्रेरित होकर ही अर्थ द्वारा काम की पूर्ति करें। धर्म से प्रेरित होने पर कामना (दीन-दुखियों की सेवा की कामना इत्यादि) भी सात्विक ही होगी। धर्मप्रधान जीवन में धर्म नियन्त्रित कार्यकलाप करने पर मोक्षप्राप्ति (विकारों से मुक्ति) होना निश्चित है। धर्म अर्थात् सच्चरित्रता से थोड़ा कमाया हुआ भी धन शान्तिदायक होता है। शान्ति की खोज के लिए ही राजपुत्रों ने भोगैश्वर्य का त्याग करके वन-पर्वतों में वास किया और घोर तप किया। बेईमानी के सहारे एकत्रित धन रेत की दीवार की भांति अस्थिर होता है। अतएव लक्ष्मीपति न बन कर श्रीमान् बनना चाहिए। परहित में धन का उपयोग उसका सदुपयोग है। सामाजिक प्राणी मनुष्य को समाज-सेवा द्वारा समाज में घुलने-मिलने से सुख मिलता है। समाज-हित में ही अपना हित निहित होता है। जहाँ धर्म (सच्चरित्रता) और अर्थ (ईमानदारी से कमाया हुआ धन) हैं, वहाँ सात्विक कामना पूर्ण होती है तथा तभी मनुष्य को मोक्ष (विकारमुक्ति एवं परम शान्ति) प्राप्त होता है। भगवान सबको भावानुसार फल देता है। नेक नीयत मंजिल आसान।

समाज प्रभु का एक विराट् रूप है। 'सिया राममय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी ॥' निःस्वार्थ समाजसेवा प्रभु की पूजा ही है। जिसने सेवाधर्म को अपना लिया, उसने जीवन का सुख ही पा लिया। सेवा का अर्थ है स्वार्थ छोड़कर त्याग और बलिदान की राह को स्वीकार करना। 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।' सेवाधर्म योगियों के लिए भी अगम्य है, अत्यन्त कठिन है। सेवाभाव से प्रेरित होकर समाज की सेवा करने से मनुष्य की ग्रंथियों का छेदन हो जाता है, विशेषतः अहं ग्रंथि का। अहंभाव के विगलित होने पर प्रभु का साक्षात्कार स्वयं हो जाता है। सेवाभाव के विकसित होने पर निषेधात्मक मूल्य (अवसाद, व्यर्थता इत्यादि) एवं कुण्ठाओं का निर्मूलन हो जाता है, जीवनदायक मूल्यों की प्रस्थापना हो जाती है, जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का उदय हो जाता है। दीन-दुःखी की सेवा को प्रभु-सेवा मानना मनुष्य की भावनाओं को पवित्र कर देता है तथा अनेक मूल प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) हो जाता है। सेवा से प्राप्त सुख अनिर्वचनीय है। स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों की सेवा करने वाला मनुष्य धन्य होता है। सेवाधर्म को अपनाने पर मनुष्य संकीर्णता के दायरों से ऊपर उठता जाता है और उसके "स्व" का विस्तार हो जाता है। संकीर्णता मृत्यु है और विस्तार (व्यापक होना) जीवन है। मोह (स्वार्थ) संकीर्ण होता है, प्रेम व्यापक होता है।

जब हृदय सेवाभाव से परिपूर्ण हो जाता है, मनुष्य की अहं ग्रंथि का उदात्तीकरण हो जाता है, मिथ्या अहंकार नहीं रहता और वह किसी मामले को व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाता है। उसके लिए सेवा, परोपकार ही सर्वोपरि होता है। वह अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष और घृणा से मुक्त हो जाता है। उसे कोई ऊँचा-नीचा नहीं दीखता है। अहंकार होना मानो मनुष्य के व्यक्तित्व में घुन लग जाना है अथवा जंग लग जाना है। सन्तों ने दीन-दुःखी जन की सेवा करना परम पुण्य समझा है।

सेवाव्रती के लिये प्राणिमात्र सेव्य होता है। व्यक्ति कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब राष्ट्र के लिए, राष्ट्र मानवता के लिए होता है। सेवाव्रत लेने पर व्यक्ति मानवता का उपासक हो जाता है। सेवा जाति, वंश, धर्म आदि संकीर्ण भाव से प्रभावित अथवा प्रेरित होकर नहीं होती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। सारा विश्व एक कुटुम्ब है। सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि की संकीर्णता मानववादी को छू भी नहीं सकती है। मानवमात्र एक है। वह सबके कल्याण की कामना करता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥' सब सुखी हों, सब रोग रहित हों, सब मंगलमय दृश्यों को देखें, कोई भी दुःख का भागी न हो। मानवमात्र के हित में व्यक्ति का हित भी

निहित होता है। मानववादी के हृदय में सम्पूर्ण मानवमात्र के लिए ही प्रेम उमड़ता रहता है। सेवाव्रती परम उदार हो जाता है और उसका व्यक्तित्व प्रेमपूर्ण हो जाता है। प्रेम का अर्थ है--सेवा, त्याग, बलिदान, क्षमा, सहनशीलता। जो व्यक्ति अपनी भूलों के लिए अपने को सचमुच क्षमा नहीं कर सकता है, वह दूसरों को भी क्षमा नहीं कर सकता है, तथा जो दूसरों को क्षमा नहीं करता है, वह अपने को भी क्षमा नहीं कर सकता है। क्षमा मन को निर्मल एवं निर्विकार बना देती है। क्षमा प्रेम की सर्वोच्च स्थिति है, चरम सीमा है। प्रेम ही सेवा, सहयोग, सहानुभूति, करुणा, क्षमा, त्याग, बलिदान आदि के रूप में प्रकट होता है। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व ही ग्रंथिरहित हो सकता है: अहं ग्रंथि प्रेम से गल जाती है। स्वार्थरहित प्रेम, जीवमात्र के लिए प्रेम, व्यक्तित्व में एक जादू, एक अद्भुत आकर्षण, एक विचित्र प्रभावोत्पादकता उत्पन्न कर देता है। प्रेमपूर्ण व्यक्ति सभी को, तथाकथित दुष्ट तथा शत्रु को भी, आत्मीयता की दृष्टि से देखकर सबके हृदय जीत लेता है। महात्मा गांधी कहते थे---मुझे अपने को घटाते-घटाते शून्य बना देना चाहिये (I must reduce myself to zero) अहंभाव से मुक्त होकर व्यक्ति विश्व सत्ता के साथ एकाकार हो जाता है, मनुष्य निरभिमान एवं नम्र हो जाता है, उसका व्यक्तित्व मधुर हो जाता है। वह लोकव्यवहार में सदा सन्तुलित रहता है। वह किसी के आगे दीन होकर न गिड़गिड़ाता है, न किसी को अहंकार अथवा क्रोध में गाली ही देता है। सारा विश्व उसे अपना ही प्रतीत होता है, पराया कौन है ?

उमा जे राम चरणरत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करैं विरोध॥

उसमें आत्मबल एवं मनोबल का उदय हो जाता है और सब पर उसके माधुर्य की छाप लग जाती है। वह घृणा को प्रेम से, क्रोध को क्षमा से जीतता है। हठधर्मी उसके प्रभाव के सामने निस्तेज हो जाते हैं। प्रेमपयोनिधि-स्वरूप पुरुष का प्रभाव कल्पनातीत होता है। नितान्त निर्मल व्यक्ति के भीतर से अलक्षित सूक्ष्म विद्युत्कण निकल कर वातावरण को भर देते हैं जिसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति सात्विक हो जाता है। प्रेम में सम्मोहन शक्ति होती है। प्रेमपूर्ण हृदय निर्मल होता है तथा धरती का श्रेष्ठ स्वर्ग होता है। प्रेम से मन का परिष्कार होता है। दूसरों पर प्रभाव कथनी का नहीं करनी का, ढोंग का नहीं सत्य का, पद का नहीं व्यक्तित्व का, विद्वत्ता का नहीं विचार का, क्रोध का नहीं प्रेम का होता है। व्यक्तित्व का जादू सबसे बड़ा जादू होता है। महानतम विचारक के समस्त कथ्य का सार यही निकलेगा जिसका संकेत कबीर ने

किया था। 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥' कोई पैगम्बर, अवतार, विद्वान्, नेता इस पर विवाद नहीं कर सकता है। प्रभाव तो प्रेम का होता है, छल का नहीं। जब तक हृदय में छल और क्रोध भरे हुए हैं, व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं होता। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व सुनम्य (लचीला) होता है, दुर्नम्य (रिजिड) नहीं होता। अस्तित्व एवं विकास की रक्षा के लिये नम्यता (लचीलापन) आवश्यक होती है। यदि बालक का शरीर दुर्नम्य हो जाये तो उसका विकास संभव न हो। मानसिक विकास के लिये भी पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह से मुक्त होना आवश्यक होता है। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व ही सुनम्य तथापि सुपुष्ट एवं विकासशील होता है। नम्यता (मुड़ जाने की क्षमता, लचीलापन) होने पर ही ग्रहणशक्ति का उदय होता है। अंगुलियां मुड़ कर ही कुछ पकड़ सकती हैं, ग्रहण कर सकती हैं। धनुष झुक कर ही बाण को लक्ष्य तक भेज सकता है। 'बरसहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध विद्या पाये॥' फलदार वृक्ष तथा गुणी जन झुक जाते हैं। 'नमन्ति फलिनो वृक्षाः नमन्ति गुणिनो जनाः।' यदि उसे किसी को दण्ड देना पड़ता है तो वह प्रेम एवं सद्भाव से प्रेरित होकर तथा घृणा एवं प्रतिशोध छोड़कर ही दण्ड देता है। वह पाप से घृणा करता है, पापी से नहीं। महान् सन्त तो इतने सहनशील एवं क्षमाशील हो जाते हैं कि उन्हें दंड देने की आवश्यकता ही नहीं रहती है और उनकी निर्मलता, सहिष्णुता एवं क्षमा आततायी को भी धीरे-धीरे निर्मल, सहिष्णु एवं क्षमावान् बना देती है। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव अमिट होता है। भगवान् बुद्ध, महावीर एवं ईसा के उदाहरण हमारे सामने हैं।

मानव समाज के प्रति प्रेम ही प्रभु के प्रति उन्मुख होने पर भक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। जीव प्रभु के सामने आत्म-समर्पण कर देता है और अपनी इच्छाओं तथा चिन्ताओं की गठरी को भी समर्पित कर देता है। प्रभु के समक्ष आत्म-निवेदन करना (अपनी बात कह देना) मन को चिन्ताविमुक्त कर देता है तथा मन को परिष्कृत कर देता है। भक्तिभाव से गाये हुए भजन मन को तनाव से मुक्ति, शान्ति और बल देते हैं। मन की शुद्धि के लिए भक्ति श्रेष्ठ मार्ग है। भक्तिभाव से ओत-प्रोत होकर, ऊपर हाथ उठाकर, चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहंस दैवी मुद्रा में संस्थित हो जाते थे और निर्मल होकर शान्तिधाम बन जाते थे। मनुष्य प्रभु के प्रति क्षण-क्षण कृतज्ञता प्रकट कर गद्गद् हो जाता है और अपने को कृतकृत्य समझ लेता है। भक्ति भाव के द्वारा भावात्मक विरेचन (Emotional Catharsis) हो जाता है, प्रेमाश्रुओं से ग्रंथियाँ धुल जाती हैं, मन परिष्कृत एवं निर्मल हो जाता है। कबीर कहते हैं-

कबिरा हँसना छोड़ दे, रोवन सों कर प्रीत।
बिन रोये नहीं पाइया, प्राण पिआरा मीत ॥

बनावटी झूठी हँसी हँसने से मनुष्य का मन बोझिल हो जाता है और वह उससे उकता जाता है। अतः झूठी हँसी छोड़कर कभी-कभी प्रभु के सामने अकेले में रोना चाहिए। ऐसे रोने से मन धुल जाता है और पुष्प की भाँति खिल जाता है। निर्मल व्यक्ति की मुस्कान दिव्य होती है, प्रभावी होती है। निर्मल व्यक्ति सरल हो जाता है। सरलता ही सुख और शान्ति के मार्ग का प्रथम सूत्र है, प्रथम पाठ है। भगवान् के भक्त को प्रभु का विधान ही मंगलमय दीख पड़ता है और उसे किसी भी वस्तु से क्षोभ नहीं होता है। परमात्मा के साथ जुड़कर वह सशक्त हो जाता है और उसमें हीनता का भाव लुप्त हो जाता है। परमात्मा का विश्वास उसके लिए अद्भुत संबल हो जाता है। यह विश्वास ही तो उसकी सच्ची पूँजी होती है।

प्रभुभक्त प्रभु का उपकरण बन जाता है। मैं प्रशासक हूँ, मैं मन्त्री हूँ, मैं शक्तिसम्पन्न व्यक्ति हूँ, मैं सत्ताधारी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं दीन हूँ, इस भाव के स्थान पर "मैं प्रभु का यन्त्र हूँ, उपकरण हूँ, निमित्तमात्र हूँ तथा प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु-प्रेरणा पाकर प्रभुप्रीत्यर्थ (God-oriented) आचरण करता हूँ", यह भाव उत्पन्न हो जाता है। ईश्वर पर विश्वास करने वाला व्यक्ति न केवल संकट में निराशा और अकेलेपन की भावना से बच जाता है, बल्कि समृद्धि में निरभिमान भी रह सकता है। उसे प्रभुदत्त शक्ति का भान होता है किन्तु अभिमान नहीं होता है। समस्त शक्तियों के मूलस्रोत प्रभु के साथ भक्ति के द्वारा जुड़ने पर व्यक्ति में रहस्यमयी शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

ज्ञान योग का मार्ग ग्रहण करने पर भी मनुष्य की अहं ग्रंथि का उदात्तीकरण हो जाता है। मैं जड़ देह नहीं हूँ, मैं चैतन्य हूँ। मैं सत्, चित्, आनन्द हूँ। संसार के नाते मिथ्या हैं और मोह अज्ञान है। मैं ईश्वर का अंश हूँ, अतएव अमर हूँ। इस प्रकार ज्ञान होने पर सांसारिक बन्धन शिथिल हो जाते हैं और मोह छूट जाता है। सीमित "मैं" "अहं ब्रह्मास्मि" में विलीन हो जाता है। बिन्दु के सिंधु में मिलने पर बिन्दु में सिंधु के गुणों का समावेश हो जाता है।

ध्यान योग के द्वारा मनुष्य गहरे स्तर पर परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लेता है। ध्यान का अभ्यास मनुष्य को निर्मल एवं पवित्र बना देता है। मनुष्य की ग्रंथियों का छेदन हो जाता है तथा व्यक्तित्व निखर जाता है।

जिस भवन का निर्माण अस्थिर एवं दुर्बल आधार पर होता है, वह भव्य होकर भी सहसा गिर जाता है। स्थिर एवं दृढ़ आधार पर किया हुआ निर्माण

ही स्थायी रह सकता है। केवल भौतिकता पर ही आधारित जीवन शीघ्र अस्त-व्यस्त हो जायेगा किन्तु आध्यात्मिकता (सत्य) पर आधारित जीवन में अवश्य ही बल, सुख, शान्ति एवं सौन्दर्य होंगे। आध्यात्मिकता के द्वारा मानवीय गुणों (प्रेम, करुणा, सेवा, त्याग इत्यादि) का समावेश हो जाता है। केवल प्रतिभासंपन्न होने से नहीं, बल्कि सत्य का साधन होने से तथा मानवीय गुणों के विकास से व्यक्ति कल्याणकारी हो सकता है।

प्रभु के साथ एक सच्चा नाता स्थापित होने पर साधक स्वाधीन हो जाता है। उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये तथा उसके पास अपना मानकर कुछ भी नहीं होता। उसे शरीर भी अपना नहीं दीखता है और वह अपने लिये शरीर की भी इच्छा नहीं करता है। वह अपने सुख के लिये बाह्य वस्तुओं एवं व्यक्तियों के अधीन (पराधीन) नहीं रहता है। वह अपने किसी सुख के लिये भी सन्मार्ग का त्याग नहीं करता है। व्यक्तियों के प्रति मोह एवं वस्तुओं के संग्रह से सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होते हैं। वह जानता है कि सुख बाह्य वस्तुओं में नहीं है, बल्कि भीतर है। वह सुख के विषय में सर्वथा स्वाधीन होता है।

अध्यात्म के मार्ग पर चलने से व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास हो सकता है और मानव को जीवन में स्थायी सुख एवं शांति प्राप्त हो सकते हैं। जीवनकला की संसिद्धि जीवन और सुख की एकरूपता अधिष्ठित होने में है। जीवन और सुख एक हो जायें, अविच्छेद्य हो जायें, जीवन सुख हो जाये। सत्य, न्याय, प्रेम, क्षमा, उदारता, त्याग, सेवा एवं कर्मशीलता की राह पर दृढ़तापूर्वक चलते रहने से जीवन सुख बन जाता है। जीवन का लक्ष्य सुख नहीं है। जीवन का लक्ष्य है सत्य का दर्शन, आत्मसाक्षात्कार, व्यक्तित्व का पूर्ण उदय। लक्ष्य-प्राप्ति के लिये संघर्ष करने पर स्वयमेव सुख उपजता है, जीवन सुख हो जाता है।

१८

सृष्टि की उत्पत्ति, मानव और ईश्वर तत्त्व

भाग १ : सृष्टि तथा स्रष्टा

सृष्टि की उत्पत्ति मानव के लिये आदि काल से ही एक रहस्यमयी पहेली बनी हुई है। सभी देशों में प्रमुख वैज्ञानिक, दार्शनिक, तत्त्वज्ञ, कवि, नाटककार और धर्माचार्य विविध प्रकार से इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु, ज्यों-ज्यों हम रहस्य के उद्‌घाटन के समीप पहुँचकर अन्तिम समाधान की ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं, त्यों-त्यों वह अधिक जटिल रूप धारण कर लेती है। हाँ, यह प्रयत्न इस तथ्य को अवश्य प्रकाशित एवं प्रमाणित करता है कि मानव में अपने सन्देहों और शंकाओं को निर्मूल करने तथा समस्त रहस्य के भेदन करने की एक अन्तर्लालसा है। सत्य की यह खोज मानव-जीवन को उदात्त बना देती है। वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, कलाकारों, धर्मगुरुओं और दार्शनिकों के परिश्रम के मूल में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की एक अमर पिपासा छिपी पड़ी है। मनुष्य अपनी उत्पत्ति तथा दृश्य जगत् के मूलभूत कारण को जानना चाहता है और उसके साथ अपना सम्बन्ध भी ज्ञात करना चाहता है। व्यक्ति तो काल-कवलित होते रहते हैं किन्तु मनुष्य की यह खोज अनन्त है तथा उसकी चिर ज्ञान-साधना अजस्र चलती ही रहती है।

विषय प्रवेश से पूर्व हम किंचित् दिक्‌कालमय विश्व के विस्तार पर वैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्मतः विचार कर लें। नवीन शक्तिशाली दूरदर्शक यंत्र आकाश में स्थित ऐसे कायों को प्रदर्शित कर देते हैं, जो हमसे इतने दूर हैं कि उनके प्रकाश को १८६,००० मील प्रति सेकिंड चलकर पृथ्वी पर पहुँचने में ५,०००,०००,००० वर्ष लग जाते हैं। सूर्य के प्रकाश को इसी गति से

चलकर पृथ्वी पर पहुँचने में आठ मिनट बीस सेकिंड लगते हैं। कोई निश्चयपूर्वक विश्व के छोर की कल्पना ही नहीं कर सकता है। हमारी पृथ्वी जो हमें इतनी विशाल प्रतीत होती है, जिसका व्यास लगभग आठ हजार मील है तथा जिसके गर्भ में लौह आदि गर्म धातुएं भरी पड़ी हैं तथा जिसकी सतह में कुछ मील मोटा मिट्टी एवं जल का एक बाह्य भूपटल है तथा जिस पर असंख्य जीवित प्राणी बसे हुए हैं, प्रकाशमान सूर्य के चारों ओर एक मिनट में लगभग एक हजार मील की गति से सतत परिभ्रमण करती रहती है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करने वाले नौ ग्रहों में से एक है। उन नौ ग्रह, उपग्रह (चन्द्रमा), अन्य क्षुद्रग्रह एवं धूमकेतु आदि का समूह सौरमण्डल कहलाता है जो कि अन्य समान सूर्यों सहित सौरमण्डलों के एक परम विशाल समूह में एक लघु उपनिवेशमात्र है। इस विशाल समूह को हम "अपना जगत्" कह सकते हैं, जिसे विज्ञान की भाषा में गैलेक्सी कहते हैं। इस हमारे अपने जगत् (गैलेक्सी) में कदाचित् सौ अरब सूर्यवत् तारे हैं जो हमारे सूर्य की अपेक्षा अधिक बड़े हैं तथा विकास के विभिन्न चरणों में हैं। हमारे सौरमण्डल का सूर्य हमारे अपने जगत् (हमारी गैलेक्सी अथवा आकाशगंगा) के बाहरी किनारे (रिम) पर गैलेक्सी के केन्द्र से $\frac{2}{3}$ दूरी पर रजकण की भांति तुच्छ-सा एक साधारण तारा है। सम्पूर्ण सौरमण्डल स्थानीय नक्षत्र-प्रणाली के अन्तर्गत लगभग तेरह मील प्रति सेकिंड की गति से घूमता है। कदाचित् उनके चारों ओर हमारे सौरमण्डल के ग्रहों की भांति परिभ्रमण करने वाले ग्रह भी होंगे। हमारे जगत् (हमारी गैलेक्सी) में स्थित तारे इतनी दूर हैं कि नेत्रों से उन्हें देख ही नहीं सकते हैं। इस आकाशगंगा का बड़ा व्यास लगभग १००,००० अथवा १२०,००० प्रकाश वर्ष और छोटा व्यास २०,००० प्रकाश वर्ष है। एक प्रकाश वर्ष छह सौ अरब मील अथवा सौ खरब कि० मी० होता है। यह आकाशगंगा तेजी से दूर हटती जा रही है। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के अमेरिकी खगोलविदों ने एक नई आकाशगंगा की खोज की है जिसमें लगभग एक खरब तारे हैं तथा जो पृथ्वी से आठ अरब प्रकाश-वर्ष दूर तथा हमारी आकाशगंगा से पांच से दस गुना अधिक बड़ी है। इसको ३ सी १२३ नाम दिया गया है। इसके चित्र कम्प्यूटर प्रणाली से लिये गये हैं। ब्रह्माण्ड के जितने भाग का पता लगा है, उसमें लगभग १९ अरब आकाशगंगाएं हैं। प्रत्येक आकाशगंगा में लगभग दस अरब तारे हैं। हमारा सौरमण्डल हमारी गैलेक्सी के अन्त में बाहरी किनारे के समीप स्थित है और अब वेगा नामक सूर्यवत् तारे की ओर बढ़ रहा है।

यद्यपि हमारा सौरमण्डल इतना विशाल है कि इसके मध्य से दो मील प्रति मिनट चलने वाले राकेट को हमारे मण्डल के बाह्य-ग्रह प्लूटो तक पहुँचने

में ३६५० वर्ष लगेंगे तथापि परस्पर टकराहट का कोई भय नहीं है। स्थिर प्रतीत होने वाले तारे भी वास्तव में निरन्तर गतिमान हैं। गैलेक्सी स्वयं भी प्रतिक्षण दो सौ मील की गति से अन्तरिक्ष में चल रही है। हमारे जगत् (गैलेक्सी) के अतिरिक्त रूप और द्रव्य में इसके ही समान अनेक जगत् हैं जो इससे बहुत अधिक बड़े हैं। वे द्वीप जगत् अथवा नीहारिकाएं कहलाते हैं जो हमारे दूरदर्शक यंत्रों में लगभग दस करोड़ दीख पाते हैं और कदाचित् समस्त ब्रह्माण्ड में वे लगभग ५००,०००,०००,०००,००० अवश्य होंगे। इन द्वीप जगतों के मध्य में लगभग दस लाख प्रकाश वर्ष का अन्तर है। अन्तरिक्ष में कितना स्थान रिक्त है इससे अनुमानित हो सकता है कि यदि समस्त जगतों के तारों के द्रव्य को समान पिण्डों में विभाजित करें तो समस्त और एक अंश का अनुपात ऐसा होगा जैसे हमारी पृथ्वी और एक रजकण का। यह देख कर मनुष्य आश्चर्य से स्तब्ध रह जाता है तथा उसके भीतर एक दार्शनिकता सी जाग जाती है

मानव आकाश की ओर साश्चर्य देखकर विश्व के विस्तार की कल्पना करता रहा है। गेलीलियो ने दूरदर्शक यंत्र के निर्माण के द्वारा विश्व प्रहेलिका समझने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आधुनिक प्रकाशित तथा रेडियो दूरदर्शकों के परिकलक नेत्रों के द्वारा विश्व का कुछ अनुमान सम्भव हुआ है। कैस्टर और पोलेक्स, दो तारे, समीपता के कारण जुड़वाँ से मालूम होते हैं किन्तु वे बहुत दूर-दूर हैं और परस्पर असम्बद्ध हैं। करोड़ों वर्ष पूर्व ये आपस में बहुत दूर थे। दूरदर्शक यंत्र से ज्ञात होता है कि वास्तव में कैस्टर एक तारा नहीं है बल्कि छह तारों का समूह है जो आपस में भी बहुत दूर-दूर हैं। आकाशीय एक्स-रे तारों, गामा-रे स्रोतों, एमोनिया अणुओं, पराबैंगनी तथा अवरक्त उत्सर्जनों, न्यूट्रोन तारों आदि के अनुसन्धान से मनुष्य नये विरोधात्मक विचारों में बहने लगता है और उसने विश्व रचना के संबंध में तीन प्रकार की परिकल्पना की है जिससे वह विश्व को निस्सीम अथवा ससीम मान सकता है।

पहिला, प्रस्फोटन मत—कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के खगोल भौतिकी वेत्ता मार्टिन राइन और उसके अनुयायी गण के अनुसार लगभग सौ खरब वर्ष पूर्व सघन पदार्थ के विशाल प्रस्फोटन (बिग बैंग) के साथ विश्व का समारम्भ हुआ। आइंसटाइन के साधारण सापेक्षवाद के आधार पर कहा जा सकता है कि लगभग १५०० करोड़ वर्ष पूर्व समस्त ब्रह्माण्ड एक बिन्दु अथवा अग्निपिण्ड में समाया हुआ था और सहसा महाविस्फोट हुआ जिसमें भौतिक पदार्थ फूट कर निकला और विस्फोट से उसका जन्म हुआ। उत्पन्न होने पर भौतिक पदार्थ फैलने लगा। किन्तु प्रश्न उठते हैं महाविस्फोट से पूर्व क्या था, किस

तत्त्व का अस्तित्व था ? महाविस्फोट उसी समय क्यों हुआ ? महाविस्फोट का कारण क्या था ? महाविस्फोट होने पर इतना ही भौतिक पदार्थ क्यों उत्पन्न हुआ ? भारतीय वैज्ञानिक (टाटा रिसर्च) डा० विजय कपाही तथा डा० गोविन्दस्वरूप महाविस्फोट सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं। महाविस्फोट (दस हजार से २० हजार मिलियन वर्ष पूर्व) के पश्चात् विश्व बढ़ता ही जा रहा है और कभी इसका अन्त भी होना संभव है। इससे पूर्व समस्त विश्व आद्य (प्रीमोर्डियल) अग्नि में समाहित था। क्वासारों का कोणीय होना महाविस्फोट सिद्धान्त को प्रमाणित करता है। सृष्टि का समारंभ महा उद्घोष से हुआ। सर लोवेल इस मत का प्रबल समर्थन करते हैं। उस विस्फोट के विखण्ड (अब वे गैलेक्सी हैं) बाहर की ओर तथा एक दूसरे से दूर सदैव हटते रहेंगे जब तक वे कभी अनन्त काल में अनन्त रिक्तता में ही खो जायेंगे।

दूसरा, स्थिरदशामत (स्टेडी स्टेट) ब्रिटिश खगोलज्ञ सर फ्रेड हायल का कथन है कि विश्व सदा से ऐसा ही विद्यमान रहा है, यद्यपि यह विस्तृत तो अवश्य होता रहा है। जब गैलेक्सी एक दूसरे से दूर हटती हैं, नवोदित हाइड्रोजन से, रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये, नवीन गैलेक्सी निरंतर उत्पन्न होती रहती है और इस प्रकार प्रसरणशील विश्व को सम घनत्व पर रखती हैं। हायल के अन्य दो समर्थक ब्रिटिश खगोलज्ञ थे--हर्मन बोंडी और टामस गोल्ड। इन तीनों ने सन् १९४८ में महाविस्फोट का विकल्प प्रस्तुत किया। ब्रह्माण्ड का आदि और अन्त नहीं है यद्यपि पदार्थ निर्माण निरन्तर चलता रहता है। हायल ने सन् १९७० में खगोलज्ञों की सभा में कहा था कि मानव कभी भी भौतिकी को समग्र रूप से न समझ सकेगा।

तीसरा, दोलायमान-विश्वमत--एलेन सेन्डेज प्रस्फोटन मत से सहमत तो है किन्तु वह यह भी मानता है कि प्रसरणशील विश्व चार सौ खरब वर्ष व्यतीत होने पर पुनः आकुंचित होकर सघन पदार्थ बन जाता है और फिर विस्फारित होने लगता है। इस प्रकार यह आकुंचन और विस्फारण का आठ सौ खरब वर्ष का एक चक्र है। यह चक्र अनन्त है और बार-बार आकुंचन और विस्फारण होता ही रहता है। दिक् और काल की अनन्तता हमें आश्चर्यचकित कर देती है।

जब ब्रह्माण्ड विज्ञानवेत्ता रात्रि के आकाश की ओर देखता है, वह वास्तव में भूतकाल का दर्शन कर रहा है, क्योंकि प्रकाश एक निश्चित गति पर चलता है। सूर्य ऐसा देखा जाता है जैसा वह आठ मिनट पूर्व था, निकटतम स्थिर प्रतीत होने वाला तारा जैसे वह चार वर्ष पूर्व था, समीपतम गैलेक्सी जैसी बीस लाख वर्ष पूर्व थी। साइरियस हमें ऐसा दीखता है जैसा वह नौ वर्ष पूर्व

था, प्लीयाड्स जैसे वे पाँच सौ वर्ष पूर्व थे। बाहरी गैलेक्सियों में सबसे समीप ऐन्ड्रोमेडा हमें ऐसा दीखता है जैसा वह आठ लाख वर्ष पूर्व था। परम दूरस्थ तारों का प्रकाश अश्मीभूत (फौसिल) प्रकाश कहलाता है। पृथ्वी के दक्षिणी गोलार्द्ध से दूरदर्शक यंत्र के द्वारा एक ऐसा तारा "मैगैलेनिक बादल" में दीखता है जहाँ यदि हमारा सूर्य स्थित होता तो बड़े से बड़े दूरदर्शक यंत्र से भी न दीखता। यह व्यास में दस हजार लाख मील है। हम इससे ब्रह्माण्ड के विस्तार का भी अनुमान लगा सकते हैं। ब्रह्माण्ड की सीमा, ब्रह्माण्ड का छोर देखना कदापि संभव ही नहीं है। ब्रह्माण्ड का विस्तार अपरिमित है और मानव उसकी कल्पना नहीं कर सकता है। सन् १९७१ में ओ. एच. ४७१ नामक क्वाजार का पता लगा था जिसकी दूरी १९७३ में १२,००० दशलक्ष प्रकाश-वर्ष थी। यह क्वाजार प्रकाश की गति के ९०% गति से दूर हट रहा है। धरती से १००० दश लक्ष प्रकाशवर्ष से अधिक दूरी पर क्वाजार हैं। क्या कल्पना भी संभव है ? ब्रह्माण्ड के अपरिमित विस्तार में अधितारा (Quasar क्वासर या क्वाजार) एक रहस्यमय असाधारण पिण्ड है जो सूर्य की अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक प्रकाशमान और भारी होता है तथा जिसका जन्म गैस मेघों के आन्तरिक निपात से होता है। यह अकल्पनीय ऊर्जा को उत्पन्न करता है। कदाचित् रेडियो तारे क्वाजार हों। अभी तक बीस से अधिक क्वाजारों की खोज हो चुकी है। क्वाजार और नीहारिका (गेलेक्सी) का संबंध अभी अस्पष्ट है। क्वाजारों के संबंध में डा. हिल (अमेरिकी वैज्ञानिक) की गवेषणा महत्वपूर्ण है। क्वाजार और पल्सर की खोज से प्रस्फोटन मत पुष्ट होता है।

अन्तरिक्ष में कहीं कहीं स्टार क्लस्टर या ग्लोब्यूलर स्टार दीखते हैं तथा कहीं कहीं मेघसदृश धब्बे दिखाई देते हैं जिन्हें नीहारिका कहते हैं। ब्रह्माण्ड में असंख्य नीहारिकाएं हैं। मैसियर–१३ नामक स्टार-क्लस्टर पर जो पृथ्वी से २५००० प्रकाश वर्ष दूर है तथा जिसमें ३००,००० तारे हैं, पृथ्वी से वैज्ञानिकों द्वारा एक संदेश इस आशा में भेजा गया कि वहां जीवन होगा। (अभी तो अपने सौर मण्डल में ही प्लूटो से भी परे एक ग्रह के अस्तित्व का वैज्ञानिक अनुमान हो रहा है। रूसी वैज्ञानिकों के इस विश्वास का आधार उल्काओं का गणितीय विश्लेषण है। उनके विचार से कदाचित् इस ग्रह का आयतन और भार पृथ्वी के समान है किन्तु उसकी सूर्य से दूरी पृथ्वी से सूर्य की दूरी से ५४ गुना अधिक है। बृहस्पति भी कभी सूर्य बन सकता है क्योंकि उसके धरातल से हजारों मील तक गैस के बादल हैं।) वास्तव में ब्रह्माण्ड के भूतकाल का ही प्रेक्षण करना सम्भव होता है। ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में भूत, वर्तमान तथा भविष्य एक नैरन्तर्य के पहलू हैं। यदि सृष्टि की

उत्पत्ति के रहस्य का ज्ञान हो जाये तो ब्रह्माण्डीय तत्त्व का ज्ञान भी संभव हो सके। यदि हम दूर अन्तरिक्ष में तात्त्विक प्रतिक्रियाओं की यांत्रिकी को समझ लें तो हम पृथ्वी पर द्रव्य और ऊर्जा के अन्तिम रहस्य को भी जान सकेंगे।

सूर्य गत अस्सी खरब वर्ष में भी लगभग यथापूर्व बना हुआ है और खरबों वर्ष तक भी इसके क्षीण होने का प्रश्न नहीं उठता। लगभग ५० खरब वर्ष सूर्य के साथ ऐसी घटना घटित हुई जो "न भूतो न भविष्यति", न कभी पहिले हुई, न कदाचित् भविष्य में होगी। एक अन्य सूर्य इसके कुछ समीप आया और उसके गुरुत्वाकर्षण ने इस सूर्य के गैसीय पदार्थ में भीषण ज्वारीय क्रिया उत्पन्न कर दी जिससे विविध दिशाओं में इसके तन्तु निसृत हुए। जब वह आगन्तुक सूर्य दूर निकल गया, ये तन्तु बड़े राशि के रूप में संघनित हो गये और वर्तमान ग्रह बन गये तथा वे अनन्त रूप से सूर्य, जिसका व्यास ८,६५,००० मील है, का परिक्रमण करने लगे। प्रारम्भ में ये ग्रह छोटे थे किन्तु धीरे-धीरे सूर्य के प्रतिवेशी मलवे को अपने में एकत्रित कर बड़े होते गये। ऐसा वे अब भी करते रहते हैं जैसा कि उल्कापात से प्रमाणित होता है। यह ज्वारीय मत सर जेम्स जीन्स का है।

गत कुछ वर्षों में वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि ग्रहों के निर्माण के लिये अन्य किसी सूर्य के निकट आने की आवश्यकता नहीं थी। यह सूर्य और उसके ग्रह गैसों के एक विशाल बादल के संकुचित हो जाने से एक ही साथ बने। खगोलज्ञ फ्रेड हायल का मत है कि आरंभ में सूर्य और उसके ग्रह अत्यधिक तप्त थे और कालान्तर में ठंडे होते गये। आरंभ में इस सौर मण्डल का निर्माण एक विशाल गैसीय बादल से हुआ जो संकुचित होने लगा तथा जब संकुचित होते रहने पर उसका व्यास केवल दस करोड़ मील रह गया, इसकी अपनी ही कल्पित धुरी पर घूमने की गति तीव्र हो गई और इसके अंश निकल कर बाहर आ गये। तप्त पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी हुई।

डा० हेरोल्ड उरे (नोबल पुरस्कार विजेता) का मत है कि गैस का असीम ढेर सिकुड़ने लगा और मध्य में (सिकुड़ने पर ही) धीरे-धीरे सूर्य बन गया। गैस से चन्द्रमा के आकार वाले छोटे-छोटे ठोस पदार्थ बन गये और वे परस्पर जुड़कर ग्रह बन गये। पृथ्वी लगभग अस्सी चन्द्रमाओं के आकार वाले ठोस द्रव्यों से बन गई।

हमारी पृथ्वी की वर्तमान आयु लगभग पचास हजार लाख वर्ष है और इसका भविष्य भी सुदीर्घ है। पृथ्वी के प्रशीतित होकर जीवन नष्ट होने की संभावना दूर है। करोड़ों वर्षों तक पृथ्वी पर जीवन चलता रहेगा और इसकी

जलवायु मानव के पर्याप्त अनुकूल ही रहेगी। अमेरिका के डा० पाल लौमेन का परम्परागत विचार (कि पृथ्वी पर महाद्वीपों के स्थल का विकास हुआ है) के विपरीत अनुमान है कि महाद्वीपों का जन्म साढ़े चार बिलियन वर्ष पूर्व हुआ और वे तब से धीरे-धीरे समुद्र में गिरते जा रहे हैं। तथापि अनेक बिलियन वर्षों तक उनके विलुप्त होने का कोई प्रश्न नहीं है। (भारतीय वैज्ञानिक डा० बी० एल० एस० भीमशंकरम् तथा डा० पी० सी० पाल की खोज है कि लगभग १० करोड़ वर्ष पूर्व भारतीय उपमहाद्वीप मेडागास्कर के निकट था और अफ्रीका से जुड़ा हुआ था। भारत लगभग दस करोड़ वर्षों में लगभग छह हजार किलोमीटर उत्तर पूर्व की ओर सरकते हुए अपने वर्तमान स्थान पर आ पहुंचा है तथा उत्तरपूर्व की ओर बढ़ते हुए जब भारतीय पट्टी यूरेशियाई पट्टी से टकराई, तब हिमालय पर्वत का जन्म हुआ) हाँ, मनुष्य अपनी मूर्खता से जीवन को विनष्ट कर सकता है। यह प्रकृति का दोष नहीं होगा।

हमारी पृथ्वी के उपग्रह चन्द्रमा की उत्पत्ति के संबंध में विविध मत हैं। एक नया मत, जिसे डा० हेन्स एल्फवन ने प्रतिपादित किया, यह है कि चन्द्रमा भी सूर्य का एक ग्रह था किन्तु लगभग ३० या ४० खरब वर्ष पूर्व पृथ्वी ने इसका हरण कर लिया तथा अपना उपग्रह बना लिया। पृथ्वी के समीप आने पर इसका आधा द्रव्य टूट पड़ा, उसमें क्रेटर बन गये और पृथ्वी पर द्रव्यपात के द्वारा महाद्वीप बन गया। पृथ्वी पर आठ किलोमीटर ऊंचे ज्वार उठे और पृथ्वी पर परिभ्रमण कर उन्होंने पृथ्वी की सतह को "पालिश" कर दिया। अमेरिका और रूस के द्वारा चन्द्रमा-विजय तथा चन्द्रमा की मिट्टी का परीक्षण नये तथ्य प्रस्तुत कर सकेंगे जिससे कदाचित् सृष्टि उत्पत्ति का आंशिक रहस्योद्घाटन संभव हो सकेगा।

अमेरिका के अपोलो-१६ ने चन्द्रमा के पुराने ज्वालामुखी पर्वतों तथा पहाड़ी पठारों की खोज की है और उससे यह प्रमाणित हो रहा है कि कभी चन्द्रमा भी पृथ्वी की भांति सक्रिय ग्रह था। अपोलो-१७ के वैज्ञानिक यात्री डा० श्मिट ने चन्द्रमा की खोज के संदर्भ में कहा है कि दोनों पृथ्वी और चन्द्रमा सौर क्षेत्र में ४.६ बिलियन वर्ष पूर्व विनिर्मित हुए। चन्द्रमा के जन्म के संबंध में अभी धारणा स्पष्ट नहीं है।

केलीफोर्निया में लॉस एंजिलस के प्रोफेसर डा० सेमुअल हेरिक (Dr. Samuel Herrick) ने सन् १९६४ में पृथ्वी के छोटे से एक अन्य चन्द्रमा की खोज की थी जिसके विषय में स्वीडन के नोबल पुरस्कार विजेता हेन्स एल्फवन ने कहा है कि यद्यपि यह पृथ्वी के सूर्य का परिक्रमण करता है

यह प्रत्येक आठ वर्ष में पृथ्वी के चालीस लाख नब्बे हजार किलोमीटर तक आ जाता है तथा यह पृथ्वी-चन्द्रमा निकाय (Earth-moon system) से सम्बद्ध है। इसका व्यास एक मील है।

सूर्य मण्डल के ग्रहों में बृहस्पति सबसे बड़ा है। विशालता में उसके बाद शनि और फिर यूरेनस हैं। यूरेनस सूर्य से १७.८ बिलियन मील दूरी पर सातवां ग्रह है तथा रहस्यमय है। केवल नेप्चून और प्लूटो इससे परे हैं। बृहस्पति और शनि में हाइड्रोजन और हिलियम है। किन्तु यूरेनस में मिथेन है। यूरेनस धरती के ८४ वर्षों में सूर्य का एक चक्कर लगाता है। इसका व्यास तीस हजार मील है। मंगल और शुक्र पर यान पहुंच कर अनेक खोज कर रहे हैं।

धूमकेतु (पुच्छल तारे) भी सौर मण्डल के सदस्य हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इनका निर्माण आदिकालीन सामग्री से हुआ किन्तु अन्य का मत है कि इनका जन्म प्रायः होता रहता है तथा ये प्राचीन नहीं हैं। विरल लघुकण पुंजीभूत होकर धूमकेतु बन जाते हैं। लगभग एक हजार धूमकेतु विशाल हैं तथा इनकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है। छोटे धूमकेतु अगणित हैं। धूमकेतुओं में गैसों का बाहुल्य होता है तथा खोखले होने के कारण इनका भार अत्यल्प होता है।

ब्रह्माण्ड का विस्तार अकल्पनीय है तथा उसकी विशालता के संदर्भ में मानव कैसा नगण्य एवं तुच्छ प्रतीत होता है। किंतु वास्तव में मानव सृष्टि का श्रेष्ठ शृंगार है। समस्त विश्व में पृथ्वी के अतिरिक्त जीवन का मानव पर्यन्त विकास अन्यत्र संभव नहीं प्रतीत होता है। अतएव पृथ्वी भी नगण्य नहीं है, पृथ्वी मानो सृष्टि का मुकुट है।

कुछ लोगों का अनुमान है कि अन्तरिक्ष के अन्य ग्रहों में भी प्राणी रहते हैं और वे कभी-कभी उड़न तश्तरी (फ्लाइंग सॉसर) आदि पृथ्वी पर भेजते रहते हैं। २१ जून, १९४७ को अमेरिका के पश्चिमी तट पर मोटर बोट में बैठे हुए दो तट रक्षकों ने यह दावा किया कि उन्होंने आकाश में छह अद्भुत मशीनें देखीं और उनमें से एक मशीन का विस्फोट हो गया। इस विनष्ट मशीन में १६ धातुओं का सम्मिश्रण था जो परम विचित्र था। दो पुस्तकों "चैरियट्स आफ द गाड्स" (लेखक डा० एरिन वान डेनकिन) तथा "रिटर्न टु द स्टार्स" में कुछ अटपटे तथ्य निहित हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने एंडीज पर्वतमाला के चस्का पठार पर मीलों तक जड़े हुए चमकदार पत्थरों को देखकर भी अनोखी अटकलें की थीं। किन्तु कदाचित् ये सब कल्पना की उड़ान हैं। वास्तव में बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेप्चून तो सूर्य से इतनी दूर हैं कि वहां जीवन की उष्मा होना संभव नहीं है।

दार्शनिक डैका का विश्वास था कि जीवन पृथ्वी के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में अन्यत्र भी है। कारनेल विश्वविद्यालय के प्रो० फ्रेन्क ड्रेक तथा कार्लसगन इत्यादि अन्तरिक्ष में बुद्धिमय जीवन के अस्तित्व के प्रबल समर्थक हैं। मेरीलैंड विश्वविद्यालय के डा० सिरिल पोनेमपेरुमा का विश्वास है कि केवल हमारी आकाशगंगा में ही लाखों सभ्यताएं विद्यमान हैं। किन्तु वास्तव में जीवन के लिये कुछ द्रव्यों, गैसों तथा विशेष तापमान एवं वातावरण की आवश्यकता होती है, अतएव जीवन का अस्तित्व दुर्लभ प्रतीत होता है। विभिन्न प्रकार के ग्रहों पर विभिन्न प्रकार के जीवन के अस्तित्व की संभावना हो सकती है। मानव के सदृश प्राणी कदाचित् अन्यत्र कहीं न होगा। मानव जाति विलक्षण है तथा मानव जाति के पोषण का गौरवपूर्ण एकाधिकार केवल पृथ्वी का ही प्रतीत होता है।

पल्सर (Pulsar) तारों की खोज ने (सन् १९६७ में पल्सर की प्रथम खोज हुई) यह भ्रम दूर कर दिया है कि अन्य तारों से सभ्य प्राणी "बीप बीप" संकेत-संदेश भेज रहे हैं। वास्तव में पल्सर बहुत विशाल पुराने तारे हैं जो काले छिद्र बनने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनकी चुम्बकीय किरणें यदातदा पृथ्वी को स्पर्श करती हैं तथा संकेत का भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। पल्सर, क्वासार, सुपरनोवा, काले छिद्र, सफेद छिद्र अरबों प्रकाश वर्ष दूर स्थित हैं तथा विश्व की अनन्तता से आश्चर्यचकित कर देते हैं। जेम्स वेब्सटर के द्वारा खोजे हुए क्वाजार की दूरी २६ अरब प्रकाश वर्ष है (जो अभी तक ज्ञात दूरतम तारे की दूरी से दुगनी है) तथा पृथ्वी पर पहुंचने वाला इसका प्रकाश पृथ्वी के जन्म से पूर्व ही चल दिया था।

प्रो० जयन्त नारलिकर (ब्रिटिश खगोल भौतिकीवेत्ता फ्रेड हायल के साथ खोज करने के कारण प्रसिद्ध) की धारणा है कि ब्रह्माण्ड में सफेद छिद्र हैं तथा वे काले छिद्रों की विपरीत अवस्था हैं तथा उनके अध्ययन से सृष्टि की प्रहेलिका का रहस्योद्घाटन हो सकता है। काले छिद्र प्राचीनतम अत्यन्त विशाल तारे हैं जो अपने ही भीतरी गुरुत्वाकर्षण के अकल्पनीय अधिक दबाव में दब रहे हैं जिससे प्रत्येक वर्ग सेन्टीमीटर का भार सहस्रों टन होता है तथा जिसके कारण उनमें आन्तरिक सिकुड़न एवं विनाश की अवस्था आ गई है। वास्तव में प्राचीनतम विशाल तारे अंतिम अवस्था में आकर आन्तरिक दबाव के कारण भीतर से विनष्ट हो चुकने पर काले छिद्र के रूप में आ गये हैं। प्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक श्क्लोवास्की का मत है कि हमारी आकाशगंगा में भी एक काला छिद्र है। ब्रह्माण्ड का अकल्पनीय विस्तार एवं प्राचीनता बुद्धि को चकित कर देते हैं।

अमेरिकी वैज्ञानिक डा० लेविन कहते हैं कि हमारी आकाशगंगा (गेलेक्सी) में लगभग तीस अदृश्य विस्फोटक 'बर्स्टर' का १९७५ से पता लगा है जो अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। ये बुझते हुए पिण्ड भारी न्यूट्रोन तारे अथवा काले छिद्र हो सकते हैं जो असीम एक्सरे उत्पन्न करते हैं। ये विचित्र हैं।

पृथ्वी पर जीवन का उदय कैसे हुआ ? कुछ लोग जीवन को स्वतःप्रसूत मानते थे। रोमन कवि लूक्रीटियस ने इस मत को अपने ढंग से पुष्ट किया है। तालाब के पानी को धूप और वायु के सामने अनावृत रखने से उसमें जीव उत्पन्न होते हैं। टेस्ट ट्यूब में भी जीव उत्पन्न हो सकते हैं, किंतु यदि पानी को जीवाणुहीन (स्टेरेलाइज) कर दें और रुई से टेस्ट ट्यूब को बन्द कर दें ताकि उसमें बाहर से जीवाणु न घुस सकें तो उसमें जीव उत्पन्न नहीं होंगे। अतः अब वैज्ञानिक जीवन को स्वतःप्रसूत नहीं मानते हैं। इस सन्दर्भ में लुइ पास्चर का जीवाणु अनुसंधान विशेष महत्वपूर्ण है।

पृथ्वी पर प्रथम बार जीवन-प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में तीन मत परम्परागत रहे हैं-(१) जीवन के प्रथम जीवाणु पृथ्वी पर अन्य ग्रह से आ गये हों, (२) एक प्राकृतिक प्रक्रिया से अजैव पदार्थ से धीरे-धीरे जीवन का विकास हुआ, (३) प्रभु की इच्छा से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ।

प्रथम मत के अनुसार अन्तरिक्ष के किसी अन्य ग्रह अथवा तारे से किसी प्रकार पृथ्वी पर जीवाणु आ गये अथवा किसी उल्कापात के द्वारा उल्का में छिपा हुआ जीवाणु आ गया। एरहीनियस का मत था कि जीवित जीवाणु प्रकाश के विकिरण के द्वारा अन्यत्र से पृथ्वी पर आ गये और इस प्रकार पृथ्वी पर जीवन का बीजारोपण हुआ। कुछ अमेरिकी वैज्ञानिकों ने उल्का पिण्डों में जीवन का एक अश्मीभूत रूप सा देखा। ब्रिटिश वैज्ञानिकों (डा० गोर्डन शा तथा जेम्स ब्रुक्स) ने उल्का पिण्डों में निहित एक रासायनिक यौगिक (स्पोरोपोलेनीन) की खोज की जिससे अनुमान हो सकता है कि जीवन अन्यत्र भी है। किन्तु उल्का पिण्ड ही कहाँ से आये ? कदाचित् ये ऐस्टेरोयेड मेखला से आये हों जिसमें ऐसे शैलखण्ड हैं जो मंगल और बृहस्पति के मध्य में रहकर सूर्य की परिक्रमा करते हैं और कदाचित् वे स्वयं एक विखंडित ग्रह हो सकते हैं। किन्तु ये शैलखण्ड इतने छोटे हैं कि उन पर कोई अपना वातावरण ही नहीं है। अतएव उन पर भी जीवन होना असंभावित है। यह भी संभव है कि ये शैलखण्ड पृथ्वी के ही प्रक्षिप्त अंश हैं। फिर भी डा० गोर्डन शा का मत है कि पृथ्वी पर जीवन अजैव पदार्थ से उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि उल्का पिण्डों से ही प्रादुर्भूत हुआ। लगभग १० खरब आकाशगंगाओं वाले इस ब्रह्माण्ड से हमारी धरती पर प्रतिदिन लगभग दो सौ टन उल्का या

उल्का धूलि गिरती हैं जिनसे पृथ्वी पर जीवन के विकास का संबंध हो सकता है। यदि इस मत को स्वीकार कर भी लें तो भी समस्या ज्यों की त्यों है कि जीवन का प्रारम्भ कैसे हुआ, पृथ्वी पर अथवा अन्यत्र कहीं भी।

दूसरा मत यह है कि अजैव पदार्थ से विकास के द्वारा धीरे-धीरे जैव का प्रादुर्भाव हुआ। इसे अनेक जीवविज्ञानवेत्ता स्वीकार करते हैं कि जीवन अजीवन से उदित हुआ है। किन्तु अवश्य ही इस विकास में सर्जनात्मकता होनी चाहिये। वैज्ञानिकों में यह मत प्रायः सर्वमान्य है कि प्रत्येक प्रकार का जीवन पौधा, पशु, पक्षी, मानव (और मानव से अभिप्राय है चेतना, ज्ञान, विज्ञान, कला आदि सहित मानव) एक ऐसी प्रक्रिया से प्रादुर्भूत हुआ है जिसे विकास कहते हैं, जिसके द्वारा एक कोशिका वाले सरल अवयवी से लेकर मानव तक सर्जन हुआ। जीव विज्ञान की भाषा में जीवित देह को अवयवी अथवा अवयव संस्थान अथवा जीव कहते हैं।

विकास के इतिहास में पृथ्वी पर चैतन्यमय जीव के प्रादुर्भाव की कहानी विचित्र है। जीवन के मूलभूत तत्त्व के प्रादुर्भाव की कहानी न केवल रोचक है, विशेष महत्वपूर्ण भी है। सूर्य की अंशभूत पृथ्वी उससे पृथक् होने पर कभी एक ज्वलन पिण्ड के रूप में थी और सर्कस के घोड़े की भाँति अन्य ग्रहों के समान सूर्य के चारों ओर पहिले अनियमित, फिर नियमित चक्कर लगाने लगी। सुदीर्घ समय के पश्चात् पृथ्वी के ऊपर की पपड़ी ठंडी पड़ने लगी और अनुकूल अवसर पाते ही लगभग दो अरब वर्ष पूर्व कोई नन्हा-सा आदिम जीव उसे पौधा कहें, सैल कहें या जीवकण कहें—इतना लघु कि जिसकी कल्पना सम्भव नहीं है, एक अद्भुत और अभूतपूर्व परम सूक्ष्म जीवाणु, प्रकट हुआ। यह विलक्षण तत्त्व समस्त बाधाओं का सामना करता हुआ, अकेला ही अपना अस्तित्व संभाले हुए था। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का समस्त महावेग उसे नीचे न खींच सका और उसे ऊपर की ओर उभरने से न रोक सका। चैतन्य तत्त्व का प्राकट्य मानो संघर्ष में हुआ। जड़ता उसे पीछे और नीचे खींच रही थी और वह इच्छाशक्ति के सहारे से जड़ता को धकेलता हुआ आगे और ऊपर बढ़ रहा था, मानो पुकार रहा था "चरैवेति"। एक सैल, फिर दो सैल और इसी प्रकार सरल रूप से जटिल रूप की दिशा में उसका विकास होता रहा।

यदि लघु तृणांकुर पर पाषाणखण्ड रखा हो तो वह उस बोझ और बाधा से टकराता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा होकर सिर उभार कर ऊपर को उठने लगता है, भले ही वह दबाव से पीला पड़ जाये। चैतन्य में ही प्राणशक्ति निहित है।

गमले को उल्टा लटका देने पर भी पौधा तो ऊपर की दिशा में ही विकसित होता है। ऊपर उठना और बढ़ना मानो जीवन है, चैतन्य का सहज धर्म है।

सृष्टि क्रम का दूसरा प्रमुख अध्याय तो तब प्रारम्भ हो गया जब वनस्पति, पशु-पक्षी आदि के उत्पन्न होने पर धरती माता का सिरमौर और लाड़ला मानव अब से लगभग तीस लाख वर्ष पूर्व आविर्भूत हुआ। भीषण परिस्थितियों में जड़ता के तम से जूझता हुआ तथा अपार एवं शाश्वत जिजीविषा को हृदय में संजोये हुए चेतन जीव आगे बढ़ता ही जाता है। व्यक्ति तो मर्त्य है किंतु मनुष्य मात्र चैतन्य का प्रतीक है, अमर है, सत् है और चित् (ज्ञान) उसकी शक्ति है। जड़ जगत् में चारों ओर कारण और कार्य का सिद्धान्त प्रबल था किंतु मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति लेकर आया। जड़ पर चैतन्य की विजय होती है। चैतन्य मानव ने प्रकृति पर विजय का अभियान प्रारम्भ कर दिया और अब उसके बढ़ते चरण अन्य ग्रहों की ओर अग्रसर हो रहे हैं। कौन जाने वह क्या करके रहेगा? असीम जिजीविषा के कारण परिस्थितियों एवं पर्यावरण के साथ संघर्ष करते हुए तथा जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह प्रगतिमय विकास की ओर बढ़ता ही रहेगा। चैतन्य पर जड़ का प्रभाव उसकी प्रगति को अवरुद्ध करता है किंतु उसका परिष्कार होने पर उसकी अपनी दीप्ति ही जड़ता पर विजय पा लेती है। पशु जगत् से भिन्न, मनुष्य सीधा खड़ा होकर विचार और कर्म के दो चरणों से आगे बढ़ता जाता है। उसके नेत्र उसे सामने देखकर आगे बढ़ने में सहायक होते हैं किंतु जब वह पीछे मुड़कर कभी-कभी अपना इतिहास देखता है तब भी आगे बढ़ने के लिये कुछ सीखना ही चाहता है। चैतन्य में दिव्य प्रकाश अन्तर्निहित होता है जो उसे आगे बढ़ने की अदम्य प्रेरणा देता रहता है। जड़ पक्ष की ओर से हटकर चित् पक्ष की ओर बढ़ना मानो चैतन्य का समर्थन है। चित् से ही आशा की किरण फूटेगी तथा जीवन के गूढ़ तत्त्वों की प्राप्ति होगी। चित् पक्ष का अनुसरण ही मानव को उद्बुद्ध कर सकता है।

जीवन के प्रथम प्रादुर्भाव का तीसरा कारण दैवी इच्छा भी माना जाता है। किन्तु वास्तव में दूसरे और तीसरे कारण में परस्पर विरोध नहीं है। विकास प्रक्रिया स्वयं दैवी इच्छा का एक प्रकार प्रतीत होती है। सर जेम्स जीन्स वैज्ञानिक विश्लेषण करने के उपरान्त कहते हैं, "हम उन दार्शनिक पद्धतियों के समीप आ जाते हैं जो ब्रह्माण्ड को स्रष्टा (परमात्मा) के मन का विचार मानते हैं, जिससे केवल भौतिक प्रकार से ही सृष्टि उत्पन्न होने का तर्क निष्फल हो जाता है।" जेम्स जीन्स का मत है कि अन्तिम विश्लेषण में यह जगत् तो विचार का जगत् है और इसका सर्जन विचार (दैवी संकल्प) का

फल है। इस प्रकार वैज्ञानिक स्वयं सृष्टि के मूल में दैवी चेतना का होना स्वीकार करते हैं। मानव उस दैवी चेतना का श्रेष्ठ प्रतीक है अतएव सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्रसून है।

वेदों, पुराणों, स्मृतियों, भागवत, महाभारत आदि भारतीय ग्रन्थों में तेजोमय ब्रह्म को ही सबका बीज माना है। कुछ ऋषियों के मत में प्रकृति जीवात्माएं और परमात्मा अनादि हैं। स्वामी दयानन्द जी ने भी इस मत की पुष्टि की है। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादी उभावपि' (गीता १३।१६) अर्थात् प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसा कहने पर भी कृष्ण ब्रह्म को अनादि-मत् (गीता १३।१२) अर्थात् आदिरहित कह कर 'एकं ब्रह्म' की प्रस्थापना करते हैं। ब्रह्म सब संसार को व्याप्त करके स्थित है। 'सर्बमावृत्य तिष्ठति' (गीता १३।१३) उपनिषदों के आधार पर शंकर ने अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया। शंकर के मत में अन्तिम सत्य (अल्टीमेट रीएलिटी) एवं अनादि तत्त्व केवल ब्रह्म है। स्वामी विवेकानन्द ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है कि अनादि मूल तत्त्व एक ही हो सकता है तथा ब्रह्म में ही प्रकृति और जीवात्माएं अन्तर्निहित हैं और समस्त सृष्टि ब्रह्म का ही प्रस्फुटन एवं प्रकटीकरण (मेनीफेस्टेशन) है। वास्तव में इन विविध (त्रैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत इत्यादि) मतों में कोई दूरगामी भेद नहीं हैं। 'विज्ञानं च अविज्ञानं चाभवत्' (तैत्तरेय उप०) ब्रह्म तत्त्व ही जड़ (प्रकृति तथा चेतन) रूप में भास रहा है। ब्रह्म के दो स्वरूप हैं---जड़ प्रकृति तथा चेतन जीवात्मा। गीता (४, ५।७) में यह स्पष्ट किया गया है।

जड़ वस्तु को चैतन्य तत्त्व गति प्रदान करता है। जिस प्रकार शरीर को आत्मतत्त्व संचालित करता है, उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्म तत्त्व जड़ प्रकृति को गति दे रहा है। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है, साधारण कारण काल, आकाशादि है और निमित्त कारण (प्रमुख कारण) परमात्मा है। सृष्टि का आरम्भ एवं अन्त (प्रलय) होता रहता है। आत्म तत्त्व (अथवा व्यापक परमात्म तत्त्व) परम सूक्ष्म होकर भी परम शक्तिशाली एवं विराट् है। वास्तव में ब्रह्म अथवा ईश्वर तत्त्व ही सत् है, जगत् मिथ्या अर्थात् असत् एवं नश्वर है। अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही इस दृश्यमान जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। यही सर्वव्यापक आत्मा है और विश्व की जीवशक्ति है।

अव्यक्त ब्रह्म नित्य एवं अव्यय है और सृष्टि रचना करके भी वह अव्यय ही है। वह पूर्ण है और यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है तथा पूर्ण का पूर्ण लेकर भी पूर्ण शेष बच जाता है। बौद्धमत का शून्यवाद भी वास्तव में पूर्णत्ववाद है। शून्य को स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है---शून्य का

ज्ञान और अनुभव कौन करता है ? 'शून्य' जगत् प्रपञ्च के स्वप्नवत् मिथ्या होने का प्रतीक हो सकता है अथवा ब्रह्म की पूर्णता का। वास्तव में शून्य अनन्तता का बोधक है। शून्य मानो पूर्ण का ही प्रतीक है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परमात्मा चैतन्य स्वरूप है प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् का संघात है। सांख्य के अनुसार प्रकृति से महत्तत्त्व बुद्धि (महान्), महान् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा, फिर इन्द्रियां तथा मन, फिर पंच महाभूत (स्थूल भूत) उत्पन्न होते हैं तथा पुरुष पच्चीसवाँ तत्त्व है। तेजोमय ब्रह्म से ही स्थावर और जंगम की उत्पत्ति हुई। अविनाशी से खं (अन्तरिक्ष), खं से वायु (गति), वायु से ज्योति, ज्योति से जल, जल से जगती और जगती से जगत् उत्पन्न हुआ है। पौरुषवान् पुरुष ही हिरण्यगर्भ भी है जो शक्ति का भण्डार है। वास्तव में परमेश्वर जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है। आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती है। व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्य शक्तिरूप प्रकृति और परमाणु रूप कारण से बाह्य स्थूल जगत् को बनाकर स्वयं उसी में व्यापक होकर साक्षीभूत आनन्दस्वरूप स्थित हो रहा है। जिससे यह विविध सृष्टि उत्पन्न हुई, जो धारण और प्रलय करता है, जिस पूर्णतत्त्व में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को प्राप्त होता है, वह ब्रह्म (परमात्मा) है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।' (तैत्तिरीय उपनिषद्)

भाग २ : जीवन का मूलभूत कारण

एक जीवित शरीर संघटित अवयव संस्थान होता है जिसमें दो प्रमुख विशेषताएं होती हैं--उत्तेजनशीलता तथा उत्पादनशीलता (अथवा प्रजनन)। जीवित देह उत्तेजक (अथवा उद्दीपक) सामग्री के समुपस्थित होने पर प्रतिक्रिया करते हैं तथा उनमें आत्मस्थायीकरण (अथवा आत्म सातत्य) की क्षमता होती है। जीवित पदार्थ के पांच प्रमुख गुण होते हैं—श्वसन, पोषण, उत्सर्जन, संवेदन तथा प्रजनन। इन पांच गुणों से युक्त जीवित पदार्थ की इकाई कोशिका कहलाती है। साइटोप्लाज्म (कोशा द्रव्य) और न्यूक्लीयस (नाभिक) इस इकाई के भीतर होते हैं। जीवन के पांचों गुण दोनों के सम्मिलित रूप अर्थात् प्रोटोप्लाज्म में ही मिलते हैं, न कि केवल एक में। दोनों मिलकर ही जीवित पदार्थ कहलाते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। इनके अतिरिक्त जीवित शरीर में अन्य गुण भी होते हैं, जैसे कि भोजन का परिपाचन, अनुकूलन, पर्यावरण के

साथ समायोजन, आत्म-सम्पोषण तथा आत्म-संरक्षण। इतने गुण तो सभी जीवित अवयवियों में होते हैं किन्तु अधिक जटिल तथा समाकलित जीवों में संवेदनशीलता, चयनात्मकता, स्मृति, बुद्धि और चेतना भी समाविष्ट हो जाते हैं। हम यों कह सकते हैं कि जीवन के साथ मानस का समावेश हो जाता है। जीववैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं अध्यात्मज्ञानी निम्न से उच्च स्तर तक जीवन, मानस तथा आत्मन् के अध्ययन, अनुभव एवं अनुभूति के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। किन्तु दार्शनिक प्रश्न करता है--जीवन क्या होता है और इनका उदय एवं विलय कहां होता है ?

अजैव जगत् में अणु एवं परमाणु होते हैं और वे विभिन्न रासायनिक यौगिकों के रूप में सम्मिश्रित हो जाते हैं तथा एक विशिष्ट प्रकार से जीवित देहों के रूप में व्यवस्थित हो जाते हैं। तदनन्तर उनमें उत्तेजकता, उत्पादकता, आत्मसंपोषण आदि विचित्र गुण आविर्भूत हो जाते हैं। क्या अजैव यौगिकों, अणुओं, परमाणुओं के अतिरिक्त कोई पृथक् जीवनतत्त्व है अथवा क्या जीवन इनका एक प्रकार्य या वृत्ति है ? इस सम्बन्ध में संसार में दो प्रकार के विचारक हैं--एक (जैवशक्तिवादी) तो वे हैं जो जीवन को सब प्रकार के पदार्थ से पृथक् एक विशेष कारक अथवा तत्त्व मानते हैं तथा दूसरे (यन्त्रवादी) वे हैं जिनकी मान्यता है कि जीवन भौतिक तथा रासायनिक शक्तियों से स्वतः उत्पन्न हो जाता है तथा पृथक् तत्त्व नहीं है।

यन्त्रवादी समझते हैं कि पहाड़, नदी, पौधे, पशु-पक्षी, मानव आदि की व्याख्या करने के लिये भौतिक एवं रासायनिक सिद्धान्त ही पर्याप्त हैं। अन्ततोगत्वा कणों की गति के कारण ही जगत् के समस्त क्रियाकलाप, उत्पत्ति तथा विनाश हो रहे हैं। जटिल देहों में कुछ भी नई शक्तियों का समावेश नहीं है। बुद्धि, स्नायुतन्त्र आदि से युक्त मानवदेह में, पौधों एवं पशु-पक्षियों में भी, समान कार्बन, ऑक्सिजन, हाइड्रोजन, कैल्शियम आदि ही हैं। एक सजीव देह एक प्रकार की जटिल भौतिक रासायनिक यन्त्र रचना (अथवा यन्त्र विन्यास) मात्र होता है। अजैव से जैव और तत्पश्चात् जटिल रूपों में, जीवन स्वतः आविर्भूत होता रहता है। यन्त्रवादी विकास को भी साभिप्राय अथवा सोद्देश्य नहीं मानते हैं। हक्सले, लोएब, वीस आदि ने भारतीय चार्वाक् की भाँति चैतन्य की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया। कुछ लोग अवयवी के जीवन की तुलना घड़ी की गतिमयता से करते हैं। उनके मतानुसार कारण-कार्य नियम, गतिमय कण, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि ही जीवन की समस्या का समस्त समाधान है।

हर्बर्ट स्पेन्सर की परिभाषा के अनुसार जीवन आन्तरिक व्यवस्थाओं का बाह्य

अवस्थाओं के साथ निरन्तर समायोजन होता है । जीवन में आत्म-समायोजन, आत्म-पोषण, आत्म-संरक्षण तथा आत्म-स्थायीकरण होते हैं । निर्जीव यन्त्र (घड़ी आदि) में गति होती है किन्तु प्रजनन, आत्म समायोजन आदि गुण नहीं होते हैं। केवल पदार्थ, गति, शक्ति आदि को चरम (अन्तिम) प्रत्यय मानना अतुष्टिकर है । जीवन की व्याख्या करने में अन्य प्रत्यय जैसे चेतना, संघर्ष, इच्छा-शक्ति, अन्तः-प्रेरणा, उद्देश्य आदि की भी आवश्यकता होती है । शरीर-वैज्ञानिक हैल्डेन कहते हैं कि भौतिक जगत् एक अदृष्ट सत्य की अभिव्यक्ति है । जीवित प्राणी विकसित होते हैं, भोज्य वस्तु का चयन तथा अभोज्य का अस्वीकरण करते हैं, पर्यावरण के साथ समायोजन करते हैं, उद्दीपक वस्तुओं के लिये संवेदनशील होते हैं, आत्म-संरक्षण करते हैं तथा आत्म प्रजनन करते हैं । ये शक्तियां घड़ी, मोटर आदि जीवन-शून्य यन्त्रों में संभव नहीं होती हैं ।

पृथ्वी पर अमीबा से आदमी तक जीवन के विकास के पीछे एक योजना है, एक चित् शक्ति का हाथ है । आदि में पृथ्वी की सतह पर तत्त्वों में रासायनिक प्रक्रिया का आरंभ हुआ । तप्त पृथ्वी से उठी हुई अनन्त वाष्प उसके ऊपर घनीभूत होकर छा गई और युगों तक जल बनकर भूतल पर गिरता रहा जिससे उसके वाष्प में न्यूनता हुई और सागरों का उदय हुआ । लावा की परतों आदि में कार्बन, ग्रेनाइड आदि में आक्सीजन था और वाष्प में अमोनिया और मीथेन था, और पराबैंगनी (अल्ट्रावायलेट) किरणें सागर जल को अबाधित होकर स्पर्श कर रही थीं । पृथ्वी की गैस और लावा आदि सागर में मिश्रित होने लगे तथा नदियों के द्वारा अनेक तत्त्व समुद्र में पहुँचने लगे । हाइड्रोजन और कार्बन के संयोग से (कौस्मिक किरणों तथा विद्युत के आघात से) हाइड्रोकार्बन यौगिक बना । हाइड्रोजन और कार्बन के अणुओं के मिलते ही रहने पर हाइड्रोकार्बन सामान्य से आगे बढ़ने लगे । हाइड्रोकार्बनों में जीव की भाँति एक वर्धनशीलता थी । समुद्र तल पर प्रकाश किरणें (जिनमें पराबैंगनी किरणों का आधिक्य था) जैली बिन्दुओं को तपा रही थी । सोद्देश्य योजना की शृंखला के क्रम में जीवन के उत्प्रेरक पदार्थों (कैटालिस्ट) का महत्वपूर्ण आगमन हुआ । नदियों के जल के द्वारा समुद्र में पहुंची हुई मिट्टी प्रमुख उत्प्रेरक थी । आवश्यक अनुपात में कार्बन, आक्सीजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के साथ कुछ धातुओं का सम्मिश्रण होने पर ही जैली बिन्दुओं से जटिल प्रोटीन (रासायनिक यौगिक) का जन्म योजनाबद्ध रूप में हुआ । एंजाइम (विशेष प्रोटीन अणु) का उदय जीवन के प्रादुर्भाव की दिशा में महत्त्वपूर्ण पग था । सागर के वक्ष पर स्थित चंचल जैली बिन्दु जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) बन गये जो वास्तव में न्यूक्लीयक-एसिड के आगमन द्वारा संभव हुआ । विकास के सुनियोजित क्रम में जैली

बिन्दुओं में डी०एन०ए० का समावेश हुआ। प्रोटीन और डी०एन०ए० के मिलने पर जीवन विकास आगे बढ़ा। प्रारंभ में एक कोशिका वाले अगणित जल-पौध जल पर तैरते थे और युगों में एक कोशिका वाला जीव आया जिसके मध्य में केन्द्रक (न्यूक्लियस) था और केन्द्रक में डी० एन० ए० था। धीरे-धीरे बहुकोशिकी जीव का उदय हुआ और कोशिकाओं का कार्य विभाजन हुआ— हाथ, पांव, मुख इत्यादि। बाह्य आवरण प्रोटीन है किन्तु भीतर डी०एन०ए० है। जीवन का क्रमिक विकास सहसा नहीं हुआ बल्कि सुनियोजित है तथा कुछ सिद्धान्तों के आधार पर है। वायुमण्डल में विद्यमान ओजोन गैस की परत जीव-द्रव्यनाशक पराबैंगनी किरणों से जीवों की रक्षा करती है। जीवसृष्टि से पूर्व ओजोन की परत नहीं थी तथा उसकी आवश्यकता नहीं थी। जीवसृष्टि होने पर ओजोन की आवश्यकता हुई और उसका उदय हो गया। पराबैंगनी किरणें ओजोन से आक्सीजन बना देती हैं जो जीवन के लिए आवश्यक है। कार्बनडाई-आक्साइड वनस्पति का भोजन है और वनस्पति हमें दिन भर आक्सीजन देती है। यह व्यवस्था सृष्टि के पीछे एक नियोजक शक्ति की ओर संकेत करती है।

यदि हम जीवन के रहस्य का समाधान जीन्स के द्वारा करें तो प्रश्न उठता है कि जीन्स में ही जीवन कहाँ से आया? कोशाणुओं का अध्ययन जीवन के निम्नतम रूपों को भी अजैव जगत से पृथक् सिद्ध कर देता है। जीवन के सूक्ष्मतम रूपों में अथवा मूलभूत इकाइयों में भी एक अनिर्वचनीय अमर चैतन्य तत्त्व आधारस्वरूप विद्यमान रहता है। पुनरुत्पादन अथवा प्रजनन की प्रक्रिया के द्वारा वह अमरतत्त्व नये-नये देह और रूप को धारण कर जीवन को आगे चलाता रहता है। वैयक्तिक शरीर तो मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं किन्तु जीवन का प्रवाह अविच्छिन्न चलता रहता है। जन्म और मरण के कूलों से टकराती हुई जीवन-सरिता अविरत रूप में प्रवाहित होती रहती है। नश्वर भौतिक देह नष्ट होते रहते हैं किन्तु सन्तति के द्वारा न केवल जीवन ही बल्कि जीवों की द्रव्यात्मक विशेषताएं भी अनवरत आगे चलती रहती हैं। एक दीपक अपने बुझने से पूर्व अन्य दीपक को अपना प्रकाश सौंपकर मानो अपने को अमर बना देता है। सचमुच ही प्राणिजगत् एक विशाल दीपमालिकोत्सव है जहाँ अनन्त जीव-दीप जल रहे हैं। अपने अस्त होने से पूर्व एक दीपक दूसरे दीपक को जलाकर न केवल स्वयं अमर हो जाता है बल्कि अपनी प्रजाति को भी अमर बनाये रखता है। एक प्राणज्योति तिरोहित होने से पूर्व दूसरी प्राणज्योति को जन्म दे देती है तथा अनन्त काल तक प्राणज्योतिदीप जीवन-धारा के अक्षुण्ण प्रवाह में जग-मगाते हुए आगे बढ़ते ही रहते हैं। अथवा यों कहिए, एक विशाल जलराशि है जिसमें निरन्तर गति के कारण, ऊपर तल पर वायु, मिट्टी आदि के सम्पर्क में

आकर, वारि ही वीचियों, बुदबुदों आदि के रूप में प्रकट होता रहता है और वीचि बुद्बुद् आदि उससे उत्पन्न होकर उसी में समाते रहते हैं तथा यह क्रम समाप्त नहीं होता है। जन्म और मरण एक खेल मात्र है, एक रूपान्तर के दो पहलू हैं। अमरतत्व अमर ही रहता है और नश्वर देह नष्ट होते रहते हैं।

मर्त्य लोक की विनाश लीला के मध्य में चैतन्य तत्त्व व्यष्टि और समष्टि के रूप में अमर ही रहता है शरीर जिन कोशाणु (सेल) नामक इकाइयों से निर्मित होता है, वे दो प्रकार के होते हैं—मरणशील (नश्वर, मर्त्य, दैहिक, सोमेटिक) तथा अमर (अनश्वर, प्रजनक, उत्पादक, सदाजीवी, रिप्रोडक्टिव)। मरणशील कोशाणुओं के द्वारा विविध धातु तथा अवयव निर्मित होते हैं और देह के साथ ही उनकी इतिश्री हो जाती है। अमर, प्रजनक कोशाणु (डिम्बाणु अथवा ओवा तथा शुक्राणु अथवा स्परमेटोजोआ इसी कोटि में होते हैं) स्वयं तो अमर होते ही हैं, वे मूल प्राणी की सन्तति अनुवृत्ति को भी जीवित (अमर) बनाये रखते हैं। वृषणों में शुक्राणुओं का सृजन होता है। शुक्राणुओं के निर्गमन होने से पूर्व उसे एक ग्रंथि (काडपर्स ग्रन्थि) से निस्सृत तरल वीर्य मिल जाता हैं। सेक्स सर्जनात्मक प्रवृत्ति की प्रमुख प्रेरक एवं चालक दैवी शक्ति है यद्यपि प्रायः इसे पाशविक मान कर अपराध प्रेरक सिद्ध किया जाता है। एक रहस्यमय प्रकार से नर और मादा के डिम्बाणु तथा शुक्राणु के परस्पर मिलने पर कोशिका युग्मज के रूप में नई ही एक पूर्ण इकाई (Zygote ज़ाइगोट) बन जाती है जो कि एक नये प्राणी का प्रारम्भिक बीज बन कर उसके जन्म का कारण बन जाती है। इस नई इकाई के रूप में सर्वप्रथम वह एकाकी अमर कोशाणु होता है, जो क्रमशः एक से दो, दो से चार, चार से आठ और इसी प्रकार द्विगुण कोशाणुओं का कारण बन जाता है और इस प्रकार धीरे-धीरे मूलवर्ती एक अमर कोशाणु के चारों ओर नये मर्त्य कोशाणु एकत्रित हो जाते हैं और इस संघात से अवयव और धातुओं का निर्माण हो जाता है तथा देह विनिर्मित होने लगता है जिसमें लगभग ६० खरब कोशिकाएं कूती गई हैं। एक अवस्था आने पर जब देह का पूर्ण निर्माण हो जाता है, इन नश्वर कोशाणुओं की संख्या का बढ़ना भी बन्द हो जाता है और संख्या स्थिर हो जाती है। यह मूलवर्ती कोशाणु नश्वर कोशाणुओं के मध्य में अमर रहता है। इस प्रकार कोशाणु (डिम्बाणु, शुक्राणु) में से उसके समान अन्य अमर कोशाणु भी आविर्भूत होते हैं जो जीवन के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। एक अद्भुत प्रक्रिया है जिससे मूलभूत अमर कोशाणु इकाई नश्वर कोशाणुओं को अपने चारों ओर आवश्यकतानुसार मात्रा में जुटा कर देह निर्माण एवं जन्म का कारण हो जाती है तथा एक अवधि के पश्चात् वे नश्वर कोशाणु विनष्ट होकर देह की मृत्यु का कारण बन जाते हैं। इस प्रकार

से अमर चैतन्य तत्त्व ही देह के जन्म, विकास और मृत्यु आदि लीला का कारण है।

कौन इस रहस्यमयी गुत्थी को सुलझा सकता है कि वनस्पति जगत् में किस प्रकार से परम लघु वटबीज समय पाकर धीरे-धीरे विशाल वट बृक्ष बन जाता है, जिसमें से असंख्य जटा-जूट, पत्र-फल आदि प्रस्फुटित हो जाते हैं। एक सूक्ष्म बीज प्रस्फुटित, पुष्पित, पल्लवित फलित, होकर हमें अपनी प्रच्छन्न विशालता से आश्चर्यचकित कर देता है। किस प्रकार एक अमर जीव रूपी कोशाणु अपने मूल अधिष्ठान (मूल प्राणी) के गुण-दोष, स्वभाव, अंग-प्रत्यंग, प्रवृत्तियों, विषमताओं आदि का सन्तति में प्रवहन कर उसके कोशाणु को भी अमर कर देता है, एक आश्चर्य है। उत्पादक डिम्बाणु, कोशाणु एक अद्भुत चमत्कार है। देह में सभी कुछ कोशिकामय है। त्वचा कोशिकामय, हृदय, यकृत और मस्तिष्क कोशिकामय, सब कोशिकामय। प्रत्येक कोशिका का केन्द्र-बिन्दु (न्यूक्लीयस) है। प्रत्येक कोशिका इतनी छोटी है कि पिन की घुण्डी के समान स्थान में लाखों कोशिकाएं समा सकती हैं। कोशिकाएँ मिलकर ऊतक (टिशू) बनाती हैं, ऊतक मिलकर अंग बनाते हैं और अंग मिलकर प्राणी की शरीर रचना करते हैं। अमर कोशाणु के द्विभाजन के काल में (जब एक से दो हो जाते हैं) कोशाणु की न्यष्टि (केन्द्र, न्यूक्लीयस) का ऐसा विभाजन होता है कि उसमें से कुछ सूक्ष्म धागेनुमा रचनाएं आविर्भूत होती हैं जिन्हें गुणसूत्र (वर्णसूत्र, पित्र्यसूत्र, क्रोमोसोम) कहा जाता है। गुणसूत्र न्यष्टि में संस्थित होते हैं जो परम सूक्ष्म होते हैं। गुणसूत्र सामान्यतः युग्मों में रहते हैं तथा प्रत्येक प्राणी-जाति में इन सूत्रों की संख्या विनिश्चित एवं सुस्थिर ही रहती है। मानव जाति में यह संख्या ४६ (अथवा २३ युग्म) है। इन युग्मित छियालीस गुण सूत्रों में बाईस युग्म नर-नारी में समान होते हैं किन्तु एक युग्म स्त्री-पुरुष का भेद करने वाला भिन्न होता है। बाईस युग्म त्वचा, वर्ण, मुख, नासिका आदि की आकृति और व्यक्तित्व को निर्धारित करते हैं। तेईसवाँ युग्म सेक्स निर्धारित करता है, अतएव उसे लिंग सूत्र (सेक्स क्रोमोसोम) कहते हैं। स्त्री में इस तेईसवें युग्म के दोनों सूत्र समान होते हैं अतएव उन्हें एक्स एक्स कहते हैं तथा पुरुष में दोनों भिन्न होते हैं अतएव उन्हें एक्स वाई कहते हैं। यद्यपि डिम्ब कोशिका की अपेक्षा शुक्राणु छोटा है, डिम्ब कोशिका निस्पन्द होती है और शुक्राणु अत्यन्त गतिशील। शुक्राणु के डिम्ब कोशिकाओं में प्रवेश करने से निषेचन होता है और इस मिलन से बनी हुई युग्मज इकाई में पूरे छियालीस गुणसूत्र होते हैं, आधे (तेईस) माता के तथा शेष आधे (तेईस) पिता के। शुक्राणु के एक्स वाई से एक्स के निर्गमन होने पर, डिम्ब के एक्स से मिलने पर कन्या तथा शुक्राणु के

अन्त में दिए गए शुद्धिपत्र से शुद्ध कीजिए।

एक्स वाई से वाई के निर्गमन होने पर, डिम्ब के एक्स से मिलने पर पुत्र का जन्म होता है। ये गुण सूत्र ही गर्भस्थ भ्रूण के यौन का निश्चय करते हैं। ये सूत्र सन्तति में जातिगत गुण-दोष, आकृति, स्वभाव आदि विशेषताओं के अतिरिक्त लिंग-भिन्नता तथा माता-पिता के गुण-दोष, आकृति, स्वभाव आदि का भी अनुवर्तन अनुवाहन (अनुवृत्ति वहन) करते हैं। वास्तव में यह वहन का रहस्यमय कार्य गुणसूत्रों में संस्थित "जीन" (पित्र्यैक, गुणघट, जन, जीन) करती हैं जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से क्रोमोसोम के साथ डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए० का उल्लेख करना परम आवश्यक है। जीन्स संगठन (स्ट्रक्चर), चालक (आपरेटर), नियामक (रेगुलेटर) का कार्य करते हैं। संश्लेषित जीन्स द्वारा रोगों का निराकरण भी सम्भव है। जीन्स पर खुराना आदि वैज्ञानिक गवेषणा कर रहे हैं किन्तु अभी निश्चयात्मक परिणाम स्पष्ट नहीं हैं। जीन सिद्धान्त के जन्मदाता टी० एच० मौर्गन हैं।

जीवद्रव्य के परम सूक्ष्म कण से जटिल मानव-देह तक विकास होने की समुचित व्याख्या आकाश में कणों के सहसा संचयन अथवा समुच्चय हो जाने से नहीं कर सकते हैं। जीवन एक आनुषंगिक घटना नहीं हो सकती है। जीवन को कणों के आकस्मिक समुच्चय का फल मान लेना सन्तोषजनक नहीं है। यंत्रवादी मानते हैं कि आकस्मिक संयोगों से ही सब कुछ होना संभव है। विकास की प्रक्रिया में अजैव से जैव का धीरे-धीरे आविर्भाव होना प्रायः सर्व-मान्य ही है किन्तु यह भी प्रायः सर्वमान्य ही होता जा रहा है कि जीवन एक आकस्मिक घटना नहीं है तथा इसके पृष्ठ में कोई अद्भुत तत्त्व है। बेन्जेमिन मूर अपनी पुस्तक 'जीवन का उद्गम और उसकी प्रकृति' में कहते हैं—"पृथ्वी माता के गर्भ में जीवन आकस्मिक संयोगों अथवा केवल कणों के कारण नहीं आ गया बल्कि एक सुव्यवस्थित विकास के कारण आया है।" इसी प्रकार हेन्डरसन कहते हैं कि पृथ्वी पर जीवन के आविर्भाव की व्याख्या कुछ नियमों से ही कर सकते हैं, जिन्हें हम नहीं जानते हैं। पृथ्वी के कोने-कोने में, पृथ्वी की दरारों में, पर्वतों के शिखरों पर, समुद्र की गहराइयों में, बर्फ में, मरुभूमि में —सर्वत्र जीवन आविर्भूत होकर निरन्तर संघर्ष करते हुए, पर्यावरण के साथ समायोजन करते हुए, येनकेन प्रकारेण आत्मसंरक्षण कर रहा है।

जीवन का मूलभूत कारण कोई अभौतिक, अपदार्थतत्त्व, सिद्धान्त एवं शक्ति है। अरस्तु की मान्यता थी कि आत्मा जीवन का कारण एवं संस्थान है। उनके अनुसार पौधों की आत्मा उद्भिज्ज अथवा वानस्पतिक होती है, पशुओं की आत्मा वानस्पतिक और संवेदनशील होती है तथा मनुष्यों की आत्मा वानस्पतिक, संवेदन-शील तथा तर्कणापरक होती है। प्रसिद्ध दार्शनिक डैका वनस्पति, पशु और मानव

के देहों को यन्त्र मानता था किन्तु फिर भी वह कहता था कि केवल मानव के देह पर एक आध्यात्मिक तत्त्व का प्रभाव होता है। जर्मनी के प्रमुख जीव वैज्ञानिक हेन्स ड्रीश ने स्पष्टतः अपदार्थ तत्त्व को जीवन का कारण माना है और उसे 'साइकौयड' कहा है । मेथ्यूज जीवन में संघर्ष के तत्त्व पर विशेष बल देते हैं । और विकास को जीवन का संघर्ष बताते हैं । पर्यावरण के पदार्थ से ऊपर उठकर जीवन उस पर विजयी होने का प्रयत्न एवं संघर्ष करता है तथा स्वतन्त्र होना चाहता है । वैज्ञानिक व्हाइट हैड कहते हैं कि समस्त विज्ञान अब जीवित अवयव संस्थानों का अध्ययन होता जा रहा है ।

यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि अजैव अणुओं पर परमाणुओं के आकस्मिक समूहीकरण से जैव सम्पूर्ण इकाई बन सकती है, तब भी अवश्य ही विकास की प्रक्रिया में एक सृजनात्मक माध्यम की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होती है । वह आद्य संचालक अथवा प्रधान प्रेरक तत्त्व क्या है ? अरस्तु उसे आद्य प्रेरक (प्राइमस मोबाइल) कहते थे, प्लेटो उसे विश्व-निर्माता (डेमियरगस) कहते थे, एनेक्सेगोरस उसे मानस (नोअस) कहते थे । इसी प्रकार ब्रूनो और स्पिनोजा ने उसे 'नेचरा नेचरन्स', हेगल ने उसे परम विचार (एबसेलूट आइडिया), फिक्टे ने उसे परम अहम् (एबसेलूट ईगो), शेलिंग ने उसे विशुद्ध सृजनात्मक शक्ति, शापनहावर ने उसे परम इच्छा अथवा परम संकल्प की संज्ञा दी । कदाचित् नीटशे ने उसे ही सत्ता के लिये संकल्प, वान हार्ट मान ने उसे अचेतन संकल्प, फेकनर ने विश्वात्मा, वन्ड्ट ने उसे विश्वव्यापी संकल्प, स्पेन्सर ने उसे अज्ञेय, मेथ्यू आरनोल्ड ने उसे सदाचार-प्रेरक तथा कुछ आदर्शवादियों ने उसे परम अहम् कहा है । विविध धर्म उसे ईश्वर कहते हैं । बर्गसोन ने 'इलान विटाल' के रूप में एक आदि तत्त्व की ऐसी कल्पना की कि वह एक मौलिक सिद्धान्त है, मौलिक तथ्य है जो पदार्थ में भी सर्वत्र व्याप्त रहता है । यह तत्त्व विकास क्रिया के मूल में निहित है, उसका आधार ही है तथा उसे दिशा प्रदान करता है । सदा विस्तरणशील यह तत्त्व ही जीवन के रूप में प्रस्फुटित होता है । जीवद्रव्य में आगे बढ़ने और ढेलने की ऊर्जस्विता इस तत्त्व के कारण ही होती है । जीवन का विकास एक सर्जन है जो एक आन्तरिक गतिमयता के द्वारा होता है । इस प्रकार बर्गसोन ने 'इलान विटाल' का वर्णन लगभग वेदान्त के ब्रह्म की भाँति किया है । लौयड मौर्गन ने इस मूल क्रिया का वर्णन भी लगभग इसी प्रकार किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईश्वर तत्त्व का ही विवेचन कर रहा है । वैज्ञानिक विलियम पेटन ने भी इस तत्त्व की इसी प्रकार व्याख्या की है । पेटन कहते हैं कि जीवन की अपेक्षा भी अधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण कोई ब्रह्माण्डीय प्रेरक शक्ति है

जिसका प्रस्फुटन मानो समूचे विश्व में हो रहा है। वैज्ञानिक एडिंगटन तो स्पष्टतः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विश्व का मूल तत्त्व चैतन्य स्वरूप है। 'समस्त भौतिक जगत् में एक अज्ञात तत्त्व परिव्याप्त है जो हमारी चेतना के ही समान है।' इस वाक्य में एडिंगटन मानो ब्रह्मतत्त्व और आत्मतत्त्व की प्रस्थापना कर रहे हैं। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।"

अर्थात् इस देह में यह जीवात्मा ब्रह्म का ही सनातन अंश है। जिस प्रकार विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश घटों से पृथक्-पृथक्-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में एकीरूप से स्थित हुआ परमात्मा पृथक्-पृथक्-सा प्रतीत होता है। इसी कारण से देहों में स्थित जीवात्मा ब्रह्म का ही सनातन अंश है। वही इन प्रकृतिस्थ मन तथा पाँच इन्द्रियों को आकर्षित करता है। इसे ही तुलसीदास ने सरल भाषा में कहा 'ईस्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी'। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों का परस्पर सम्मिश्रण, पृथकीकरण, परिवर्तन, रूपान्तर करने वाला तथा प्रकृति में सन्तुलन को सुरक्षित रखने वाला परम सूक्ष्म चैतन्य ईश्वर तत्त्व है।

जीव वैज्ञानिक विलियम मोर्टन ह्वीलर ने अणुओं, कोशाणुओं के स्वयं व्यवस्थित हो जाने की समस्या का समाधान यह कहकर किया है कि वे सामाजिक हैं। किन्तु प्रोटोन और इलेक्ट्रोन स्वयं व्यवस्थित होकर अणु तथा जीवित कोशाणु पौधे, पशु और मानव क्यों और कैसे बन जाते हैं? अजैव और जैब के बीच की कड़ी क्या है? अजैव और जैव का सम्बन्ध क्या है? क्या अजैव से जैव उत्पन्न हुआ है और कैसे? वास्तव में एक ही मूलतत्त्व ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है और उसी के कारण पहिले अजैव का और तदन्तर अजैव से जैव का आविर्भाव हुआ है। अरस्तु ने कहा था कि वस्तुएं रात्रि और अन्ध-व्यवस्था से आविर्भूत नहीं होती हैं। परम तत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) के द्वारा अजैव पदार्थ उत्पन्न हुआ तथा उसमें से परमतत्त्व के द्वारा ही जीवन का आविर्भाव हुआ और तत्पश्चात् पर्यावरण की शक्तियों के अनुरूप सृजनात्मक समायोजन के द्वारा क्रमशः चेतना, मानस, दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य आदि का आविर्भाव हुआ। वैज्ञानिक मौर्गन स्पष्टतः इस प्रक्रिया के मूल में ईश्वरतत्त्व (सर्वव्यापक चैतन्यस्वरूप परात्पर ब्रह्म) के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसका प्रबल प्रतिपादन करता है। विकासवाद निरन्तर प्रगति एवं आशा का सिद्धान्त है जो मूलाधार ईश्वरतत्त्व का समर्थन करता है।

प्रकृति में नये अभिकल्प (मॉडल, डिज़ाइन) आते रहते हैं और पुराने लुप्त होते जाते हैं। जैसे मोटरकार के नये मॉडल आते रहते हैं जिससे उसके पृष्ठ में एक बुद्धि का होना प्रमाणित होता है, वैसे ही पशु-पक्षी, वनस्पति में भी नये अभिकल्प प्रकट होते रहते हैं तथा पुराने लुप्त होते रहते हैं जिससे विकासवाद के मूल में एक बुद्धिमय चैतन्य सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्रकृति का सोद्देश्य होना भी ईश्वरतत्त्व को प्रमाणित करता है। पौधे, पशु और मानव के देह यंत्रवत् हैं जिनमें एक विचित्र समायोजन शक्ति है किन्तु समस्त विश्व ही एक बृहद् यंत्र प्रतीत होता है। यदि मोटरकार के निर्माण का भी एक अभिप्राय अथवा उद्देश्य होता है तो विश्व का आविर्भाव भी सोद्देश्य होना चाहिए। विश्वस्रष्टा का अस्तित्व और सृष्टि की सोद्देश्यता दोनों अवश्य होने चाहियें। दार्शनिकों ने प्रारम्भ से ही इस सोद्देश्यता के पृष्ठ में एक अनिवर्चनीय, अद्भुत एवं रहस्यमय चैतन्य तत्त्व की कल्पना विविध प्रकार से की है।

यूनान में एनेक्जेगोरस ने कहा कि सृष्टि अणुओं से निर्मित हुई है और अणुओं का संचालन और व्यवस्था करने वाली मूलभूत कारण एक शक्ति है--आत्मन्। इसके पश्चात् सुकरात ने एक प्रकार से यह तो स्वीकार किया कि संसार एक विशाल यंत्र है और देह भी एक यंत्र है किन्तु यह भी कहा कि इन यन्त्रों का निर्माण किसी विलक्षण बुद्धि ने किया है, अतः स्रष्टा केवलमात्र मूल कारण ही नहीं है बल्कि बुद्धिमय भी है तथा वह बढ़ई या घड़ी बनाने वाले की भाँति है। सुकरात का शिष्य अफलातून (प्लेटो) और आगे बढ़ा तथा उसने बुद्धिवाद पर बल देते हुए कहा कि विश्व के अन्तिम सत्य तो विचार हैं और हमें शाश्वत मूल्यों का अनुकरण करना चाहिए। प्लेटो के शिष्य अरस्तु इससे भी आगे बढ़ गये और उन्होंने विश्व की प्रत्येक वस्तु को सोद्देश्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि प्रमुख संचालक (ईश्वर) संसार का संचालन आकर्षण के द्वारा करते हैं। यूनानी दार्शनिक डेमोक्रीट्स, एपीक्यूरस और ल्यूक्रीटियस इस सोद्देश्यता के विरुद्ध थे। डेका, स्पिनोजा और हौब्स ने भी सोद्देश्यता का ही विरोध किया और देह को केवलमात्र यंत्र की ही मान्यता दी। फ्रांसिस बेकन ने कुछ अटपटे ढंग से कहा कि उद्देश्य विश्व को समझना नहीं बल्कि विश्व का उपयोग करना, उस पर नियन्त्रण करना तथा उससे स्वार्थसिद्धि करना है। किन्तु ब्रूनो, न्यूटन, लाइबनीज, वोल्टेयर, गेटे, मिल इत्यादि ने प्रकृति में सोद्देश्यता का प्रबल समर्थन किया। डार्विन ने सोद्देश्यता तथा स्रष्टा के अस्तित्व पर प्रबल प्रहार किया है।

किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक एवं विचारक प्रकृति की सोद्देश्यता तथा उसके

पृष्ठ में किसी नियामक तत्त्व के अस्तित्व पर बल डाल रहे हैं। प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपने लेखों के द्वारा यह विचार स्पष्ट किया है कि प्रकृति में व्यवस्था है, नियमों में सार्वभौमता है और विश्व में एक महान् अभिकल्प (डिज़ाइन) है तथा समग्र में एक प्रतिकृति (पैटर्न) है जिससे यह सिद्ध होता है कि कोई अनन्त बुद्धि है जो विश्व में एक व्यवस्था रखती है तथा विश्व कोई स्वतन्त्र यन्त्र नहीं बल्कि इसका कोई हितकारी उद्देश्य है। यह विचार उन दो प्रसिद्ध पुस्तकों का सारांश है, जिनमें प्रमुखतम वैज्ञानिकों के लेखों का संकलन हुआ है। 'हेज साइन्स डिस्कवर्ड गॉड ? ए सिम्पोजियम ऑफ माडर्न साइन्टिफिक ओपीनियन' नामक पुस्तक में मिलिकन, मेथर, एडिंगटन, आईन्स-टीन, जूलियन हक्सले, मैक् डूगल, जीन्स इत्यादि सोलह प्रमुख वैज्ञानिकों के विचारों का संकलन है तथा इसी प्रकार से 'द ग्रेट डिज़ाइन' में रौबर्ट ऐटकेन्स, लौयड मौर्गन, सर आलिवर लाज, हेन्स डीश इत्यादि चौदह प्रमुख वैज्ञानिकों के समान विचारों को संकलित किया गया है।

डार्विन ने विकास प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अजैव जगत् में सोद्देश्यता का खण्डन किया किन्तु अब हेन्डरसन आदि वैज्ञानिकों ने सोद्देश्यता को बल-पूर्वक प्रस्थापित किया है। हेन्डरसन कहते हैं कि पृथ्वी पर जीवन के अवतरण से पूर्व पृथ्वी के पर्यावरण में उसके लिए तैयारी हो रही थी और इस प्रकार अजैव जगत् भी सोद्देश्य है, जैव जगत् की सोद्देश्यता तो स्पष्ट सिद्ध है ही। इस मत का प्रतिपादन करते हुए हेन्डरसन कहते हैं कि पृथ्वी के धरातल के शीतल अर्थात् जीवन धारण के लिए उपयुक्त होते ही इस पर ऑक्सिजन, हाइड्रोजन, कार्बन आदि की उचित मात्रा पृथ्वी पर आ गई। पेय जल, वायु, समतायुक्त समुद्र, वर्षा, शीतकाल में भी न जमने वाली नदियाँ, झील, ऋतुएं, धातुएं, आदि आविर्भूत होकर तथा जीवन के अवतरण के अनुकूल बनकर उसकी प्रतीक्षा में थे मानो यह उस अवतरण के लिए एक तैयारी थी। यह भी कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि भूपटल के नीचे पृथ्वी के गर्भ में पैट्रोल, धातुएं, गैस आदि मानव के अवतरण से पूर्व ही एकत्रित करके रख दिये गये और मानव के द्वारा उनके उत्खनन, उपयोग आदि से बिखेरने पर प्रकृति उन्हें फिर समेटती रहती है। जीवन एक निरुद्देश्य एवं आकस्मिक घटना नहीं मानी जा सकती है तथा सृष्टि भी व्यवस्था से रहित नहीं है। व्यवस्था किसी अद्भुत चैतन्य सत्ता के द्वारा होती है।

किसी अद्भुत दिव्य तत्त्व ने पृथ्वी को सूर्य से इतनी दूरी पर रखा कि उस पर जीवन के सम्पोषण के योग्य उष्णता रह सके। यदि पृथ्वी सूर्य के कुछ ही अधिक निकट होती तो जीवन का उदय संभव ही न होता और जीवित प्राणी भस्मसात् हो

जाते। यदि पृथ्वी सूर्य से कुछ ही अधिक दूर होती तो सर्वत्र बर्फ होती और जीवन का अस्तित्व ही असंभव हो जाता। पृथ्वी के लिए सूर्य न केवल जीवन-प्रद है, प्रकाशप्रद भी है। खगोलविद् इसे स्वीकार करते हैं कि सूर्य अथवा सौर ऊर्जा ही पृथ्वी पर समस्त जीवन का स्रोत है तथा वह ऋतुचक्र तथा सम्पूर्ण जीवनचक्र का प्रमुख रूप से कारण है। सूर्य लगभग प्रत्येक दो घंटा चालीस मिनट में एक बार हृदय की भाँति स्पन्दन करता है जिसका कारण कदाचित् गुरुत्व तरगें हों। सूर्य को हाइड्रोजन गैस की गेंद कहने के बजाय एक नाभिकीय (न्यूक्लीयर) भट्टी कहना उचित है तथा यह ठोस, द्रव्य, गैस के अतिरिक्त एक चौथे तत्त्व (प्लाज्मा) से निर्मित है जिसमें परमाणु (एटम) विद्युदणुओं (इलेक्ट्रोन) से रहित है तथा प्रत्येक परमाणु में तूफान उठा हुआ है। हमारी गैलेक्सी के एक सिरे के पास पाँच अरब वर्ष पूर्व हाइड्रोजन के विशाल बादल के भँवर का रूप लेने पर भीतरी दबाव के कारण उसमें एक नाभिकीय अग्नि प्रज्वलित हो गई और उसने एक कढ़ाव का रूप धारण कर लिया जिसे हम सूर्य कहते हैं। सूर्य प्रति सैकिण्ड साठ करोड़ टन हाइड्रोजन को हेलियम में रूपान्तरित कर देता है तथा इस प्रक्रिया में प्रकाश का भी जन्म होता है जिससे पृथ्वी पर जीवन चलता है। नौ ग्रह तथा उनके चन्द्रमा इत्यादि सब मिलकर सूर्य का दशमलव एक अंश मात्र हैं। जिस प्रकाश को हम आज देख रहे हैं उसने सूर्य के हृदय से कई हजार वर्ष पूर्व निकलने का संघर्ष प्रारम्भ किया था। सूर्य अपनी आयु के मध्य पर है तथा अभी पांच अरब वर्ष और चमकेगा। सूर्य अन्य तारों के सहित हमारी गेलेक्सी के केन्द्र का एक चक्कर २५ करोड़ वर्ष में लगा लेता है। अपनी आयु के अन्त में सुकड़कर यह ठोस पृथ्वी की भाँति छोटा-सा रह जायेगा। सूर्य से निरन्तर एक गैस निकलती है जो उससे दूर होने पर घनत्व में घटती जाती है। सूर्य के चारों ओर सौरवायुमण्डल है तथा पृथ्वी इस सौरमण्डल के बाह्य भाग में स्थित है। यह सौरवायुमण्डल पृथ्वी के जीवन के लिए परम सहायक है। पृथ्वी के लिए रात्रि में एक अन्य विशाल आकाशदीप चन्द्रमा है। कौन जाने कि इस मध्यस्थ उपग्रह (चन्द्रमा) का कुछ अन्य महत्त्व भी हो, उसके अस्तित्व के द्वारा पृथ्वी पर ऑक्सिजन, कार्बन आदि का निर्माण संभव हुआ हो और जीवन के अनुकूल सूर्य-ताप को न्यून करने में इससे सहायता मिली हो। दशानुकूलन सदैव सोद्देश्य होता है।

वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हैं कि एक ओर सूर्य के रूप में दहकती हुई प्रचंड भट्टी है और दूसरी ओर ठोस पृथ्वी। पृथ्वी पर जीव के अवतरण से बहुत पूर्व, दैवी योजना के अनुसार, जैविक सृजनात्मकता में सहायता करने के हेतु तथा जीवों के श्वसन द्वारा उनकी प्राणरक्षा के हेतु मध्यस्थ के रूप में वनस्पति

जगत् का उदय हो गया और उसने पृथ्वी के लिए सूर्य के भयंकर विकिरण को कोमल बना दिया। प्रारम्भ में पृथ्वी पर प्राणवायु (आक्सीजन) अत्यन्त अल्प थी किन्तु वनस्पति जगत् के विस्तार से क्लोरोफिल द्वारा उसका भी विस्तार हो गया तथा पृथ्वी पर जीवों का उद्भव एवं उनका जीवनरक्षण संभव हो गया। वनस्पति जगत् न केवल वर्षा आदि होने में सहायक है बल्कि जीवों द्वारा विसर्जित, वातावरण को दूषित करने वाली गैसों (कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन) को ग्रहण कर उन्हें प्राणवायु के रूप में परिवर्तित करके पुनः जीव जगत् को दे देता है तथा एक आवश्यक सन्तुलन बनाये रखता है।

इस प्रकार विश्व एक विशाल यंत्र तथा सभी वस्तुएं उनके पुरजे हो सकते हैं किन्तु इसमें एक व्यवस्था एवं सोद्देश्यता है जो यन्त्र की अपेक्षा महत्तर एक अद्भुत नियामक शक्ति एवं बुद्धि का परिचय देती है। कारण और कार्य का सिद्धान्त अजैव जगत् के लिये है किन्तु उसके साथ ही साधन और साध्य का सिद्धान्त भी जुड़ा हुआ है। अजैव जगत् साधन है और जीवन साध्य है। सांगोपांग जीवित देह भी जीवन का एक सोद्देश्य साधन मात्र है। सोद्देश्यता विश्व में सर्वत्र व्याप्त है, स्फुट है। जीवित देह की तुलना एक सुशासित राष्ट्रमण्डल (कामनवैल्थ) से करते हुए अरस्तु भी उसकी सोद्देश्यता ही सिद्ध कर रहे थे। देह अंगों और उपांगों के लिए तथा अंग-उपांग देह के लिये होते हैं। अंश सम्पूर्ण की अधीनता स्वीकार करता है तथा उसी के लिए होता है। कान्ट ने इसे सोद्देश्य संरचना कहा है। सोद्देश्य सांगोपांग देह बाह्य पर्यावरण के साथ समायोजन करके जीवन-धारण में सहायता करता है।

परम लघु जीवित देह (अवयव संस्थान) भी कुछ वस्तुओं को ग्रहण एवं स्वीकार तथा अन्य को अस्वीकृत कर देता है। वृक्ष की मूल भी मिट्टी से कुछ तत्त्व ग्रहण करती है तथा अन्य को अस्वीकृत कर देती है। इस स्वीकरण तथा अस्वीकरण में सोद्देश्यता होती है। पक्षी के द्वारा नीड़ निर्माण के पृष्ठ में अण्डे देने, उन्हें सेकर बच्चों को जन्म देने तथा उनका परिपालन करने का उद्देश्य प्रच्छन्न रहता है। इस प्रकार विकास प्रक्रिया में ग्रहण तथा अग्रहण होता है और उसमें एक ही दिशा होती है। विकास प्रक्रिया सृजनात्मक होती है। इसमें स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष रहता है तथा इसमें सहयोग, परस्पर सेवा निहित होते हैं। यह मानो पूर्णत्व की ओर बढ़ने की एक प्रक्रिया होती है।

जैव तथा अजैव जगत् में एक अभिकल्प (डिज़ाइन) तथा सोद्देश्यता का होना अपने पृष्ठ में एक चिन्तन एवं कल्पना करने वाले महान् बुद्धिमय आत्मन् के अस्तित्व की ओर संकेत करता है, जिसके द्वारा रचना से पूर्व यह सृष्टि उसका एक विचार मात्र थी। यदि सृष्टि में उद्देश्य है तो उसका संस्थान

आत्मन् भी होना चाहिए। कदाचित् जगत् उस अप्रतिम, अद्भुत आत्मन् के विचार का प्रक्षिप्त अथवा बहिर्विष्ट प्रकल्प मात्र है। जगत् अनन्त एवं परम आत्मन् की अभिव्यक्ति है। वह विश्वात्मा है। विकास प्रक्रिया के मूल में वही दिशा-प्रदायक प्रेरक तत्त्व है। फिक्टे, हीगल, फेकनर, लोत्ज, वन्द्ट, ब्रेडले, रायस, ब्राउनी आदि ने ऐसे परम आत्मन् के अस्तित्व का प्रबल समर्थन किया है। विश्व-सृष्टि की योजना परम आत्मन् में यदि न भी हो, तब भी परम आत्मन् सृष्टि का मूल कारण है। वह जैव और अजैव जगत् में व्याप्त है। अन्ततोगत्वा विश्व में सर्वव्यापक चैतन्य की ही सत्ता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।' सृष्टि से पूर्व यह जगत् ब्रह्म में ही अन्तर्निहित था, ब्रह्म से ही इसकी सृष्टि हुई, ब्रह्म ही इसमें व्याप्त है तथा ब्रह्म में ही यह प्रलीन होगा। आधुनिक वैज्ञानिक तो मानो तपःपूत ऋषियों की ही वाणी बोलकर सनातन, परम ब्रह्म के अस्तित्व एवं प्रभुत्व का ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

जैसे सूत्रधार नाटक की रचना करता है किन्तु स्वयं पीछे अदृश्य ही रहता है, वैसे ही अव्यय तत्त्व, प्रभु है। नाटक में लोग प्रायः अभिनय और अभिनेताओं की प्रशंसा करते हैं किन्तु यह नहीं सोचते कि इसके परे भी कुछ है जो इसका मूल आधार है। परम सत्ता निर्गुण और अव्यक्त है। सृष्टि-रचना जादू का सा खेल है। हम जानते हैं कि बिन्दु की न लम्बाई होती है न चौड़ाई किन्तु उसकी गतिमयता से रेखा बन जाती है, फिर वर्गफल बन जाता है, फिर ठोस पदार्थ बन जाता है। परमाणु के गतिमान होने से तत्त्व प्रकट होते हैं, फिर उनसे विशाल विश्व की रचना हो जाती है। प्रकृति वास्तव में पुरुषमय होती है। सृष्टि रचना विचित्र है। सब कुछ बिन्दु में समाया था, उसी से सब कुछ प्रगट हो गया है और उसी में अन्त में विलीन हो जायेगा। जादूगर अपने पिटारे से एक-एक करके चीजें निकालकर चमत्कारपूर्ण खेल दिखाता है तथा फिर उन्हें पिटारे में वापिस रख लेता है। यह सृष्टि उस अव्यक्त अव्यय से निकलकर उसी में लीन हो जाती हैं। यही माया है, जादूगरी का खेल है। यदि माया को समाप्त कर दें तो सब कुछ ईश्वर ही है। 'वासुदेवः सर्वमिति"। लीलाधारी की लीला भी एक आनन्द है। माया प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से युक्त है। खेल भी निष्प्रयोजन नहीं है। लीलाधारी की लीला के नाटक में हमें जो भी अभिनय (पार्ट) करना पड़े, उसी को अच्छी तरह अदा करने में अपनी कृतकृत्यता समझनी चाहिये। समझदार अभिनेता (एक्टर) अपने निर्देशक (डायरेक्टर) के निर्देश पर मरने, हँसने, रोने का अभिनय करते हुए भी उससे अछूता रहता है। वह जानता है कि यह एक खेल मात्र है और खेल को खेलकर मंच से चले जाना है। हम अपने स्थान पर अहंमुक्त होकर

अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए कर्म करें, इसी में हमारी कृतार्थता है। मानव अपनी निम्न प्रकृति से ऊपर उठकर ही इस अलौकिक एवं दिव्य खेल का रहस्य जान सकता है। आत्म-समर्पण के द्वारा अहंकार-मुक्ति होने पर, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के छूटने पर, आत्मा के द्रष्टा रह जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसी एक ईश्वर का सारा खेल चल रहा है, वही एक सर्वत्र है। "लहरा रहा है वह ही खुद अपने बाँकपन में"। ईश्वर ही सब कुछ करता है, कराता है, ऐसी अनुभूति होना अध्यात्म का चरमोत्कर्ष है तथा समस्त साधना, जप, तप, तीर्थयात्रा, भक्ति, ज्ञान, योग का साध्य यही अनुभूति होना है।

भाग ३ : मानव का ईश्वर तत्त्व से सम्बन्ध

प्रमुख आधुनिक वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों का स्पष्ट मत है कि इस समग्र सृष्टि की सोद्देश्य रचना किसी आध्यात्मिक सत्ता के द्वारा की गई है। डब्ल्यू० के० क्लिफोर्ड ने कहा है कि समस्त विश्व आध्यात्मिक तत्त्व से विनिर्मित है और विश्वात्मा ही परम सत्य है तथा हमारी आत्मा भी उसी का अंशभूत है। इसी प्रकार जेम्स का कथन है कि विश्व में एक आध्यात्मिक तत्त्व का मानना परमावश्यक है जो वास्तव में एक 'विश्व चेतना का प्रवाह अथवा नैरन्तर्य है'। टिचनर का विचार भी इसके समान ही है। इंगलैण्ड के जेम्स वार्ड, अमेरिका के सी० ए० स्ट्रोंग तथा जर्मनी के फ्रेड्रिक और पालसन ने भी आत्मतत्त्व को ही विश्व की मूलभूत भूमि कहा है तथा शरीर और मस्तिष्क को इस तात्त्विक सारभूत एवं प्रधान आध्यात्मिक सत्ता का प्रकटन अथवा आविर्भाव अथवा प्रतिभास माना है। उसके मतानुसार मानव की आत्मा उस परम विश्व आत्मा की अंशभूत है, जो विश्व का मूलभूत कारण तथा विश्व में परिव्याप्त है।

इस तथ्य का निरूपण भारतीय ऋषियों ने भी अपनी तपःपूता वाणी से किया है। वेदों में इस प्रकार के ब्रह्म तत्त्व सम्बन्धी मन्त्रों का प्राचुर्य है। ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में आधुनिक वैज्ञानिकों की भाँति स्पष्ट कथन है 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' अर्थात् इस गतिशील एवं चराचरात्मक जगत् में जहाँ कहीं जीवन सुप्त है अथवा प्रकट है, सभी ईश्वर में वसा हुआ है, ईश्वर से व्याप्त है, सब 'फिनामिनन' में 'नाउमिनन' व्याप्त है। सब विशेषों में एक सत्ता सामान्य अनुस्यूत है। जीव जगत् में समान प्रतीत होने वाले कोई भी दो जीव, वनस्पति जगत् के कोई भी दो पत्ते समान नहीं होते हैं किन्तु प्रकृति की इस अनन्त विषमता में जीवनधारा एवं चैतन्य सत्ता एक ही है। स्थूल सृष्टि के भीतर एक सूक्ष्म सत्ता व्याप्त है जैसे काष्ठ में अग्नि।

यह सृष्टि ईश्वर का आवास स्थान है। सारा जीवन, सारा जगत् ईश्वरमय है, मंगलमय है। रस्सी से बाँधे हुए घोड़े की भाँति हम वासनाबद्ध होकर उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं। गीता में 'ईशावास्यं इदं सर्वम्'' की समानार्थक उक्ति है 'वासुदेवः सर्वम् इति' (गीता ७।१९)। 'वासुदेव' का अर्थ है सर्वत्र बसने वाला देव। गीता में ही अन्यत्र कहा है––"भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः" तथा "समोऽहं सर्वभूतेषु"। सब प्राणियों में प्रभु समान व्याप्त है और सभी जीवधारी देह मानो प्रभु के पूज्य मन्दिर हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में शरीर को 'ब्रह्मपुर' अर्थात् ब्रह्म का घर कहा है। 'कृष्ण' का अर्थ है ईश्वर के अंशभूत सब आत्माओं को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला ब्रह्म।

ब्रह्म सबका अधिपति है, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है। उसी से समस्त जीवन उत्पन्न होता है और उसी में विलीन भी होता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।" (तैत्ति० उपनिषद् ।३१।)। इसी प्रकार केनोपनिषद् में निष्प्रपंच ब्रह्म का सजीव वर्णन है––

'यद् याचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद-मुपासते' (१।५) अर्थात् जिसे वाणी कह नहीं सकती, पर जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है उसी को ब्रह्म जानो तथा यह नहीं जिसकी तुम उपासना करते हो। पर-ब्रह्म निरुपाधि है तथा देश, काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से विहीन है। वह प्रमाणातीत है, निमित्तातीत भी। वह महासागर के तुल्य प्रशान्त है। उसी के चमकने से सब चीजें चमकती हैं और उसी के प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित होता है। कठोपनिषद् में यही भाव इस मन्त्र में सन्निहित है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' वह नित्य, विभु, सर्वगत, परम सूक्ष्म, अव्यय है। 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) ब्रह्म सत्य से भिन्न नहीं है। सब कुछ ब्रह्म ही है, आत्मा भी ब्रह्म ही है। 'सर्वं हि एतत् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' (माण्डूक्योपनिषद्)।

प्रारम्भ में केवल एक आत्मा ही था और अन्य कुछ भी सक्रिय नहीं था। उसने संकल्प किया और सृष्टि रचना की। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमान् लोकान् असृजत।' (ऐतरेयोपनिषद्) वही ब्रह्म तो सर्वत्र पूर्णतः व्याप्त है और समस्त सृष्टि ब्रह्म से ओत-प्रोत है। मुण्डकोपनिषद् कहता है––'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।' (मुण्डकोपनिषद् २।२।११) इसी भावना से भावित उपासक कहता

है कि ईश्वर ही नीचे (जीवन का आधारभूत) बिछौना है और वही हमारे ऊपर ओढ़ना है, 'अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि।' ईशावास्य उपनिषद् कहता है--'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।' अर्थात् वह परमात्मा समस्त हलचल करता है और चर होकर भी स्वयं स्थिर है तथा वह दूर और पास भी है, वह जगत् में अन्तरंग है और बहिरंग भी। वह सर्वव्यापक है। अरस्तु कहता था कि समस्त गति का एकमात्र कारण परमात्मा है और वह स्वयं गतिहीन है।

हमारा यह दुर्भाग्य है कि हम ऋषियों की ऋतम्भरा एवं प्रज्ञाप्रसूत वाणी का तब तक सम्मान नहीं करते हैं जब तक कोई विदेशी उनकी प्रशंसा नहीं करता है। यह तो सत्य है कि हमें सत्य के ग्रहण के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिये और रूढ़िवादी नहीं होना चाहिये। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' अर्थात् पुराना होने से सब कुछ अच्छा नहीं हो जाता। 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' अर्थात् यह तो पिताजी का कुआँ है, यह कहने वाले कायर तो खारा जल ही पीते हैं। संस्कृति के मिथ्या गर्व में आकर बाहर की ओर देखना बन्द न करें। संसार के साथ आगे बढ़ना चाहिये और विदेशों की उन्नति का उपहास करने अथवा उसे तुच्छ कहने से हम पीछे रह जायेंगे। सत्य का आराधक मिथ्या दंभ एवं पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं होता है। यह यथार्थ है कि पश्चिम ने विज्ञान एवं तकनीकी में प्रशंसनीय प्रगति की है तथा कोई देश अपने अतीत का महिमागान करते रहने से आगे नहीं बढ़ सकता है। तथापि पाश्चात्य का सभी कुछ को वैज्ञानिक मानकर अन्धानुकरण करना मौर्ख्य है। यह एक प्रकार की मानसिक दासता ही है कि हम विदेशियों के प्रमाणित करने पर ही अपने गौरव को पहिचानते हैं। सर विलियम जोन्स ने हमारे लिये संस्कृत भाषा के गौरव और सौन्दर्य का अनुसंधान किया और उसके द्वारा संस्कृत भाषा की प्रशंसा होने पर हमने उसके महत्त्व को स्वीकार किया। १४वीं शती के अंग्रेजी कवि चौसर की केन्टरवरी टेल्स में पंचतंत्र की कथायें पाकर हमें उनकी लोकप्रियता का ज्ञान हुआ। मैक्स मूलर आदि के द्वारा संस्कृत साहित्य की श्लाघा होने पर हम उसकी ओर आकृष्ट हुए। सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक को अंग्रेजी भाषा में अनूदित किया, जर्मनी के प्रो० फोर्स्टर और महान् कवि गेटे ने उसकी अद्भुत प्रशंसा की, विद्वान् जर्मन प्रो० श्लेगल ने इस नाटक से आकृष्ट होकर संस्कृत का अध्ययन किया। अंग्रेज महाकवि शैले और कीट्स के काव्य में भी कालिदास का प्रभाव स्पष्ट है। अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्स तथा प्रो० रायडर, जर्मन विद्वान् शिल्लर तथा रूकर्ट आदि ने कालिदास की अप्रतिम सराहना की।

तब हमने कालिदास का महत्त्व समझा। इसी प्रकार पांचवीं शताब्दी के संस्कृत महाकवि भर्तृहरि के महत्त्व का यूरोप में प्रचार अब्राहम रोजर नामक एक डच मिशनरी ने उनके नीतिशतक और वैराग्यशतक का अनुवाद करके किया। तत्पश्चात् रोजर के अनुवादों का फ्रैन्च और जर्मन में अनुवाद हुआ और इन अनुवादों ने यूरोप के अनेक विचारकों एवं कवियों को प्रभावित किया। जर्मनी का महाकवि गेटे भी उनसे प्रभावित हुआ। यूरोप और अमेरिका ने हमें विवेकानन्द की महानता बताई, पालब्रन्टन ने हमें रमन महर्षि के गौरव से परिचित कराया, प्रो० हार्डी ने हमारा ध्यान रामानुजम् की प्रतिभा की महत्ता की ओर आकृष्ट किया तथा डब्ल्यू० बी० यीट्स ने हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्यात्मक सौन्दर्य की विलक्षणता से परिचित कराया। शापनहावर तथा टी० एस० इलियट ने उपनिषदों की अमूल्यता का तथा एमरसन ने गीता की सार्वभौमता का घोष किया। इस प्रकार हम वैदिक वाङ्मय पर भी तब तक ध्यान नहीं देते जब तक हम किसी विदेशी का प्रमाणपत्र पहिले नहीं पढ़ लेते हैं। वेटिकन संग्रहालय में रखे हुए शिवलिंग पर संसार का ध्यान जाने पर हमें उसके प्रति रुचि हो रही है। विदेशी विद्वानों के विचारों को जानना तथा उनका सत्कार करना तो परम आवश्यक है किन्तु अपने विचारकों को उनकी अपेक्षा तुच्छ अथवा हेय मान लेना किसी हीनता का द्योतक है। भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा से आकृष्ट होकर असंख्य विदेशी भारत के वैचारिक गौरव का गुणगान करते हैं। किन्तु अनेक भारतीय स्वयं उसका महत्त्व नहीं समझते हैं। 'अलि आवत सौ कोस सों, लेन सुमन की बास। दादुर रस जानें रही, रहे सुमन के पास॥' ऋषियों के गहन चिन्तन एवं अनुभूति से संपुष्ट विचारधारा ही संस्कृति के रूप में प्रवाहित हो रही है। इस संस्कृति पर आधारित समाज-व्यवस्था एक पवित्र धरोहर है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से उसे समलंकृत करना सर्वथा उचित है किन्तु आधुनिकता के प्रमाद में उसे विकृत करना गर्हित है। आधुनिकता के नाम पर पापकृत्य को पूजकर उसे पुण्य का रूप देना तथा पुण्य कर्म को मूर्खता सिद्ध करने का फैशन श्रेयस्कर नहीं हो सकता है। अन्य देशों की भाँति भारत को नैराश्य में डूबने की आवश्यकता नहीं है। अन्य देश आस्थाओं और मूल्यों की खोज में भ्रान्त हो रहे हैं तथा कुछ नए खोखले नारे दे रहे हैं किन्तु भारत के पास अपनी अमूल्य विरासत है जिसकी उपेक्षा करना अनुचित है। विचार स्वातन्त्र्य गौरव प्रदायक होता है किन्तु अन्धानुकरण तो पतनकारक होता है।

विश्व प्रहेलिका को समझने का प्रयत्न करने पर परमात्मा के अस्तित्व का नकार करना दुराग्रह मात्र है। महामति बेकन कहते थे कि अल्पज्ञता

नास्तिकता की ओर ले जाती है। एक ओर आद्य असभ्य जातियों के हृदय में कोई आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति विद्यमान थी, दूसरी ओर प्लेटो से जोसियाह रोयेस और विलियम जेम्स तक विद्वान् दार्शनिकों में भी यही प्रवृत्ति रही है। असभ्य एवं परम सभ्य सभी मनुष्यों में भीतर एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति होती है जो उन्हें ईश्वर एवं पुण्यकार्य की ओर उन्मुख कर देती है। कान्ट ने तीन तर्कों का आधार लेकर ईश्वर तत्त्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। अधिकांश लोग तो व्यक्तिगत मानवीय अनुभव को ही आस्तिकता का सच्चा आधार मानते हैं और यह कदाचित् ठीक ही है। कवि ब्राउनिंग कहता था 'यद्यपि प्रभु अपने को पृथक् रखता है, उसकी उपस्थिति के चिन्ह भवन की छत से आधार-शिला तक दीख पड़ते हैं।' मिल्टन ने "पैराडाइज़ लॉस्ट' तथा 'पैराडाइज़ रिगेन्ड' में मानवाकार ईश्वर की कल्पना की है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक कवि जेनोफेन्स ने इससे चार सौ वर्ष पूर्व इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कहा था कि मानव ईश्वर की कल्पना अपने स्वरूप के अनुसार करता है और यह एक मूर्खता है। किन्तु वास्तव में यह कल्पना भी व्यक्ति को परमात्मा के समीप लाने और अनुभूति करने में सहायक सिद्ध होती है। व्यक्तिगत परमात्मा मानो शक्ति, प्रेम, न्याय, करुणा, क्षमा आदि मानवीय अनुभव के उच्चतम मूल्यों का प्रतीक है। सामान्य मनुष्य की मान्यता यह होती है कि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वसमर्थ है और हमसे भलाई की कठोर माँग करते हुए भी अन्ततोगत्वा वह दयामय ही है। एमरसन की व्यक्तिगत दृष्टि में ईश्वर एक बुद्धिमय शान्ति, विश्वव्यापी सौन्दर्य और शाश्वत तत्त्व है। वर्ड्सवर्थ कवि की व्यक्तिगत अनुभूति में ईश्वर एक उपस्थिति है जो उदात्त भावनाओं के आनन्द से परिपूरित करता है, जो संप्रेरित करता है और वस्तुओं में गतिशीलता के रूप में विद्यमान है। दार्शनिक ओट्टो मानता है कि आत्मा में ईश्वरतत्त्व की दिव्यानुभूति होना संभव है तथा दिव्यानुभूति के समय आत्मा में वही अवस्था होती है जो शरीर में संवेदन होने पर होती है। उसका मत है कि शुद्ध बुद्धि द्वारा दिव्यानुभूति होना कोरी भावुकता नहीं होती है, वह स्वयं प्रकाश है, स्वयं सिद्ध तथ्य है। जर्मनी का मनोवैज्ञानिक दार्शनिक कार्ल जुंग भी अपने भीतर अनुभूत धार्मिक अनुभूति (दिव्यानुभूति) को एक उपलब्धि मानता है। रहस्यवादी सन्त अपने व्यक्तिगत अनुभव में उसे अनन्त जीवन, अनन्त प्रेम मानते हैं। विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न अनुभूतियों और उनके विभिन्न वर्णनों में वास्तव में एकता प्रच्छन्न होती है।

डा० कैबट और विलियम जेम्स भी ईश्वर के व्यक्तिगत अनुभव पर ही बल देते हैं। कैबट कहते हैं कि मनुष्य की चार माँगें हैं जिनके बिना उसे

सुख और शान्ति नहीं प्राप्त हो सकते हैं--कर्म, क्रीड़ा, प्रेम और उपासना। जेम्स भी परिणामवादी एवं व्यावहारिक दृष्टि से कहते हैं कि इन्द्रियानुभूत एवं बुद्धिगम्य जगत् से परे हम एक अन्य दिशा का स्पर्श करते हैं। हम उसे रहस्यमय, आध्यात्मिक एवं अलौकिक तत्त्व कहें अथवा अपने अवचेतन मन का कोई विस्तरण कहें किन्तु हमारा उसके साथ एक वास्तविक संबंध है और हम उससे एक वास्तविक शक्ति प्राप्त करते हैं तथा वही हमारी आदर्श भावनाओं का मूलस्रोत प्रतीत होता है। हमें अनुभव होता है कि यह दृश्य जगत् एक आध्यात्मिक तत्त्व में अभिस्नात है। जेम्स आगे कहते हैं—'अनुभव के आधार पर हमारे जीवन के दो भाग हैं, एक निम्न और दूसरा उदात्त तथा हमारा उदात्त स्तर अपने समान ही अन्य किसी बाह्य अधिक उदात्तता के साथ धारावाहिक है अथवा निरन्तर क्रमित है। यह (डिवाइन मोर) अधिक उच्चता, उदात्तता अथवा दैवी अधिकता, हमारे उदात्त स्तर से बाहर एवं पृथक् होकर भी संबद्ध है और हमारी वास्तविक सुरक्षा एवं शान्ति इसी सातत्य अथवा संबंध नैरन्तर्य पर निर्भर है। यह दृश्य जगत् एक अधिक दैवी अथवा आध्यात्मिक जगत् का अंशभूत है। उसी से इस दृश्य जगत् को जीवन एवं महत्त्व प्राप्त होता है। आध्यात्मिक एवं अधिक यथार्थ जगत् को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर ही हमारे सत्कर्मों का संप्रेरक है। यह जेम्स की व्याख्या है। जेम्स के विचार से व्यक्तिगत अनुभूति ही ईश्वरानुभूति का श्रेष्ठ ढंग है। जेम्स का कथन है कि विज्ञान में पदार्थ, गति और ऊर्जा की व्याख्या करते हुए हम कुछ ऐसे संकेतों को पाते हैं जिनकी सहायता से ही हम बाह्य अनुभव के तथ्यों को समझा पाते हैं तथा व्यक्तिगत अनुभव में तो हम उनके समान कुछ यथार्थताओं को स्पष्टतः देखते ही हैं। प्रेसीडेन्ट ईलियट ने कहा है कि 'ईश्वर सर्वत्र विद्यमान शाश्वत शक्ति है जो ज्ञानमय और समस्त सृष्टि को प्रतिपल संचालित करता है।' ईश्वर एक विश्व संकलक (Cosmic Computer) भी है जो सर्वद्रष्टा तथा सर्वप्रेरक है, सर्वज्ञ है।

दार्शनिक उसी एक महान् तत्त्व को विविध नाम देते रहे हैं तथा उसकी विविध प्रकार से व्याख्या भी करते रहे हैं। विविध धर्म उसी एक ईश्वर का भिन्न प्रकार से, विविध देवी-देवताओं की कल्पना के द्वारा वर्णन करते हैं। ईश्वर तो एक ही है। प्लेटो ने उसे 'शिव का विचार' की संज्ञा दी, अरस्तु ने उसे ही 'आद्य प्रेरक' कहा है। स्टोइक लोगों ने उसे 'पूर्व प्रबन्धक विधाता' कहा तथा नव प्लेटोवादियों ने उसे 'अनिवर्चनीय' कहा। हेब्रुओं ने उसे 'न्यायप्रदाता जवोहा', ईसाइयों ने 'मुक्तिदायक ईसा' कहा। स्पिनोजा ने उसे 'दो गुणों (आत्मा और पदार्थ) से युक्त ईश्वर' कहा, बर्कले ने उसे 'आत्माओं का पिता',

कान्ट ने उसे 'नैतिक विधान और ईश्वर' कहा, हीगल ने उसे 'परम अथवा निर्बन्ध विचार' कहा, हर्बर्ट स्पेन्सर ने उसे 'अनन्त और शाश्वत शक्ति' कहा, ब्रेडले और रोयस ने उसे 'परम अथवा निर्बन्ध अनुभव', जेम्स ने उसे 'दैवी कुछ अधिक' कहा। वेद कहता है कि वह एक है किन्तु ज्ञानी उसका वर्णन विविध प्रकार से करते हैं, 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति', 'एकोऽहं बहु स्याम' तथा 'एकमेव अद्वितीयम् अप्रमेयम्', 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'।

मनुष्य के भीतर जो जीवनी शक्ति है वही मानो विश्व स्तर पर मूलभूत जीवन सत्ता है। फ्रायड जिसे कामशक्ति (लिबिडो) कहता है, वह कामशक्ति जीवनी शक्ति का एक प्रवाह है, निकास (आउटलेट) है। कदाचित् फ्रायड जिसे 'लिबिडो' कहता है, कार्ल गुस्तेव जुंग जिसे 'साइकी' कहता है, एडलर जिसे अहं (ईगो) कहता है, बर्गसां जिसे 'इलान विताल' (प्राणसत्ता) कहता है, वह मानो पूर्णता की माँग है तथा परम निर्मल होकर मूल सत्ता एवं दिव्य ईश्वर तत्त्व हो जाती है। कामशक्ति मानो मूलसत्ता का एक निकास है, द्वार है। समस्त शक्तियों की आधारभूत शक्ति परम बुद्ध परमात्मा है।

वैज्ञानिकों ने भी अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए ईश्वर तत्त्व को विविध प्रकार से तर्कसंगत माना है। भौतिक विज्ञान-शास्त्री, शरीर रचना विज्ञान-शास्त्री अथवा अन्य विज्ञान-विशारद प्रकृति की सावधानता, चतुराई, उदारता एवं दयामयता (उदाहरणतः शरीर में कोशिकाओं का महत्त्व बताते हुए) की मुक्त कंठ से चर्चा करते हुए वास्तव में जड़ प्रकृति के पीछे उसकी संचालिका दिव्य शक्ति (ईश्वरतत्त्व) की ही प्रशंसा करते हैं जो महान् बुद्धि (सुप्रीम इन्टैलिजैन्स) है। वैज्ञानिक अपने शब्दातीत सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए गणित की भाषा का प्रयोग करते हैं। शब्दों के द्वारा रहस्यमयी चैतन्य सत्ता का वर्णन असंभव है तथापि सीमित तर्क द्वारा उसकी ओर संकेत अवश्य किया जाता है। परमाणुओं के व्यवस्थित होकर अणु बनने में और अणुओं के व्यवस्थित होकर जीवित कोशिकाएं बनने में तथा इन कोशाणुओं के व्यवस्थित होकर मानवपर्यन्त उच्च, उच्चतर और उच्चतम जीवित देह बनने में प्रत्येक स्तर पर एक सृजनात्मक अभिकरण अथवा माध्यम के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक ही है। विकास एक सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसमें सुव्यवस्थित तथा संगठित करने एवं पूर्ण बना देने वाला एक माध्यम अन्तर्निहित है।

बैंजालिन फ्रैंकलिन कहता है कि परमात्मा विकास (Evolution) के विभिन्न चरणों (स्टेज) पर विभिन्न प्रकार से अपने को प्रकट करता है। विकास उसका होता है जो तत्त्व भीतर है। बीज में वृक्ष छिपा है अतएव बीज से वृक्ष का विकास होता है। यदि अजैव तत्त्व (मैटर) से जीवन का उदय (इवौल्व)

होता है तो जीवन तत्त्व उसमें पहिले से अन्तर्निहित (इन्वौल्व) होता है। अचेतन से चेतन अन्तर्निहित होता है जो विकास प्रक्रिया के द्वारा अपने को प्रकट कर देता है। विकास चेतन तत्त्व (आत्म तत्त्व) का नहीं, अचेतन का होता है तथा चेतन के अन्तर्निहित होने के कारण होता है। इस प्रकार चेतन तत्त्व, आत्मतत्त्व अथवा परमात्मा ही प्रकृति के विकास द्वारा अपने गुणों अथवा अपने को प्रकट (मेनीफेस्ट) करता है। परम विद्वान् डी. एस. कोठारी कहते हैं—"इस संदर्भ में आधुनिक भौतिकी के अग्रणी श्री इर्विन स्क्रोयेडिंगर की पुस्तक "माइ व्यू आफ दि वर्ल्ड" (१९६१) काफी महत्त्व की है। प्रमात्रा साइबर-नेटिक्ट और आणविक जीव विज्ञान के क्षेत्र में हाल में विकसित सिद्धान्तों से इस बात की पुष्टि होती है कि रहस्य जितना पहले सोचा गया था उससे भी ज्यादा गूढ़ है।" ऊर्जाओं का दिशानिर्देशन तथा उनमें परस्पर सहयोग करने वाली एक मूल शक्ति है। वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ ऊर्जा के रूप में परिणत हो सकता है। ऊर्जा ही क्रियान्वयन का कारण होती है। ऊर्जा क्या है? ऊर्जा को दिशा कौन देता है? वैज्ञानिक इसे कोई रहस्यपूर्ण तथा आध्यात्मिक तत्त्व कहते हैं। सारे भौतिक जगत् के मूल में आध्यात्मिक ऊर्जा प्रच्छन्न है जिसे कोई अद्भुत दैवी तत्त्व दिशा प्रदान करता है। इस प्रकार वैज्ञानिक और दार्शनिक एक ही निष्कर्ष पर आ पहुंचते हैं कि ईश्वर ही वह मूल सत्ता है जो सृष्टि की संरचना करती है और उसे सुस्थिर रखकर संचालित भी करती है। ईश्वर ऊर्जा से भी परे सृजनात्मक तत्त्व है, एक आदर्श प्रगत्यात्मक प्रवृत्ति स्रोत है।

ईश्वरतत्त्व जीव के जीवन का कारण होता है। सूर्य शीशे में प्रतिबिम्बित तो हो जाता है किन्तु उसमें समाता नहीं है। असीम ईश्वरतत्त्व सीमित देह में अवतरित हो जाता है किन्तु फिर भी उसमें समाता नहीं है। रश्मि सूर्य को बांध नहीं सकती हैं। केवल ब्रह्मलीन अवस्था में ही जीव के शुद्ध स्वरूप आत्मा और परमात्मा में अभेद होता है जैसे प्रज्वलित अग्नि और अन्तर्निहित समिधा में अभेद होता है।

सृष्टि का आदि धारक एवं पोषक तत्त्व, वैदिक भाषा में, ऋत है जो एक स्वयं प्रकाश्य पवित्र नियम है। वही मानो मंगलमयी चेतना को स्पन्दित करता है। वह नियम भौतिक जगत् को संचालित करता है तथा आध्यात्मिकता के मूल में स्थित परम सत्य है। मंगलमयता इसकी विशेषता है। महात्मा गाँधी कहते थे कि परमात्मा स्वयं ही नियम है तथा नियामक भी है।

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' देखो, देव का रचित काव्य (सृष्टि) नित्य नूतन और ताज़ा रहता है।

परमात्मा कर्त्ता है। कुछ मत ईश्वर के कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है किन्तु सृष्टि संचालन में कुछ प्राकृतिक नियम प्रधान हैं। जगत् में 'कर्म प्रधान विस्व करि राखा, जो जस करई सो तस फल चाखा' नियम प्रमुख है। ईश्वर अनादि है किन्तु सृष्टि का आदि और अन्त होता रहता है। सृष्टि में एक व्यवस्था है और उसका व्यवस्थापक ईश्वर है। ज्ञानवान्, इच्छावान् एवं क्रियावान् चैतन्यशक्ति (परमात्मा) ने सृष्टि की रचना की है। साधारण रचयिता में भी रचना पूर्व उसका ज्ञान होता है, रचना की इच्छा (संकल्प) होती है तथा उसके लिये क्रियाशीलता होती है। प्रज्ञा एवं मेधा से युक्त मनुष्य की रचना करने वाली परम सत्ता अवश्य ज्ञानवान्, इच्छावान् एवं क्रियावान् चैतन्य शक्ति है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि निर्विचार समाधि की विशारदता के द्वारा अध्यात्म प्रसाद अर्थात् समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाता है। इस अध्यात्म प्रसाद के साथ ही एक ऐसी बुद्धि प्राप्त हो जाती है जिसे ऋतम्भरा कहते हैं। ऋतम्भरा का अर्थ है आदर्श एवं शिव को ग्रहण करने वाली बुद्धि जो श्रुत, अनुमान और ज्ञान से बढ़कर है, परे है।

जैव जगत् के चरम बिन्दु की गहनतम दैहिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मांग है--उन्नयन अथवा उन्नतिमय प्रगति। प्रेम तथा परस्पर सहयोग एवं सेवा की ओर अग्रसर होना विकास की मांग को पूरा करना है और जीवन संघर्ष को उचित दिशा देना है। कठोर जीवन-संघर्ष के मूल में गहरे कोई रचनात्मक शिव भावना है। विलियम पेटन और एडविन ग्रांट कोंकलिन ने विकासवाद की व्याख्या करते हुए इस विचार को पुष्ट किया है। ड्रुरान्ट ड्रेक के विचार से, मानो, ईश्वर शक्ति ही चिरन्तन विकास द्वारा, समष्टि के विकास द्वारा, किसी अज्ञात दिशा में हमें बरबस ले जा रही है और वह हमारी पूर्ण निष्ठा की मांग करती है। यहां जीव द्वारा आत्मसमर्पण के विज्ञान और दर्शन का प्रारम्भ हो जाता है। मानव अपनी गहराई में उतर कर देखे--मौन, ध्यान आदि के द्वारा—और अपने अंतस्तल में गूंजती हुई प्रभु की वाणी को सुने तथा निष्ठावान् होकर उसके प्रति आत्म-समर्पण कर दे, इसी में स्व और समष्टि का कल्याण निहित है।

मानव-जीवन में आदर्शों का विशेष महत्त्व होता है। मानव जाति का इतिहास मानो आदर्श-प्राप्ति के प्रयासों का इतिहास है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट होकर उस आदर्श-स्थिति को लाने का प्रयत्न करता है, जो अभी केवल कल्पना की वस्तु है। (वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार मानव सभ्यता का अभ्युदय ईसा से छह हजार वर्ष पूर्व हुआ

जब मानव ने चलवासिता एवं आखेट (खानाबदोशी और शिकार) छोड़ कर खेती करना और गांवों में रहना प्रारंभ किया और आज मानव अन्तरिक्ष यात्रा के युग में आ चुका है)। आदर्श मनुष्य को व्यक्तिगत इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से ऊपर उठकर कर्म करने के लिये संप्रेरित करता है। मनुष्य आदर्श पालन द्वारा गहरे स्तरों को छूकर जीवन का वास्तविक अर्थ एवं आदर्शों का महत्त्व समझ पाता है तथा किसी अनिर्वचनीय सुख को प्राप्त करता है। आदर्शों का मूल स्रोत भी परमात्मा ही है। परमात्मा मानो वह संप्रेरक शक्ति है जो प्रेम, सेवा, त्याग और बलिदान की ओर प्रवृत्त करती है। ईश्वर विश्व में समाया हुआ एक आध्यात्मिक तत्व है, एक सृजनात्मक, व्यवस्थापक तथा पूर्णताप्रद सत्ता है, हमारे आदर्शों का स्रोत है तथा वही हमें भोग से ऊपर उठकर त्याग और बलिदान की ओर प्रवृत्त करता है। डुरान्ट ड्रेक का ईश्वर को त्याग-प्रेरक मानना हमें उपनिषद् के आदेश 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' (त्यागपूर्वक भोग करो) का स्मरण करा देता है।

ईश्वर सत्यं शिवं सुन्दरम् है। यदि ईश्वर अनन्त शिव (कल्याणकारी) है तो पृथ्वी पर पाप और दुःख क्यों हैं? वह इनको क्यों नहीं रोकता है? वास्तव में ऐसे प्रश्न करने वाले ईश्वर और सृष्टि की कल्पना केवल एक राजा और प्रजा के सदृश ही करते हैं। विकासवाद के अनुसार जब बुद्धियुक्त मानव पृथ्वी पर आविर्भूत हुआ, उसने पृथ्वी पर कुछ कठोर परिस्थितियाँ पाईं। उसने उनके साथ व्यवहार तथा समायोजन करने अथवा प्रतिक्रिया करने और कार्य करने के अपने ढंगों को खोजना प्रारम्भ कर दिया। पुराने असफल ढंग पाप और दुःख बनते गये। पाप और दुःख को न ईश्वर ने उत्पन्न किया, न मामव ने ही। एक युग (तथा एक स्तर) के गुण दूसरे युग (तथा स्तर) में दुर्गुण होकर त्याज्य हो जाते हैं। अपूर्णता मानो पाप है तथा दुःख और विषाद का कारण है। पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना मानो पुण्य है तथा सुख और शान्ति का कारण है। वास्तव में जीवन में दुःख का विशेष महत्व है। दुःख जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग है। विवेकशील व्यक्ति दुःख को सत्य का साक्षात्कार कराने वाला, सत्य के समीप लाने वाला परम गुरु मानकर उसका आदर करते हैं, घबराते नहीं हैं। बुद्ध ने दुःख की चरमानुभूति के द्वारा सत्य का दर्शन किया। कीरकेगार्द नामक डच दार्शनिक ने अपनी प्रणयिनी को छोड़कर शोक की अनुभूति के प्रयोग किये और दुःख के महत्व को स्पष्ट किया। यदि दुःख बोझ बन कर विचार को कुण्ठित न करे बल्कि विचार को जगाये, सत्य के समीप ला दे, वह दुःख धन्य है। दुःख शान्ति के उपाय खोजने में सहायक होता है। कुन्ती ने कृष्ण से सदा दुःखग्रस्त रहने का वर

माँगा था क्योंकि विपत्ति प्रभु का दर्शन करा देती है। "विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र जगद् गुरो, भवतो दर्शनं यत्स्याद् पुनर्भवदर्शनम्"। दु.ख ही सच्चे सुख की ओर उन्मुख करता है। असत्य सत्य की ओर, अपूर्णता पूर्णता की ओर तथा दुःख आनन्द की ओर उन्मुख कर देता है। दुःख में अहंकार टूट जाता है तथा मानव हृदय निर्मल एवं कोमल हो जाता है। दुःख से मोह त्याग की शिक्षा ले कर, सुख के मोह को भी त्याग दें और सदा के लिये दुःख से निवृत हो जायें। दुःख जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिये स्वर्णिम अवसर होता है। साहसी कहता है---देने वाले से मांगी थी हमने खुशी, हौसला देख कर उसने गम दे दिया। व्यक्तिगत, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में संकीर्णता से उदारता की ओर, घृणा से प्रेम की ओर, असहयोग से सहयोग की ओर, स्वार्थ से सेवा और परोपकार की ओर, भोग से त्याग की ओर, कायरता से साहस की ओर, कृतघ्नता से कृतज्ञता की ओर, अन्याय से न्याय की ओर, निम्न पशुता से उत्कृष्टता की ओर, दानवता से मानवता की ओर तथा मानवता से दैविकता की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अशिव से शिव की ओर बढ़ना ही जीवन का गहरा संघर्ष है और अपूर्ण से पूर्ण की ओर अग्रसर होना है तथा जीवन के उद्देश्य को पूरा करना है।

मनुष्य पूर्णता का प्रयत्न करता रहता है यद्यपि जीवन भर कभी पूर्ण नहीं होता है। कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है। सब में कुछ न कुछ दोष हैं। पूर्ण होने पर मनुष्य कदाचित् जड़ भरत के सदृश जड़ हो जाता है अथवा ईश्वर में लीन होकर देह त्याग कर देता है। पूर्णता प्राप्ति का प्रयत्न सुख, शान्ति और बल प्रदान करता है। पूर्णता प्राप्ति का प्रयत्न विकास क्रिया के मूल में है। अन्तर्प्रेरणानुसार मानव पूर्ण होना, कुमति छोड़ कर सुमति ग्रहण करना चाहता है और उसके लिये प्रयत्न करने में उसकी सार्थकता है। 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं, नाथ पुराण निगम अस कहहीं। जहाँ सुमति तहं संपति नाना, जहाँ कुमति तहं विपद निदाना'।

उपनिषद् कहता है 'असत्येन सत्यमीहते'। असत्य के द्वारा ही सत्य को प्राप्त करते हैं। काटन का कथन है कि अज्ञान एक कोरा काग़ज़ है, किन्तु भूल एक दुर्लिखित काग़ज़ है जिस पर मिटाकर ही कुछ लिखा जा सकता है। सिसरो कहता था कि भूल तो कोई भी व्यक्ति कर सकता है, किन्तु मूर्ख ही उसकी पुनरावृत्ति करेगा। वेलैण्ड की उक्ति है कि भूल करना स्वाभाविक है और यदि कोई व्यक्ति भूल नहीं करता है तो वह कुछ निर्माण भी नहीं करता होगा। एलेक्जेन्डर पोप का कथन है कि भूल को स्वीकार करना मानो पहले की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होना है। चीनी संत कंफ़्यूशियस कहते हैं कि

मानव की शोभा कभी न गिरने में निहित नहीं है बल्कि गिरने पर भी उठ जाने में निहित है। महाकवि ब्राउनिंग कहते हैं कि हम गिरते हैं केवल उठने के लिये और परास्त होते हैं अधिक अच्छी प्रकार से लड़ने के लिये। भूल होना स्वाभाविक है, इंसान ग़लती का पुतला है। किन्तु समझदार आदमी अपनी भूल को सहर्ष स्वीकार करके उस पर विजय पाने का प्रयत्न करता है और नासमझ आदमी उस पर गर्व करके उसको दोहराता हुआ उसमें फंसता चला जाता है। गिरना बुरा नहीं है किन्तु गिर कर नीचे पड़े रहना और उठने का प्रयत्न न करना बुरा है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दैवी उत्प्रेरणा (डिवाइन एफ्लेटस) से अनुप्राणित होने पर प्रायः ऐसे क्षण आते हैं जब इसके मन में उच्च विचार, आत्म विश्वास, पवित्र संकल्प जाग उठते हैं जिनका लाभ मनुष्य को उठाना चाहिये। मनीषी-शिरोमणि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि वेदान्त पाप को स्वीकार नहीं करता है तथा वेदान्त केवल भूल को स्वीकार करता है और भूल करना तो मानव का स्वभाव है। संस्कृत में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

'उपाधाः शिक्षमाणानां बालानां उपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥'

असत्य में स्थित होकर अर्थात् असत्य के द्वारा ही सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य असत्य में लिपटा रहता है जैसे फल पत्तियों से ढका रहता है। सत् और असत् का जोड़ा है। "विधि प्रपञ्च गुण अवगुण साना"। सत्य सदैव असत् सपनों के सागर में नौका की भांति पार हो जाता है। प्रभु की सृष्टि एक रंगीन स्वप्न है जिसमें माया का खेल खेला जा रहा है। असत्य अपने सौन्दर्याभास (छल) से ठग कर भटका देता है, सत्य अपने सौन्दर्य से आनन्द प्रदान करता है। कदाचित् जगत् के चलने के लिये सत्य और असत्य का मिश्रण ऐसे ही आवश्यक है जैसे आभूषण बनाने के लिये शुद्ध स्वर्ण में कुछ न कुछ खोट मिलाना आवश्यक होता है। तथापि सत्य का आराधक शुद्ध का ग्रहण एवं अशुद्ध का त्याग करता है। जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार। संत हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार। सत्य का साक्षात्कार बाह्य चकाचौंध को पार करने पर होता है। सत्य स्वयं प्रकाशमान है। अज्ञान के संबंध में तुलसी कहते हैं––ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास, निरगुन कहै सगुन बिनु सो गुरू तुलसीदास। असत्य (अपूर्णता) दुःख का तथा सत्य (पूर्णता) सुख का कारण होता है। असत्य अंधकार है, सत्य प्रकाश है। असत्य अशिव है, सत्य शिव है। असत्य असुन्दर है, सत्य सुन्दर है। ईश्वर

पूर्ण है तथा सत्यं शिवं सुन्दरम् है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ना ही जीवन की सफलता एवं जीव की कृतार्थता है।

यदि संसार में पाप और दुःख न हों तो संघर्ष किसके लिये हो ? तब तो जीवन में रुचि एवं रस ही लुप्त हो जायेंगे। केवल सुखसमृद्धि तो एक सूना-पन, ऊब और उकताहट उत्पन्न कर देते हैं। मनुष्य निरन्तर सुख को सहन नहीं कर सकता है। केवल सुख-समृद्धि एक बोझ हो जायेंगे। दुःख का पुट मन का विकार धोने के लिये, जीवन के अस्तित्व की रक्षा के लिये, जीवन में सौन्दर्य एवं सरसता लाने के लिये अत्यंत आवश्यक है। सुख-दुःख जीवन के अभिन्न अंग हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं, दोनों अनिवार्य हैं। सुख-दुःख का युग्म है जैसे दिवस-रात्रि का अच्छेद्य युग्म है। यदि अन्धकार न हो तो प्रकाश का क्या महत्त्व है ? संघर्ष किस के लिये हो तथा जीवन कैसे और क्यों चलाया जाये ? जीवन के किसी भी क्षेत्र में संघर्ष के बिना उपलब्धि नहीं होती है। सत्य की उपलब्धि के लिये भी संघर्ष करना होता है। यदि असत्य न हो तो संघर्ष की क्या आवश्यकता है, यदि दुःख न हो तो सुख पाने के लिये प्रयत्न की आवश्यकता न हो। यदि प्रयत्न एवं संघर्ष न हों तो जीवन में गति-शीलता कैसे होगी ? ईश्वर कर्त्ता है। ईश्वर में कर्त्तृत्व होते हुए भी सृष्टि के खेल को चलाने के लिये अंधकार (माया) का होना आवश्यक है। यदि परिग्रह का प्रलोभन न हो तो अपरिग्रह और संयम का क्या महत्त्व रहेगा ? दुर्भावना पर विजय पाना ही तो चरित्र है। मानव ज्यों-ज्यों संघर्ष करता है, उसे संतोष, सुख और गौरव की प्राप्ति होती जाती है। मानव जीवन का आकर्षण उसके पूर्ण होने में नहीं, पूर्णता का प्रयत्न करते रहने में निहित है। न्याय एवं सत्य की रक्षा के लिये युद्ध करते हुए प्राणोत्सर्ग करने वाले साहसी वीरों को शान्ति और गौरव प्राप्त होते हैं। आस्थाओं के बल पर ही गति एवं प्रगति होती रहती है। यदि किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के जीवन में आस्थाएँ टूट जायें तो वह किसके सहारे आगे बढ़ेगा ? हाँ, यदि हमारी मान्यताएँ तथा आस्थाएँ अन्धविश्वास अथवा संकीर्ण स्वार्थ पर आधारित हों तो अधोगमन हो जाता है। आदर्श उच्चतम होने चाहियें और उनके अनुसरण में ही हमारा वास्तविक हित निहित होता है। मानव प्रयत्नशील प्राणी है। लक्ष्य पर पहुँचने की अपेक्षा यात्रा करना अथवा प्रयत्न करना अधिक सुखद होता है। स्थायी सुख विश्राम में अथवा साधन-सम्पन्न अवस्था में अथवा निष्क्रियता में निहित नहीं है बल्कि अधिक उदात्त बनने एवं क्रियाशील अथवा प्रयत्नशील होने में है। जीवन की सफलता लक्ष्य प्राप्ति में निहित नहीं है, बल्कि लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में सतत संघर्ष करने में है। प्रयत्न में ही सच्ची उपलब्धि सन्निहित होती है।

प्रयत्नपूर्ण संघर्ष ही जीवन है। यदि सर्वत्र पूर्णता हो जाये तो संसार में एक नीरस निष्क्रियता, ठहराव अथवा विराम की स्थिति हो जायेगी और गतिमयता परिसमाप्त हो जायेगी।

मृत्यु की पथरीली राहों में जीवन-सरिता बही जाती है, आपत्ति और संकट के तूफानों के बीच सुख की अविरल धारा विलुप्त नहीं होने पाती है, पाप पुण्य को परास्त नहीं कर पाता है, अंधकार प्रकाश को कवलित नहीं कर सकता है। जीवन, सुख, पुण्य और प्रकाश मानो संघर्ष के द्वारा आगे बढ़ते ही रहते हैं। मृत्यु, रोग, संकट, निराशा, दुःख, पाप और अंधकार हमें परोक्षरूप में सत्य की ओर ही ले जाते हैं। यदि दुःख न हो तो व्यवस्था एवं व्यवस्थापक की आवश्यकता न रहेगी। दुःख संघर्ष को जन्म देता है जिससे विकास में गतिशीलता का पुट आ जाता है जो जीवन को आगे बढ़ाती है। जीवन की गहराइयों में रमा हुआ, अथवा जीवन के मूल पर स्थित स्वयं परमात्म तत्त्व ही मानो मानव के द्वारा ही पाप और शोक के कटक को निर्मूल कराने तथा उसे पूर्णता की दिशा में अग्रसर करने में सक्रिय है। यह मानो परमात्मा की ही प्रेरणा है कि मानव व्यक्तिगत एवं समष्टिगत पाप और शोक को निर्मूल करने के लिये संघर्ष करता ही रहे। गाँधी जी कहते थे— 'ज्यों-ज्यों मैं पाप से युद्ध करता हूं, मैं अधिक पवित्र हो जाता हूँ और प्रभु के समीप आ जाता हूँ।' परम पवित्र होकर ही मनुष्य प्रभु को प्राप्त कर सकता है। देवो भूत्वा देवं यजेत् अर्थात् देव (पवित्र एवं प्रकाशमान) होकर ही देव की पूजा करनी चाहिये।

चराचर जगत् में जो भी गति है, विकास एवं परिवर्तन है, हलचल है, वह सब जीवन का लक्षण है। जीवन के साथ उसकी आधारभूत चेतना जुड़ी हुई है। चेतना वनस्पति, पशु और मनुष्य में विभिन्न मात्रा में अथवा विभिन्न स्तरों पर है। घनीभूत चेतना आत्मतत्त्व है अथवा चेतना आत्मा का गण (एट्रीब्यूट) है। जो दिव्य तत्त्व शरीर में अंशरूप से व्याप्त है, वही विश्व में पूर्ण रूपेण व्याप्त है। आत्मा-परमात्मा एक तत्त्व है। मनुष्य की मन-बुद्धि आत्मतत्त्व की चेतना से चेतनामय है। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। शरीर जिसके निर्गमन से मिट्टी रह जाता है, वही आत्मतत्त्व है जो पोषक एवं धारक है। वही हमारा निज स्वरूप है। चैतन्य और ज्ञान आत्मा के लक्षण हैं। जैसे अग्नि में दाहकत्व, गुड़ में मीठापन व्याप्त है, देह में आत्मा व्याप्त है। आत्म साक्षात्कार ही परमात्म दर्शन है, ब्रह्म दर्शन है। मनुष्य के मन-बुद्धि का उत्थान होते होते भीतर आत्मस्तर तक पहुंचना भी एक प्रकार से विकास प्रक्रिया की संसिद्धि ही है। चेतना से परे परम

चैतन्य की सत्ता है, आत्मा से परे परमात्मा की सत्ता है। चेतना भी प्रभु का गुण एवं रूप है। भूतानामस्मि चेतना (गीता १०-२२) प्राणियों में चेतना ईश्वर ही हैं। विविध आत्माओं में एक ही परमात्म तत्त्व है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है तो समष्टि रूप परमात्मा अथवा ब्रह्म को भी स्वीकार कर लिया गया। यदि लहरें हैं तो समुद्र भी है जिससे उनका उदय होता है तथा जहाँ वे विलीन होती हैं। प्रत्येक आत्मा बन्धन मुक्त होते ही परमात्मा का स्वरूप हो जाती है, परमात्मा में विलीन हो जाती है—यह उपनिषद् का उपदेश है। जिस प्रकार निर्मल जल मिट्टी से मिलकर मलिन हो जाता है, शुद्ध आत्म तत्त्व भी माया से आवृत हो कर धूमिल प्रतीत होने लगता है। माया से लिपटा हुआ आत्मतत्त्व जीव कहलाता है। भूमि परत भा डाबर पानी, जनु जीवहिं माया लपटानी। शुद्ध स्थिति होने पर, माया छूटने पर, जीव ही आत्मा के रूप में प्रकट होता है। जल राशि (ब्रह्मतत्त्व) में वायु, मिट्टी आदि मिलने पर बुद्बुद् (जीव) उत्पन्न हो जाते हैं जो शुद्ध हो जाने पर पुनः जलराशि में विलीन हो जाते हैं। मैं कौन हूँ ? चैतन्य तत्त्व आत्मा है जो ईश्वर का अंश है। अतएव मैं शरीर, मन, बुद्धि, पद, सत्ता, प्रतिष्ठा आदि से परे सूक्ष्म तत्त्व हूँ। शरीर तो एक घरौंदा मात्र है। मिट्टी से उत्पन्न होकर भी मिट्टी की जड़ता मुझे नहीं छूती है। साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वेत० उप० ६।११)। आत्मा साक्षीस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, केवल और निर्गुण है।

ईश्वर तत्त्व मनुष्य के जीवन एवं गति का कारण होता हुआ भी अपरिमेय है। अन्तर्ज्ञान, अन्तर्बोध अथवा अन्तर्दृष्टि तर्क से परे है, किन्तु वह तर्क का विरोधी नहीं है। जहाँ तर्क अवरुद्ध होता है वहाँ अन्तर्दृष्टि सहायक होती है। गीता कहती है—

'इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥'

इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि और उससे भी परे आत्मतत्त्व है। स्थूल एवं वासनाविकारयुक्त इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि उस परम सूक्ष्म तत्त्व को नहीं जान सकते हैं। कठोपनिषद् का मंत्र है—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥' कठ० ४।१।

अर्थात् स्वयम्भू परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। अतः मनुष्य बाहर की ओर ही देखता है और अन्दर आत्मा को नहीं देखता है। कोई

बुद्धिमान् पुरुष अमृतत्व की इच्छा करता हुआ अपने चक्षु आदि इन्द्रियों पर संयम करके अन्तरात्मा को देखता है। केनोपनिषद् कहता है—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः ॥१।३।

अर्थात् ब्रह्म चक्षु, वाणी और मन से परे है। ब्रह्म का अर्थ है सत्य अथवा अनन्त एवं व्यापक महान्। अन्तर्बोध के द्वारा ही परमात्मतत्त्व की सूक्ष्म अनुभूति संभव होती है। माण्डूक्य उपनिषद् कहता है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

इस मंत्र का आशय है कि आत्मतत्त्व तर्क का विषय नहीं है। अतिशय तर्क मनुष्य को शून्य (एवं निराशा) तक पहुंचा देगा। सत्य ग्रहण करने के लिये तर्क के अतिरिक्त अन्य शक्तियों (फैकल्टी) का भी उपयोग करना चाहिये। तर्क से आगे अन्तर्ज्ञान अथवा अन्तः प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) होता है। सिद्धान्त (थ्योरी) और तथ्य (फैक्ट) भिन्न हो सकते हैं। अन्तर्ज्ञान एवं अनुभूति ही सत्य का संदर्शन करा सकते हैं। जुंग कहता है कि वैज्ञानिक की बुद्धि में अनुसंधान के समय अन्तर्ज्ञान की कौंध (क्षणदीप्ति, इन्ट्यूशनल फ्लैश) द्वारा ही नया विचार अथवा सत्य अवतरित होता है जैसे कि ऋषियों और मसीहाओं की बुद्धि में सत्य का उदय होता है। इस प्रकार से सत्य का अवतरण एवं दर्शन दिव्य होता है। अतएव विज्ञान और आध्यात्म में परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि दोनों में सत्य का उद्गम बुद्धि से परे है यद्यपि बुद्धि अत्यन्त सहायक होती है। तर्क से तृप्ति नहीं होती, अनुभूति से तृप्ति होती है। अनुभूति का मार्ग बताना संभव है, अनुभूति कराना अथवा उसका वर्णन करना संभव नहीं है। आत्मा की उपमा किससे दें? वह अनुपमेय है। तर्क बहुत दूर तक नहीं जा सकता है। जहाँ तक तर्क की सीमा है, वहाँ तक उसका सहारा लेना चाहिये। दिव्यानुभूति हस्तान्तरित नहीं होती है उसमें से गुजरना आवश्यक होता है। तर्क का दुराग्रह तर्क को कुतर्क बना देता है। "मेरी हिम्मत देखिये, मेरा सलीका देखिये, जब सुलझ जाती है गुत्थी फिर उलझा देता हूं मैं।" ईश्वरतत्त्व अनुभूतिगम्य है, तर्क गम्य नहीं। तर्क की एक सीमा होती है। 'तर्कोऽप्रतिष्ठः'। तर्क में अनवस्था दोष भी होता है। साधना के द्वारा ही सूक्ष्म अनुभूति सम्भव हो सकती है। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठोपनिषद्)। अर्थात् तर्क के द्वारा आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। ईश्वर

के अस्तित्व संबंधी शंकाओं का समाधान तर्क अथवा अनुमान अथवा परोक्ष ज्ञान से नहीं बल्कि जीवन से, सूक्ष्म अनुभूति से, होता है। तर्क और युक्ति दोषमय हो सकते हैं। अतीन्द्रिय अवस्था में सत्य का दर्शन होता है। माया-मोह के अन्धकार में प्रभु का विश्वास ही प्रकाशदीप है। यदि उसे छोड़ दिया तो सहारा कहाँ रहा ? अनुभूति के आधार पर विश्वास दृढ़ होता है और प्रभु को जाना जा सकता है। वाक्यार्थ ज्ञानमात्रेण नामृतम्। केवल ग्रन्थ रटने से अथवा प्रौढ़ पाण्डित्य से अमरत्व की अनुभूति नहीं होती है। "तू कहता है कागद देखी, मैं कहता आंखों देखी" (कबीर)। कामिल से बड़ा आॅमिल होता है, ज्ञान से बड़ा अनुभव होता है। महात्मा तुलसीदास कहते हैं 'सो जानई जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुमहि होइ जाई'। 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् परमात्मा को जानने पर जीव परमात्मा ही हो जाता है क्योंकि एकीकरण होने पर संसार मन से छूट जाता है।

हमारे भीतर स्वयं-प्रकाश्य, ज्योति स्वरूप, ज्ञान स्वरूप आत्म-तत्त्व है। आध्यात्मिक वैज्ञानिकों (ऋषियों) ने इस जीवन धारक आत्म-तत्त्व को उस परम तत्त्व का अंश कहा है जो विश्व धारक है। बुद्धि और मन के सामने से माया का आवरण धीरे धीरे हटने पर आत्म-तत्त्व का बोध अथवा आभास (एवेयरनेस) होने लगता है तथा अन्ततोगत्वा अनुभूति होती है कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन और बुद्धि नहीं हूँ, मैं वह हूँ। माया (अज्ञान) का आवरण अपारदर्शक (ओपेक) है जो मन-बुद्धि को आत्म तत्त्व का दर्शन नहीं होने देता है। साधना के द्वारा धीरे धीरे वह पारभासी और पारदर्शक हो जाता है और साधक को (उसकी मन-बुद्धि को) आत्म दर्शन का भास होने लगता है तथा अन्त में सहसा आवरण छिन्न भिन्न होकर विलुप्त हो जाता है। अहं विगलित हो जाता है तथा ज्योतिष्मान् दिव्य तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। यदि अग्नि की ज्वाला पर आवरण हो तो उसके गुण (दाहकत्व, प्रकाश) न्यून हो जाते हैं तथा यदि आवरण रंगीन हो तो ज्योति का रूप अन्यथा दिखाई देने लगता है। आवरण हटने पर ही सत्य का दर्शन संभव है। मनुष्य का परमात्मा के साथ तादात्म्य होने के समय वह "यूरेका यूरेका" की भाँति पुकार उठता है—'अहं ब्रह्मास्मि,' 'मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ'। मन-बुद्धि का अहंकार प्रतिबिम्बित (रिफ्लेक्टेड) या गृहीत अहं (बारोड आई Borrowed I) होता है और उनका चिन्तन भी गृहीत चेतना के सहारे चलता है। ज्योंहि मन-बुद्धि को आत्मा का दर्शन होता है, आत्मानुभूति होती है, यह अहंकार विलुप्त हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार होना आत्मबोध (सेल्फ एवेयरनेस) है, आत्मानन्दमग्नता है जिसका वर्णन संभव नहीं है क्योंकि उस समय मन-बुद्धि-अहंकार लुप्त हो जाते हैं और

आत्मानुभूति मूकास्वादनवत् (गूंगे के गुड़ खाने की भांति) अनिर्वचनीय होती है। उसका जो कुछ भी वर्णन है वह नीचे उतर आने पर किसी निचले स्तर पर ही होता है। माया का आवरण हटना मानो बहिर्जगत् के प्रपञ्च का लुप्त होना अथवा शून्य होना है। यही 'जगन्मिथ्या' (संसार मिथ्या है) सिद्ध हो जाना है। किन्तु शून्य से आगे तो ब्रह्म है, ब्रह्म (व्यापक आत्मतत्त्व) सत्य है। ब्रह्म सत्यम्। शून्यवाद मानो मध्य में रुक जाना है, अधूरा है। आत्मतत्त्व ही ब्रह्मतत्त्व है, जो शरीर में आत्मा है वही तत्त्व विश्व में विश्वात्मा अथवा ब्रह्म है। जैन दर्शन श्रेष्ठ युक्तियों द्वारा सिद्ध करता है कि आत्मा ही परमात्मा है तथा प्रत्येक व्यक्ति महावीर बन सकता है। ऋग्वेद के मण्डल ५, सूक्त २९, मंत्र १ में "इन्द्रासिधीरः" का अर्थ है कि हम ज्ञान, कर्म और उपासना से इन्द्र बनें जैसे जैन दर्शन कहता है कि प्रत्येक को महावीर बनना चाहिये। समस्त भारतीय विचार पद्धति में सर्वत्र मूलाधार एक ही है, व्याख्या में भेद है। भक्तिभाव (डिवोशन) द्वारा प्रभु से एकाकार होने का सरल एवं सरस प्रकार है। ज्ञान, कर्म, योग एवं भक्ति का लक्ष्य एक ही है, मार्ग भिन्न हैं। सब मार्गों से मन निर्मल होता है, माया का आवरण हटता है और लक्ष्य प्राप्ति हो जाती है।

भारतीय चार्वाक् की भाँति प्रो० जी० एल० स्टेबिन्स कहते हैं कि धर्म आत्म-प्रवञ्चना है तथा आदि काल से ही मनुष्य अज्ञान के कारण आत्म-प्रवञ्चना करता रहा है और मनुष्य ने ईश्वर का आविष्कार किया ताकि समस्याओं का असम्भव समाधान भी किया जा सके। मार्क्स ने तो अपने व्यक्तिगत कठोर जीवन के विषादोन्माद में पूंजीवाद और शोषवाद के साथ-साथ ईश्वर तत्त्व पर ही आघात कर दिया। किन्तु जैविक विकास तथा भौतिक सापेक्षवाद जैसे क्रांतिकारी सिद्धान्त भी ईश्वर तत्त्व का खण्डन न करके नये प्रमाणों से उसका मंडन ही कर रहे हैं। आइंस्टीन प्रारंभ में नास्तिक थे किन्तु अन्त में निरीश्वरवादी विज्ञान ने उन्हें घोर आस्तिक बना दिया। जड़ प्रकृति में नियम एवं व्यवस्था के पृष्ठ में नियामक एवं व्यवस्थापक शक्ति चैतन्य है। वही चैतन्य सत्ता तो ईश्वर है। यह जगत् समष्टि चैतन्य की तरंगमात्र है। वैज्ञानिक इस सृष्टि में सर्वत्र सोद्देश्यता, गतिशीलता, समायोजन और संघर्ष (अस्तित्व के लिये तथा पूर्णता के लिये संघर्ष) का दर्शन करता है। मानव को भी मानो जीवन के प्रत्येक स्तर पर सोद्देश्यता (शिक्षा आदि में भी), गति-शीलता, परस्पर समायोजन तथा संघर्ष का पाठ सीखकर एवं निरन्तर व्यस्त रखने वाले उपयोगी कार्यों में जुटकर पूर्णता की ओर अग्रसर होने का अथक प्रयत्न करते ही रहनां चाहिये। मानव भौतिक स्तर पर भोजन, वस्त्र आदि

की आवश्यकताएं पूरी करते हुए बौद्धिक विकास की ओर बढ़े किन्तु साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक मांगों को पूरा करने का प्रयत्न करते रहने में ही उसे आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति और परम सुख की उपलब्धि संभव हो सकती है। विकास के क्रम में व्यक्ति में जब तक स्थूल अनुभवों का परिपाक् होने पर सूक्ष्म अनुभूतियां नहीं होती हैं तब तक उसके भीतर सुख-दुःख से ऊपर उठने और शाश्वत सुख (आनन्द) प्राप्त करने की मांग भी नहीं जागती है।

परम मनीषी श्री डी० एस० कोठारी ठीक कहते हैं—"सच यह है कि उपनिषदों के आत्म ज्ञान और विवेक के अलावा इस रहस्य को सुलझाने का और कोई तरीका नहीं है।" असंख्य विदेशी विचारकों ने भी उपनिषदों के सत्य को स्वीकार किया है और उनसे प्रेरणा प्राप्त की है।

शब्द तो अमर होता है किन्तु शब्दों के अर्थ सीमित होते हैं और वे असीम ईश्वरतत्त्व को अपनी परिधि में नहीं बांध सकते हैं। परमात्मा निर्गुण एवं सगुण है, निराकार एवं साकार है, अमूर्त्त एवं मूर्त्त है, सर्व समर्थ है, सर्वज्ञ है। मानव का हित इसी में निहित है कि वह किसी भी प्रकार उससे अपनेपन का नाता पहिचाने और माने। नाता होना चाहिये, साधन तो गौण हैं और वे विभिन्न हो सकते हैं।

व्यक्तिगत अनुभव एवं सूक्ष्म अनुभूति न केवल ईश्वर के अस्तित्व का सुमान्य प्रमाण है बल्कि इसके द्वारा ईश्वर के साथ नाता जोड़ना ही ईश्वर-मानव सम्बन्ध का श्रेष्ठ रूप है। इस व्यक्तिगत सम्बन्ध के प्रगाढ़ होने पर ईश्वर साहस, धैर्य एवं सन्तोष का प्रदाता, शक्ति एवं शांति का अक्षय स्रोत तथा उच्चतम आदर्शों का प्रेरक बनकर मानो मानव के जीवन का सच्चा सहारा हो जाता है। आत्म-समर्पण के द्वारा मानव महान् दैवी यन्त्र के साथ जुड़कर उसका अभिन्न अंग बन जाता है तथा इसी में मानव की कृतकृत्यता है। भौतिक स्तर पर दैहिक यंत्र बनना विनाशकारक फन्दे में फंस जाने के तुल्य है किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर दैवी यंत्र बनना दिव्य शक्ति, शान्ति एवं कल्याण का निधान हो जाना है। मानव देवता (प्रकाश) बन जाता है। दीव्यते द्योतते प्रकाशते इति देवः। जो प्रकाशमान है वह देव है। अध्यात्म रथ के दो पहिये हैं—आत्म-समर्पण और ध्यान। सद्‌गुरु सारथि होता है। आत्म साक्षात्कार लक्ष्य होता है।

आत्म-समर्पण का अर्थ निकृष्ट दासता नहीं है बल्कि जागरूक सहयोग के द्वारा दैवी प्रवाह के साथ एकाकार बनकर कृतार्थ होना है। समर्पण का अर्थ है तद्रूपता होना, जैसे कोयला आदि समिधा अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि ही हो जाती है। आत्म-समर्पण का अर्थ है विश्वनियन्ता के विधान को सहर्ष

स्वीकार करना, उसके साथ एकाकार होना, प्रभु-भावना से प्रेरित होकर कर्म करना, कर्म करने पर फल को प्रभु का प्रसाद मानना, ज्ञान, भक्ति अथवा ध्यानयोग से उसके साथ जुड़ जाना। जब मन में यह विश्वास हो जाता है कि सब कुछ प्रभु ही करते हैं तो आत्म-समर्पण सहज हो जाता है तथा हम प्रभु के दिव्य यंत्र बन जाते हैं। मनुष्य को कर्म करने की स्वतंत्रता (फ्रीविल) के आधार पर कर्मफल अवश्य प्राप्त होता है तथा ईश्वर कर्मफल प्रदाता है किन्तु ईश्वर के साथ जुड़ कर पवित्र प्रेरणा के आधार पर कर्म करने पर मनुष्य कर्म फल से ऊपर उठ जाता है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व से मुक्त हो जाता है। कर्त्ता-भोक्ता होना अहंकार के कारण होता है। साधक अहंकार के विलय द्वारा ईश्वर से जुड़ जाता है। जप, ध्यान, भक्ति, प्रार्थना, योग, निष्काम कर्म आदि के द्वारा आत्म विकास करना, अपने समग्र व्यक्तित्व का विकास करना, मानो अपनी गहरी मांगों को पूरा करना है। भौतिक ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति और सभ्यता में साधारण बुद्धि विलास प्रकट हो रहा है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में घुस कर आत्मा के अद्भुत चमत्कार देखे जा सकते हैं।

ईश्वर सत् है, चित् (चैतन्यस्वरूप) है, आनन्द है और मानव का वास्तविक एवं अन्तःस्थ 'अहम्' (आत्मा) उसी सच्चिदानन्द का अंश है। दुःख एक मिथ्या कल्पना है। जगत् प्रभु का रंगमंच है तथा जो कुछ घटित हो रहा है वह उसकी लीला है। अतएव सुख-दुःख कहां है? सर्वत्र परमानन्द सिन्धु हिलोर ले रहा है। माया ब्रह्म की शक्ति है तथा ज्ञान के प्रकाश द्वारा अविद्या का नाश हो जाता है, माया का नहीं। ब्रह्मानुभूति होने पर अपने ही भीतर स्थित सहज अवस्था का प्राप्त होना भक्ति है। ब्रह्म रसात्मक है, काल सापेक्षता एवं गतिशीलता से परे है। (ब्रह्म को भावनाग्राह्य मानने से साहित्य एवं ललितकलाओं में समृद्धि हुई है तथा भक्ति द्वारा भीतर ही ईश्वर का साक्षात्कार संभव हुआ है)। मानव मूलतः स्वयं ही सहज आनन्दस्वरूप है। पूर्णता की ओर विकासमय प्रगति होने में ही जीवन की सार्थकता है। छान्दोग्य उपनिषद् कहता है—'यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।' ७।२३।१।

अर्थात् जो महान् है, व्यापक है, उदार है, उसी में सुख है। अल्प में, संकीर्णता में, स्वार्थ में, घृणा में सुख नहीं है। विस्तार करने पर ही सुख बढ़ता है। महान् में, व्यापक में, उदार में, प्रेम में ही सुख है। 'प्रेम हरि को रूप है ज्यों हरि प्रेम स्वरूप, एक होई द्वै यों लसैं ज्यो सूरज अरु धूप।' फैलना, विकास होना ही जीवन है। सिकुड़ना, पीछे हटना ही मृत्यु है। जीवन का उद्देश्य भोग अथवा प्रतिष्ठा प्राप्ति नहीं है, निरन्तर विकास अथवा पूर्णता का प्रयत्न करना एवं आदर्शों के अनुरूप प्रगति करना तथा अपने सहज स्वरूप में प्रतिष्ठित होना

है। व्यक्तित्व के विकास के फलस्वरूप सुख आनुषंगिक रूप से स्वयं सुलभ हो जाता है। सुख परछाईं की भांति हमारे पीछे-पीछे आता है तथा उसके पीछे चलने से परछाईं की भांति ही वह हम से भागता है। अशांतिमय एवं अनित्य जीवन से ऊपर उठ कर शांतिमय एवं नित्य जीवन (दिव्यता) प्राप्त करना परम पुरुषार्थ है। जीवन की सफलता विपुल मान प्रतिष्ठा, धन संचय, सत्ता प्राप्ति, विद्योपार्जन में नहीं है बल्कि सहजभाव से जीवमात्र को सुख देते हुए प्रभु की ओर उन्मुख होने में है। हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर, असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ने का आदेश है। असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमो अद्वैततत्वाय मुक्तिप्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ।।

(शंकराचार्य)

अष्टादशनिबन्धेषु शिवानन्देन दर्शितम्।
जीवनं सुखबोधाय, सुखमेव हि जीवनम् ।।

(शिवानन्द)

अखिलेशो हि सिद्धेशः मधुरेशः सदाशिवः।
शिवानन्दस्य सिद्ध्यर्थं मुरारिः पूज्य एव हि ।।

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

इस पुस्तक के अन्तर्गत संकलित लेखों का व्यापक प्रकाशन कहां हो चुका है ?

लेख — पत्रिका

मानसिक तनाव से मुक्ति––कुछ व्यावहारिक तथ्य––पीयूषवाणी आदि विविध पत्रिकाओं में ।

ध्यानदीप––जीवन दर्शन, पीयूषवाणी ।

सुख की चाह और उसकी सच्ची राह––कल्याण, सूरवाणी ।

जीवनयात्रा की परम साधना––कल्याण ।

राम की विनयशीलता––कल्याण, हिन्दू विश्व, जीवन दर्शन ।

राम की संघर्षशीलता––जीवन दर्शन, हिन्दू विश्व ।

जटायु का अमर बलिदान––जीवन साहित्य, जीवन दर्शन, हिन्दू विश्व, नवनीत ।

धर्मयुद्ध––कल्याण, जीवन दर्शन ।

मानव और मानवता––जीवन साहित्य, पीयूषवाणी ।

अमर ज्योति––महात्मा गाँधी––जीवन साहित्य ।

अनूठा बदला––कल्याण ।

स्वास्थ्य प्राप्ति के सात्विक उपाय––कल्याण, गुरुप्रसाद ।

गुडाकेश––आज, हिन्दू विश्व, पीयूषवाणी ।

मानव में आध्यात्मिक संप्रेरण––जीवन दर्शन, हिन्दू विश्व, जीवन साहित्य ।

स्वान्तः सुखाय––जीवन साहित्य, कल्याण, हिन्दू विश्व, समीक्षा लोक ।

मृत्यु महोत्सव––कल्याण ।

व्यक्तित्व का विकास––जीवन दर्शन, हिन्दू विश्व, जीवन साहित्य, कल्याण, पीयूषवाणी ।

सृष्टि की उत्पत्ति, मानव और ईश्वर तत्त्व––जीवन साहित्य, हिन्दू विश्व ।

शुद्धिपत्र (जीवन और सुख)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३०	२३	सन्तोष	सन्तों
२५३	अन्तिम	5,000,000,000	500,000,000
२६५	१८	(प्रकृति तथा चेतन)	प्रकृति तथा चेतन
२७१ २७२	३२-३३ १-२	शुक्राणु के एक्स वाई ......जन्म होता है ।।	शुक्राणु दो प्रकार के होते हैं—आधे x तथा आधे y गुण सूत्र धारण किये हुए । सभी डिम्ब x गुण सूत्र युक्त होते हैं । यदि y गुण सूत्र युक्त शुक्राणु डिम्ब से संयोग करता है तो निषेचित डिम्ब से पुत्र का जन्म होता है तथा यदि x गुण सूत्र युक्त शुक्राणु डिम्ब से संयोग करता है तो निषेचित डिम्ब से कन्या का जन्म होता है ।

[illegible]

'जीवनी' [illegible] ने आपने 'जीवन' की [illegible] का
[illegible] है। आपने [illegible]
[illegible]
[illegible] 'कर्म' [illegible] है, आपकी [illegible]
एवं 'मोक्ष' का मार्ग प्रशस्त करती है [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] एवं शान्ति का अनुभव करेगा।

[illegible]
[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible]

[illegible]

अठारह अध्यायों में जीवन और सुख से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालने वाले इस ग्रन्थ के, देखते-ही-देखते, एक वर्ष के अन्दर, तीन संस्करण हो चुके हैं। जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, यह ग्रन्थ जीवन और सुख की समस्याओं का विवेचन प्रस्तुत करता है, सुख की चाह के मर्म का उद्घाटन करता है और उसकी सच्ची राह की ओर संकेत करता है। अस्तित्व की ये दोनों समस्याएं—जीवन और सुख—हमारी मौलिक समस्याएं हैं जो हमारे सम्मुख एक बहुत बड़े प्रश्न-चिह्न के रूप में खड़ी हैं। जीवन को सुखी बनाने में तत्पर तो सभी हैं परन्तु कुछ महात्माओं और भाग्यवानों के सिवा किसी को भी सुख के मर्म का पता नहीं। सुख मृगतृष्णा बना रह जाता है और जीवन-मरु में हम सुख की छांह को खोजते रह जाते हैं, पर अन्ततोगत्वा हाथ लगती है केवल निराशा, उपलब्ध होता है केवल दुःख, आजीवन श्रम के लिए पारितोषिक मिलता है प्रवंचना का, छल का, सदमे का। 'जीवन और सुख' इन मौलिक प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने वाला एकमात्र आधुनिक ग्रन्थ है। आधुनिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय चिन्तन एवं अध्यात्मिक तत्त्वों का यथार्थ के धरातल पर ऐसा निरूपण एवं प्रतिपादन अन्यत्र सुलभ नहीं है। इसे सरल-सुगम शैली में लिखकर विद्वान् लेखक ने मानवजाति का सचमुच अपूर्व कल्याण किया है।

चतुर्थ संस्करण :

मूल्य रु० २०.००